श्री योगीन्दुदेव आचार्य विरचित :

श्री योगसार

भाषा टीकाकार

स्व० ब्रह्मचारी सीतलप्रसाद जी

प्रकाशक :

मुसद्दीलाल जैन चेरीटेबल ट्रस्ट

२/४ दरियागंज, नई दिल्ली-२

योगसार-टीका

प्रकाशक :
मुसद्दीलाल जैन चेरीटेबल ट्रस्ट
२/४, अंसारी रोड, दरियागंज,
नई दिल्ली-२

प्रथम बार ११००

मूल्य : स्वाध्याय

मुद्रक :
गीता प्रिंटिंग एजेंसी
डी-१०५, न्यू सीलमपुर,
दिल्ली-५३

प्रकाशकीय

संसार में सर्वोच्चपद तीर्थंकर-पद है और उसकी प्राप्ति में सोलहकारण भावनाओं का भाना परम-निमित्त है। इन सोलहकारण भावनाओं में एक भावना आभीक्षण-ज्ञानोपयोग भावना है। अभीक्षण ज्ञानोपयोग का भाव निरन्तर ज्ञानाराधन करना है और वह ज्ञानाराधन जिनवाणी के पठन-पाठन-श्रवण चिन्तन और मनन से होता है। मेरी भावना ऐसी बनी कि —जिनवाणी की प्रभावना भव्य जीव को हितकारी है और इसीलिए मेरे पूज्य पिता श्री मुसद्दीलाल जी की स्मृति में स्थापित 'श्री मुसद्दीलाल जैन चैरीटेबल ट्रस्ट' का उपयोग, अन्य परमार्थिक कार्यों के अतिरिक्त, जिनवाणी-प्रकाशन में प्रमुखता से किया जाता है। इस प्रकाशन से पूर्व ट्रष्ट 'प्रमेय कमलमार्तण्ड, मोक्षमार्ग प्रकाशक, छन्दोवद्धतत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ प्रकाशित करा चुका है। हमे सन्तोष है कि स्वाध्याय प्रेमियो ने प्रकाशनों मे पूर्ण रुचि दिखाई और ग्रन्थों का सदुपयोग उचित मात्रा मे हुआ। हमने अपनी समझ से भरसक प्रयास किया और आवश्यकता और माँग के अनुसार आवश्यकता प्रकट करने वालों को बराबर ग्रन्थ भेट स्वरूप भेजे गये और अब भी यह क्रम चालू है। मैं अपना प्रयास सफल समझूगा यदि महानुभाव 'योगसार' में भी वैसी ही रुचि दिखाएंगे और इसे जीवन मे उतारेंगे।

मान्य स्व० ब्र० सीतलप्रसाद जी से कौन परिचित नहीं है? वे समाज और धर्म के लिए जिए और इन्हीं में विलीन हो गए। अपने जीवन के एक-एक क्षण को उन्होने जिन वाणी सेवा में लगाया। उन्होंने अनेकों स्वतन्त्र धार्मिक-ग्रन्थ लिखे और अनेकों की टीकाएं कीं। उनकी टीकाओं में नियमसार, समयसार, प्रवचनसार, समाधिशतक, पंचास्तिकाय, इष्टोपदेश, योगसार जैसे अनेक आध्यात्मिक ग्रन्थ और वृहत्स्वयम्भू स्तोत्र जैसे स्तोत्र-ग्रन्थ प्रमुख हैं। योगसार ग्रन्थ

में प्रकाशित ब्रह्मचारी जी द्वारा लिखित 'प्रशस्ति' से ब्रह्मचारी जी का परिचय स्पष्ट हो जाता है। ऐसे परोपकारी, धर्मात्माओं का जितना स्मरण किया जाय थोड़ा है, उन्हें नमन।

प्रस्तुत प्रकाशन में वीर सेवा मन्दिर के विद्वान् श्री पद्मचन्द्र शास्त्री व कलकत्ता वाले श्री बाबूलाल जैन ने प्रूफ निरीक्षण और शुद्धि-पत्र आदि के कार्य में सहयोग किया है, जिसके लिए ट्रस्ट उनका आभारी है। गीता प्रिंटिंग एजेंसी के मालिक श्री पं० सत्यनारायण शुक्ल ने सुव्यवस्थित ढंग से छपाने का कार्य सम्पन्न किया उन्हें भी धन्यवाद।

ग्रन्थ के अन्त में शुद्धिपत्र दिया गया है, स्वाध्यायी उसका उपयोग करें। अशुद्धि रहने का विशेष कारण यह है कि जो ग्रंथ हमें कम्पोजिंग के लिए मिला, वह छपाई की दृष्टि से पर्याप्त अशुद्ध था। अत: गल्ती रह जाना स्वाभाविक था। पाठक संशोधन कर पढ़ें।

धन्यवाद !

शान्तिलाल जैन

अध्यक्ष,

मुसद्दीलाल जैन चैरीटेबल ट्रस्ट

२/४ संसारी रोड, दरियागंज,

नई दिल्ली-२

महावीर जयन्ती

सन् १९८७

प्रस्तावना

तेरा साईं तुझ में, जागि सकै तो जाग

सम्यक्-दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः—यह उमा स्वामि आचार्य का सूत्र है। टीकाकार आचार्यों ने कहा है कि भगवान उमा स्वामि ने इस सूत्र के द्वारा द्वादशांग का वर्णन कर दिया जो कुछ कहना था सब कह दिया। तब प्रश्न किया कि फिर दस अध्याय की रचना क्यों की? उसका उत्तर दिया है कि वह सब इसी का विस्तार है। मन्द बुद्धि शिष्य को समझाने के लिए इसी सूत्र का विस्तार किया गया है। ऐसा ही भगवान अकलंक स्वामी ने कहा है कि मोक्ष मार्ग तो बस इतना ही है बाकी जो कथन है वह इसी की पुष्टि या साधनपने की दृष्टि से किया गया है। मोक्षमार्ग का कथन आचार्यों ने दो दृष्टियों से किया है-- एक निश्चय दृष्टि से एक व्यवहार दृष्टि से। वहाँ मोक्षमार्ग दो प्रकार का नहीं है परन्तु मोक्षमार्ग का कथन दो प्रकार से किया है। मोक्षमार्ग तो एक ही है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र का कथन भी दो प्रकार से किया है वहां पर भी यही समझना है कि यह दो-दो प्रकार के नहीं हैं इनका कथन दो-दो प्रकार से किया गया है। वहां जो निश्चय रूप कथन है वह तो वैसा ही है—सत्यार्थ है भूतार्थ है व्यवहारदृष्टि से जो कथन है वह निमित्तादिक की अपेक्षा से उपचार करके कथन किया गया है वहां जिसका जिसमें उपचार है उस उपचार को तो मिथ्या समझना और जिसमें उपचार किया गया है उसको सही समझना। यही जिन शासन को समझने का रहस्य है।

निश्चय से द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म से रहित अपनी चैतन्य आत्मा को अपने रूप अनुभव करना सो सम्यग्दर्शन, अपने को अपने रूप जानना सो सम्यग्ज्ञान और अपने चैतन्य स्वभाव रूप रह जाना अथवा आप-अपने में लीन हो जाना सो सम्यक्चारित्र है। इस-लिए इन तीनों की एकता होना यही मोक्ष मार्ग है। जहां इन तीनों

की पूर्णता हो जाती है वहां मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है ऐसा नियम है। जो मोक्ष मार्ग तो है नहीं परन्तु ऊपर कहे मोक्ष मार्ग का साधन है उसको मोक्ष मार्ग कहना सो व्यवहार मोक्षमार्ग है। इसी प्रकार जो सम्यग्दर्शन तो है नहीं परन्तु सम्यग्दर्शन प्राप्ति का निमित्त है अथवा माध्यम है उसको सम्यग्दर्शन कहना सो व्यवहार सम्यग्दर्शन है वैसे ही सच्चे देव, शास्त्र, गुरु की प्रतीति करना, सात तत्वों की प्रतीति करना। सम्यग्ज्ञान के लिए शास्त्रों का अध्ययन करना और सम्यक्-चारित्र के लिए अणुव्रत महाव्रत का धारना, परीषह सहना तपश्चरण करना, अठाईस मूलगुणों का पालना आदि—मोक्षमार्ग नही है, मोक्ष मार्ग का माध्यम है मोक्ष मार्ग तो अपने आत्मस्वभाव को पर से भिन्न श्रद्धान कर, ज्ञानकर उसी में लीन हो जाना है। उसके बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। परन्तु ऊपर में जो कहा वह व्यवहार मार्ग अपने आत्म स्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान आचरण रूप मोक्ष मार्ग का माध्यम है, साधन है, निमित्त है। इसलिए जो इन्ही को मोक्ष मार्ग मान लेगा वह असली मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ नही कर सकेगा और उसके अभाव मे स्वर्गादि के सताप को ही प्राप्त करेगा और बंध की परम्परा को भोगेगा।

इस योगसार ग्रन्थ में योगीन्द्र देव आचार्य ने व्यवहार दृष्टि से बताए मोक्ष मार्ग को ही जिन्होने निश्चय मोक्षमार्ग मान लिया उनको असली मोक्षमार्ग मे लगाने का उपदेश दिया है और व्यवहार मोक्ष-मार्ग को हेय बताया है। उपदेश तो ऊँचे चढ़ने को दिया जाता है। जो लोग परमार्थ प्राप्ति का उपाय तो करते नही और व्यवहार मार्ग को बध मार्ग मानकर ससार शरीरभोगों में लगेंगे वे अपना बुरा करेंगे। ग्रन्थकार-टीकाकार का कोई दोष है नही।

अब सवाल उठता है कि केवल निश्चय दृष्टि का ही उपदेश देना था व्यवहार दृष्टि का उपदेश क्यों दिया ? उसका उत्तर है कि जो परमार्थ को नही प्राप्त कर सकते थे अथवा नही जान पा रहे थे उनको परमार्थ का ज्ञान कराने को, परमार्थ को प्राप्त कराने को, मोक्षमार्ग का बाहरी साधन समझ कर व्यवहार दृष्टि का उपदेश

दिया है। जैसे कोई आदमी है। वह पानी खोज रहा था। दूसरा आदमी उँगली के ईशारे से पानी का तालाब दिखावे और वह इशारे को समझ कर जिसको इशारा दिखा रहा है उसको देखकर अपनी प्यास बुझावे तब वह इशारा प्रयोजनभूत है। परन्तु अगर वह इशारे को पकड कर बैठ जावे और उसी से अपना भला मान ले तो प्यास नहीं बुझ सकती। इसी प्रकार व्यवहार यानी—सच्चे देव, शास्त्र, गुरु तो इशारा हैं वे आत्म स्वभाव में लीनता को या वीतरागता को दिखा रहे हैं उसको माध्यम बनाकर उस वीतरागता को देखें तो वें हमारे व्यवहार साधन हैं और वीतरागता—आत्मरमणता को नहीं देखे उन्हीं में लगने को मोक्षमार्ग माने तो बंध ही हो। सच्चा देव, शास्त्र, गुरू ही आत्मरमणता को दिखाने का सही इशारा है अन्य तो सही इशारा भी नहीं है। जब हम इशारे से जिसको दिखाया जाता है उसको देखते है तब यह कहा जाता है कि इशारे ने दिखा दिया या इशारे से दिख गया असल में इशारे को निजस्वभाव देखने का माध्यम हमने बनाया, निजस्वभाव देखा हमने। यह भी तभी हो सकता है कि पहले हमारा लक्ष्य निज स्वरूप को देखने का हो अन्य कोई लक्ष्य—मान, बडाई, पुण्य, बंध, अगले जन्म की चाह अथवा षट् आवश्यक की पूर्ति मात्र है अथवा जाति संस्कार है तो निज स्वरूप को देखने का पुरुषार्थ नहीं हो सकता और माध्यम भी नहीं बन सकता।

इस संसार रूपी रोग को मेटने की दवाई तो अपने स्वभाव में रमण करना ही है और कोई दवाई नहीं हो सकती परन्तु उस दवाई को किसके साथ लेनी है यह व्यवहार है। कोई आदमी वैद्य के पास गया उसके बुखार था। वैद्य ने दवाई दी और कहा कि मिश्री की चासनी से लेना। उसने कहा मेरे शुगर की बीमारी है। वैद्य ने कहा दूध से ले लेना उसने कहा मोशन (पतले दस्त) हो जाते हैं। वैद्य ने कहा पानी से ले लेना परन्तु दवाई यही लेनी है। परन्तु हमने दवाई तो ली नही खाली दूध पी गए और चाहते हैं कि रोग दूर हो जावे तो नहीं होगा। इसी प्र ार श्री गुरू ने, सच्चे देव, शास्त्र, गुरु के माध्यम से, पूजा, पाठ, शास्त्र स्वाध्याय, व्रत, तप, शील, संयमादि के द्वारा निज

रमणता करने को कहा सो आत्मरमणता तो की नहीं उन्हीं में लगे रह गए तब कर्म रूप रोग का नाश कैसे हो ? ऐसी निश्चय व्यवहार की सन्धि है। इस व्यवहार को माध्यम बनाकर परमार्थ को देखे तो वह व्यवहार कहलावे और परमार्थ को नहीं देखे उससे अन्य प्रयोजन सिद्ध करना चाहे तो वह व्यवहार तो जो प्रयोजन सिद्ध करना चाहे उसका कहलावे मोक्ष का व्यवहार कैसे कहलावे। माध्यम तो बनावे मान का, पुण्य का और मोक्ष का व्यवहार कहें तो ऐसी अनीति तो मंद कषायी करे नही। सबसे बड़ा पाप तो यही है कि जो मोक्ष के माध्यम थे उनको संसार-शरीर-भोग का, पुण्य बंध का मान का माध्यम बनाया।

सच्चे देव, शास्त्र, गुरू की पूजा आदि सभी करते है परन्तु एक तो अपने आत्मस्वरूप के ज्ञान श्रद्धान आचरण का माध्यम बनाना चाहते हैं और दूसरा लौकिक प्रयोजन के लिए लगे हैं। इसलिये सबसे पहले हमें यह निश्चित करना चाहिए कि बिना आत्म स्वभाव को जाने, माने और उसमें ठहरे बिना मोक्ष मार्ग नही होगा इसके अलावा अन्य कोई प्रयोजन रखे सम्यक्दर्शन के सम्मुख भी न हो।

बनारस में अनेक घाट हैं। घाट उसे ही कहते हैं जहाँ से गोता लगाया जा सके। किसी ने घाट पर जाने को कहा वहां प्रयोजन तो गोत्ता लगाने का था। घाट पर तो जावे और गोत्ता नहीं लगावे घाट की सुन्दरता में ही रुक जावे अथवा घाट पर आने जाने वालों को देखे तो गंगा स्नान नही होगा। जितना ऊँचा घाट हो उतना ही गहरा गोत्ता लगाता है। इसी प्रकार महाव्रत रूपी घाट से गोत्ता निजस्वभाव में लगावे तो अत्यन्त गहराई में पहुंच जावें इसी प्रकार जितना आचार्यों ने व्यवहार धर्म का बर्णन किया वह तो वहां से अपने स्वभाव में गोत्ता लगाने को बताया है। अगर गोत्ता लगावे तो वे साधन कहलाते हैं। गोत्ता न लगावे, लगाने का उपाय न करें तो मात्र कुछ पुण्य का बंध हो जाता है मोक्षमार्ग का माध्यम नही होता। ऐसा जानकर हमें अपनी श्रद्धा ठीक करनी चाहिए। यह तो शुभराग है उससे पुण्य बंध होगा परन्तु हम इनको मोक्ष मार्ग का माध्यम बनाना चाहें तो बना

सकते हैं यह हमारे पर निर्भर है जो लोग इन्हीं को मोक्षमार्ग मान लेते हैं वे व्यवहाराभासी रह जाते हैं।

सच्चे देव शास्त्र गुरु से पंच परमेष्ठी और चौबीस तीर्थंकरों से भी निज आत्मस्वभाव सबसे श्रेष्ठ व उपादेय है क्योंकि पंच परमेष्ठी भी इसी में ठहर कर अपने पद को प्राप्त हुए हैं। उन्होंने भी यही कहा है कि हम अपने स्वभाव का आनन्द ले रहे हैं तुम भी अपने स्वभाव में लग जावो तो हमारा जैसा आनन्द तुम भी प्राप्त कर सकते हो। पंचपरमेष्ठी व चौबीस तीर्थंकरों में लगने का फल उनके गुणगान करने का फल पुण्य बंध है जबकि निज स्वभाव में लगने का फल संवर निर्जरापूर्वक मोक्ष-प्राप्ति है। इससे भी साबित होता है कि निज स्वभाव सर्वश्रेष्ठ है और वही उपादेय है। जैसा कहा भी है—

तदेकं परमं ज्ञानं तदेकं शुचि दर्शनम्
चारित्रं च तदेकं स्यात् तदेकं निर्मलं तपः
नमस्यं च तदेवैकं तदेवैकं च मंगलम्
उत्तमं च तदेवैकं तदेव शरणं सताम्
आचारश्च तदेवैकं तदेवावश्यकी क्रिया
स्वाध्यायस्तु तदेवैकमप्रमत्तस्य योगिनः

वही एक (चैतन्य ज्योति) परम ज्ञान है, वही एक पवित्र दर्शन है, वही एक चारित्र है तथा वही एक निर्मल तप है।

सत्पुरुषों को वही एक नमस्कार योग्य है, वही एक मंगल है, वही एक उत्तम है तथा वही एक शरण है।

अप्रमत्त योगी को वही एक आचार है, वही एक आवश्यक क्रिया है तथा वही एक स्वाध्याय है।

पंच परमेष्ठी तो हमें हमारे निज स्वभाव की खबर देने वाले हैं। वे निज स्वभाव में लगे हैं और हमें निज स्वभाव की खबर बताने वाले हैं कि यह तेरा निज स्वभाव है तू उसमें लग कर अनन्त सुख को प्राप्त कर ले। इसलिए सम्यक्दृष्टि के भीतर उनके प्रति अत्यन्त कृतज्ञता का भाव रहता है। वह विचार करता है कि अगर निज स्वभाव की खबर मुझको नहीं मिलती तो मैं कैसे

उसको प्राप्त करता और उसकी प्राप्ति बिना मेरा संसार भ्रमण कैसे मिट सकता है। इसलिये उनके प्रति सच्ची भक्ति ज्ञानी के होती है यह व्यवहार है आत्मस्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान-आचरण यही सच्चा मोक्ष-मार्ग है जो चौथे गुणस्थान में आत्म अनुभव से चालू होता है और चौदहवें गुणस्थान में पूर्ण होता है। कार्य तो इतना ही है बाकी जो कुछ जिनवाणी में कथन है वह इसी की साधनपने की दृष्टि से किया गया है। गुणस्थान के अनुसार व्यवहार चालू रहता है। अमृतचद्र स्वामि ने प्रवचनसार के चरणानुयोग अधिकार के शुरू में लिखा है कि हे पंचमहाव्रत, हे पंच समिति मैं जानता हूं कि तुम शुद्ध आत्मा के नही हो परन्तु मैं तब तक के लिये तुझे धारण करता हूं जब तक तेरे प्रसाद से निज स्वभाव में रमण नहीं कर जाऊँ आदि। इस कथन में उन्होंने साधनपना भी मंजूर किया है और बध का कारण भी मंजूर किया है ऐसा ही श्रद्धान करना चाहिए। यही बात इस ग्रन्थ में ब्र० श्री सीतल-प्रसाद जी ने विस्तार सहित टीका और भावार्थ के द्वारा दिखाई है।

भाई शान्तिलाल जी अपने चेरीटेबल ट्रस्ट से इस ग्रन्थ को छपवा रहे हैं। जिनवाणी का प्रचार करना, उसकी प्राप्ति सुलभ करना यह बहुत जरूरी है। धन का सदुपयोग इससे ज्यादा उत्तम अन्य नही है। टोडरमल जी ने हजारों की संख्या में अनेक ग्रन्थो को लिखवा कर जगह-जगह शास्त्र-भण्डारों में बिराजमान किये। उस समय मे ग्रन्थों को लिखवाना साधारण काम नही था अब तो छपने लग गये है। इसलिये जो ग्रन्थ उपलब्ध नही है, अभी तक नहीं छपे है उनको खोज-खोज कर, छपवा कर, गांव-गाव में जहां-जहां जैन मंदिर जी हों वहां पर—पांच-पांच प्रति विराजमान कराना चाहिए। जिससे आने वाले काल में लोग जिनवाणी का अध्ययन करें इसी में कल्याण है। मैं भाई शान्तिलाल जी के इस प्रयास की सराहना करता हूं।

यह ग्रन्थ आचार्य योगीन्द्र देव ने रचा है। आचार्य योगीन्द्र देव ने परमात्म प्रकाश जैसा अध्यात्म का ग्रन्थ बनाया जो बहुत ही सरल है और साधारण व्यक्तियों के भो समझ में आ सकता है। इस

योगसार ग्रन्थ की हिन्दी टीका श्री सीतलप्रसाद जी ने की है। जिन्होंने बहुत से ग्रन्थों की टीका की है। समयसारादिक ग्रन्थों की भी हिन्दी टीका ब्रह्मचारी जी ने की है। इस ग्रन्थ की टीका में जहां आत्म-अनुभव की प्रधानता जगह्-जगह् बताई है वहां करणानुयोग-चरणानुयोग का विषय भी जगह्-जगह् जहां प्रकरण मिला वर्णन किया है। गुणस्थान, मार्गणास्थान, जीव समास, लेश्या, आठों कर्मों के भेद-प्रभेद आदि का वर्णन किया है। श्रावक के व्रत, मुनि के अट्ठाइस मूल गुण, बारह प्रकार का तप संयम ध्यान आदि चरणानुयोग का भी वर्णन किया है। इस प्रकार इस ग्रन्थ की टीका सहित स्वाध्याय करने वाला चारों अनुयोगों की जानकारी कर सकता है। इस कारण से यह टीका बहुत ही उपयोगी सिद्ध होती है। इसलिये सबको इसकी स्वाध्याय करके अपने निज स्वरूप को जानकर उसमें डुबकी लगाना चाहिए किनारे खड़े रहने से स्वरूप का आनन्द प्राप्त नहीं होता।

सन्मति विहार
२/१० अन्सारी रोड
नई दिल्ली-२

बाबूलाल जैन

योगसार के भाषा टीकाकार :

जैन धर्म भूषण, धर्म दिवाकर पू० ब्र० सीतल प्रसाद जी
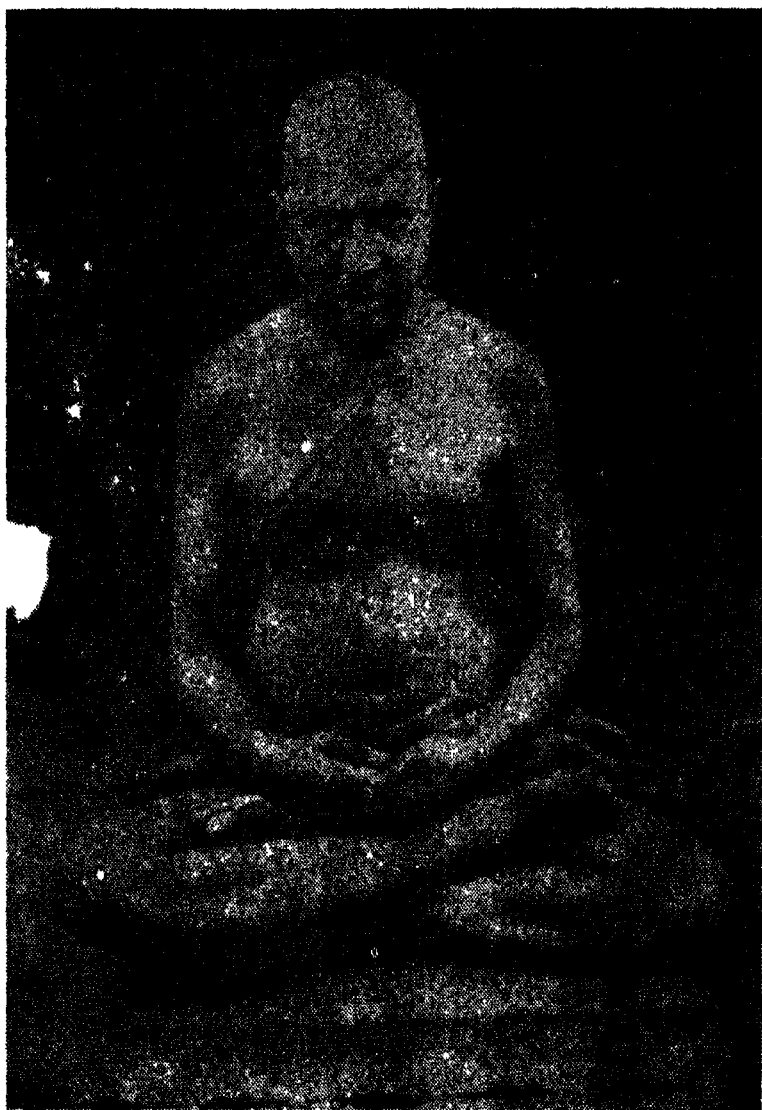
जन्म : सन् १८७९
लखनऊ

स्वर्गारोहण : १० फरवरी १९४२
लखनऊ

श्री योगीन्द्रचन्द्राचार्य कृत

योगसार टीका

दोहा

ज्ञान दर्श सुख वीर्यमय, परमातम सशरीर।
अर्हत् वक्ता आप्त नमि, पहुंचू भवदधि तीर ॥१॥
सिद्ध शुद्ध अशरीर प्रभु, वीतराग विज्ञान।
नित्य मगन निज रूपमें, बंदहुं सुख की खान ॥२॥
आचारज मुनिराजवर, दीक्षा शिक्षा देत।
शिव-मग नेता शांतिमय, वंदहुं भाव समेत ॥३॥
श्रुतधर गणधर धर्मधर, उपाध्याय हृत भार।
ज्ञान दान कर्तार मुनि, नमहुं समामृत धार ॥४॥
साधत निज आतम सदा, लीन ध्यान में धीर।
साधु अमङ्गल दूर कर, हरहु सकल भव पीर ॥५॥
जिनवाणी सुख दायनी, सार तत्त्व की खान।
पढ़त धारणा करत ही, होय पाप की हान ॥६॥
योगिचन्द्र मुनिराज कृत, योगसार सत् ग्रन्थ।
भाषा में टीका लिखूं, चलूं स्वानुभव पन्थ ॥७॥

(ब्र० सीतल, ता० १३-२-३६)

—⁂—
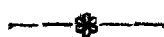
सिद्धों को नमस्कार

णिम्मलझाणपरिट्ठिया कम्मकलंक डहेवि ।
अप्पा लद्धउ जेण परु ते परमप्प णवेवि ॥१॥

दोहा—निर्मल ध्यान लगाय के, कर्म कलंक जलाय ।
भये सिद्ध परमात्मा, बन्दों मन वच काय ॥१॥

अन्वयार्थ—(**जेण**) जिन्होंने (**णिम्मलझाणपरिट्ठिया**) शुद्ध ध्यान में स्थित होते हुए (**कम्मकलंक डहेवि**) कर्मों के मल को जला डाला है (**परु अप्पा लद्धउ**) तथा उत्कृष्ट परमात्मा पद को पा लिया है (**ते परमप्प णवेवि**) उन सिद्ध परमात्माओं को नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ—यहां ग्रन्थकर्त्ता ने मङ्गलाचरण करते हुए सर्व सिद्धों को नमस्कार किया है। सिद्ध पद शुद्ध आत्मा का पद है। जहाँ आत्मा अपने ही निज स्वभाव मे सदा मगन रहता है। आत्मा शुद्ध आकाश के समान निर्मल रहता है। आत्मा द्रव्य गुणो का अभेद समूह है। सर्व ही गुण वहाँ पूर्ण प्रकाशित रहते हैं। सिद्ध भगवान् पूर्ण ज्ञानी हैं, परम वीतराग है, अतीन्द्रिय सुख के सागर है, अनन्त वीर्यधारी हैं, जड सग रहित अमूर्तीक है, सर्व कर्म मल रहित निर्मल हैं। अपनी ही स्वाभाविक परिणति के कर्ता है, परमानन्द के भोक्ता है, परम कृत-कृत्य है। सर्व इच्छाओं से शून्य है, पुरुषाकार हैं। जिस शरीर से शुद्ध हुए हैं उस शरीर में जैसा आत्मा का आकार था वैसा ही आकार बिना संकोच विस्तार के सिद्ध पद में रहता है, प्रदेशों की माप से असंख्यात प्रदेशी हैं। सिद्ध को ही परमेश्वर, शिव, परमात्मा, परम-देव कहते हैं। वे एकाकी आत्मा रूप हैं, जैसा मूल में आत्म द्रव्य है वैसा ही सिद्ध स्वरूप है। सिद्ध परमात्मा अनेक हैं। जो संसारी आत्मा शुद्ध आत्मा का अनुभव पूर्वक ध्यान करता है, मुनिपद में अन्तर बाहर निर्ग्रंथ होकर पहले धर्मध्यान फिर शुक्ल ध्यान को ध्याता है। इस शुक्ल ध्यान के प्रताप से पहले अरहंत होता है, फिर

सर्व कर्म मल जलाकर सिद्ध होता है। ऊर्ध्व गमन स्वभाव से लोक के अग्र में जाकर सिद्ध आत्मा ठहरता है। धर्म द्रव्य के बिना अलो-काकाश में गमन नहीं होता है। सर्व ही सिद्ध उस सिद्ध क्षेत्र में अपनी-अपनी सत्ता को भिन्न-भिन्न रखते हैं। सर्व ही अपने-अपने आनन्द में मगन हैं। वे पूर्ण वीतराग हैं। इससे फिर कभी कर्मबंध से बँधते नहीं। इसीलिए फिर संसार अवस्था में कभी आते नहीं। वे सर्व संसार के क्लेशों से मुक्त रहते हैं। वे ही निर्वाण प्राप्त हैं। सिद्धों के समान जो कोई मुमुक्षु अपने आत्मा को निश्चय से शुद्ध आत्म द्रव्य मान कर व राग-द्वेष त्याग कर उसी निज स्वरूप में मगन हो जाता है वही एक दिन शुद्ध हो जाता है।

ग्रन्थकर्ता ने सिद्धों को सबसे पहले इसीलिए नमस्कार किया है कि भावों में सिद्ध समान आत्मा का बल आ जावे। परिणाम शुद्ध व वीतराग हो जावे। शुद्धोपयोग मिश्रित शुभ भाव हो जावे, जिससे विघ्नकारक कर्मों का नाश हो व सहायकारी पुण्य का बन्ध हो। मङ्गल उसे ही कहते हैं जिससे पाप गले व पुण्य का लाभ हो। मङ्गला-चरण करने से शुद्ध आत्मा की विनय होती है। उद्धतता का व मान का त्याग होता है। परिणाम कोमल होते हैं। शांति व सुख का झल-काव होता है।

यह अध्यात्मीक ग्रन्थ है—आत्मा का साक्षात् सामने दिखाने वाला है। शरीर के भीतर बैठे हुए परमात्मदेव का दर्शन कराने वाला है। इसलिए ग्रन्थकर्ता ने सिद्धों को ही पहले स्मरण किया है। इससे झलकाया है कि सिद्ध पद को पाने का ही उद्देश है। ग्रन्थ लिखने से और किसी फल की वांछा नहीं है। सिद्ध पद का लक्ष्य ही सिद्ध पद पर पहुंचा देता है।

परम योगी—श्री कुन्दकुन्दाचार्यजी ने भी **समयसार** ग्रन्थ की आदि में सिद्धों को ही नमस्कार किया है। वे कहते है—

वंदित्तु सव्व सिद्धे धुवमचलमणोवमं गदिं पत्ते।
वोच्छामि समय पाहुड मिणमो सुदकेवली भणिदं ॥१॥

भावार्थ—नित्य, शुद्ध, अनुपम सिद्ध गति को प्राप्त, सर्व सिद्धों को नमन करके मैं श्रुतकेवली कथित समय प्राभृत को कहूँगा ।

योगीन्द्राचार्य ने **परमात्मप्रकाश** ग्रन्थ को प्रारम्भ करते हुए इसी तरह पहले सिद्धों को ही नमन किया है ।

जे जाया झाणग्गियए कम्मकलंक डहेवि ।
णिच्च णिरंजण णाणमय ते परमप्प णवेवि ॥१॥

भावार्थ—जो ध्यानरूपी आग से कर्म-कलंक को जलाकर नित्य, निरंजन, तथा ज्ञानमय हो गये हैं, उन सिद्ध परमात्माओं को नमन करता हूँ ।

श्री पूज्यपाद स्वामी ने भी **समाधिशतक** को प्रारम्भ करते हुए पहले सिद्ध महाराज को ही नमन किया है ।

येनात्मा बुध्यात्मैव परत्वेनैव चापरम् ।
अक्षयानन्तबोधाय तस्मै सिद्धात्मने नम. ॥१॥

भावार्थ—जिसने अपने आत्मा को आत्मा रूप व परपदार्थ को पररूप जाना है तथा इस भेद विज्ञान से अक्षय व अनन्त केवल ज्ञान का लाभ किया है, उस सिद्ध परमात्मा को नमस्कार हो ।

श्री देवसेनाचार्य ने भी **तत्वसार** को प्रारम्भ करते हुए सिद्धों को ही नमस्कार किया है ।

झाणग्गिदड्ढकम्मे णिम्मलविशुद्धलद्धसब्भावे ।
णमिऊण परमसिद्धे सु तच्चसार पवोच्छामि ॥१॥

भावार्थ—ध्यान की आग से कर्मो को जलाने वाले व निर्मल शुद्ध निज स्वभाव को प्राप्त करने वाले सिद्ध परमात्माओं को नमन करके तत्वसार को कहूँगा ।

पूज्यपाद स्वामी ने **इष्टोपदेश** ग्रथ के आदि में ऐसा ही किया है-

यस्य स्वयं स्वभावाप्तिरभावे कृत्स्नकर्मण: ।
तस्मै संज्ञानरूपाय नमोऽस्तु परमात्मने ॥१॥

भावार्थ—सर्व कर्मों को क्षय करके जिसने स्वय अपने स्वभाव का प्रकाश किया है, उस सम्यग्ज्ञान स्वरूप सिद्ध परमात्मा को नमन

हो। नमस्कार के दो भेद हैं—भाव नमस्कार, द्रव्य नमस्कार। जिसको नमस्कार किया जावे उसके गुणों को भावों में प्रेम से धारण करना भाव नमस्कार है। वचनों से व काय से उस भीतरी भाव का प्रकाश करना द्रव्य नमस्कार है। भाव सहित द्रव्य नमस्कार कार्यकारी है।

——※——
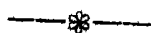
अरहंत भगवान् को नमस्कार

घाइचउक्कह किउ विलउ अणंतचउक्कपविट्ठु।
तहिं जिणइंदहं पय णविवि अक्खमि कव्वु सुइट्ठु ॥२॥

चार घातिया घाति विधि, लिये अनंत चतुष्टय।
तिन जिनवर को प्रणमि के, करों काव्य कुछसृष्ट ॥२॥

अन्वयार्थ—(**घाइचउक्कहं विलउ किउ**) जिसने चार घातीय कर्मों का क्षय किया है (**अणंतचउक्कपविट्ठु**) तथा अनन्तचतुष्टय का लाभ किया है (**तहिं जिणइंदहं पय**) उस जिनेन्द्र के पदों को (**णविवि**) नमस्कार करके (**सुइट्ठु कव्वु**) सुन्दर प्रिय काव्य को (**अक्खमि**) कहता हूँ।

भावार्थ—अरहत पदधारी तेरहवें गुणस्थान में प्राप्त सयोग व अयोग केवली जिनेद्र होते है। जब यह अज्ञानी जीव तत्वज्ञान का मनन करके मिथ्यात्व कर्म को व सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्त्व प्रकृति कर्म को अर्थात् तीनो दर्शन मोहनीय कर्मों को तथा चार अनन्तानुबन्धी कषायों को उपशम, क्षयोपशम या क्षय कर देता है, तब चौथे अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान में प्राप्त हो जिन कहलाता है। क्योंकि उसने ससार भ्रमण के कारण मिथ्यात्व को, मिथ्यात्व सहित राग-द्वेष विकार को जीत लिया है, उसका उद्देश्य पलट गया है, वह ससार से वैराग्यवान व मोक्ष का परमप्रेमी हो गया है। उसके भीतर निर्वाणपद लाभ की तीव्र रुचि पैदा हो गई है। क्षायिक सम्यक्त्वी जीव

श्रावक होकर या एकदम मुनि होकर सातवें अप्रमत्त गुणस्थान तक धर्म ध्यान का अभ्यास पूर्ण करता है। फिर क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होकर दसवें सूक्ष्मलोह गुणस्थान के अन्त में चारित्र मोहनीय का सर्व प्रकार क्षय करके बारहवें गुणस्थान मे **क्षीणमोह जिन** हो जाता है।

चौथे से बारहवे गुणस्थान तक जिन संज्ञा है, फिर बारहवें के अन्त में ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय तीन शेष घातिया कर्मों का क्षय करके अरहन्त सयोग केवली हो, तेरहवें गुणस्थान में प्राप्त होता है तब वह जिनेन्द्र कहलाते हैं। वहाँ चारो घातिया कर्मों का अभाव है। उनके अभाव से अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तदान, अनंतलाभ, अनंतभोग, अनंत उपभोग, अनतवीर्य, क्षायिक सम्यग्दर्शन, क्षायिक चारित्र ये नौ केवल लब्धियाँ तथा अनन्त सुख प्राप्त हो जाते है। इन दश को चार अनन्त चतुष्टय में गर्भित करके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य व अनन्तसुख को वहाँ प्राप्त करना कहा है। सम्यक्त्व व चारित्र को सुख में गर्भित किया है। क्योंकि उनके बिना सुख नही होता है व अनन्तदानादि चार को अनन्तवीर्य में गर्भित किया है, क्योंकि वे उसी की परिणतियाँ है। इस तरह अनन्त चतुष्टय में दशों गुण गर्भित हैं। सयोग केवली अवस्था मे अरहन्त धर्मोपदेश करते है। उनकी दिव्यवाणी का अद्‌भुत प्रकाश होता है, जिसका भाव सर्व ही उपस्थित देव, मानव व पशु समझ लेते है। सब का भाव निर्मल, आनन्दमय व सन्तोषी हो जाता है।

उसी वाणी को धारणा मे लेकर चार ज्ञानधारी गणधर मुनि आचाराग आदि द्वादश अगों है गूँथते है। उस द्वादशाग वाणी क परम्परा से अन्य आचार्य समझते है। अपनी बुद्धि के अनुसार धारणा में रखकर दिव्य वाणी के अनुसार अन्य ग्रन्थों की रचना करते हैं। उन ग्रन्थों से ही सत्य का जगत में प्रचार होता है। सिद्धों के स्वरूप का ज्ञान भी व धर्म के सर्व भेदों का ज्ञान जिनवाणी से ही होता है। जिसके मूल वक्ता अरहंत हैं। अतएव परमोपकारी समझ कर अनादिो

मूल मंत्र णमोकार मंत्र में पहले अरहंतों को नमस्कार किया है, फिर सिद्धों को नमन किया है। अरहंत पदधारी तीर्थंकर व सामान्य केवली दोनों होते हैं। तीर्थंकर नामकर्म एक विशेष पुण्यप्रकृति है। जो महात्मा दर्शनविशुद्धि आदि षोडशकारण भावनाओं को उत्तम प्रकार से ध्यान कर तीर्थंकर नामकर्म बाँधते हैं, वे ही तीर्थंकर केवली होते हैं। ऐसे तीर्थंकर परमित ही होते हैं भरत व ऐरावत क्षेत्रों में हर एक अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी काल में चौबीस-चौबीस होते हैं। विदेहों मे सदा ही होते रहते हैं। वहाँ कम से कम बीस व अधिक से अधिक एक सौ साठ होते है। भरत व ऐरावत के तीर्थंकरो के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान, निर्वाण पाँचो कल्याणक उत्सव इन्द्रादि देव करते है, क्योंकि वे पहले ही तीर्थंकर कर्म बाँधते हुए गर्भ मे आते हैं। विदेहों मे कोई-कोई महात्मा श्रावक पद में कोई-कोई साधु पद में तीर्थंकर कर्म बाँधते हैं। इसलिए वहाँ किन्ही के तप, ज्ञान, निर्वाण तीन व किन्ही के ज्ञान, निर्वाण दो कल्याणक होते हैं।

तीर्थंकरों के विशेष पुण्यकर्म का विपाक होता है, इससे **समवसरण** की विशाल रचना होती है। श्री मण्डप मे भगवान की गंधकुटी के चारों तरफ बारह सभाएँ भिन्न-भिन्न लगती हैं। उनमे कम से कम बारह प्रकार के प्राणी नियम से बैठते है।

समवसरण स्तोत्र में विष्णुसेन मुनि कहते हैं :—

ऋषिकल्पजवनितार्याज्योतिर्वनभवनयुवतिभावनजाः।
ज्योतिष्ककल्पदेवा नरतिर्यंचो वसंति तेष्वनुपूर्वम् ॥१६॥

भावार्थ—उन बारह सभाओं में क्रम से १ ऋषिगण, २ स्वर्गवासी देवी, ३ आर्जिका साध्वी, ४ ज्यतिषियों की देवी, ५ व्यंतर देवियाँ, ६ भवनवासी देवियाँ, ७ भवनवासी देव, ८ व्यंतर देव ९ ज्योतिषी देव, १० स्वर्गवासी देव, ११ मनुष्य, १२ तिर्यंच बैठते हैं। इससे सिद्ध है कि आर्यिकाओं की सभा अन्य श्राविकाओं से भिन्न होती है; उनकी मुद्रा श्वेत वस्त्र व पीछी कमण्डलु सहित निराली

होती है। साधारण सर्व स्त्री पुरुष मनुष्य कोठे में व सर्व तिर्यंचनी व तिर्यंच पशुओं में बैठते हैं।

सामान्य केवलियों के केवल गंधकुटी होती है। सर्व ही अरहंतों के अठारह दोष नहीं होते हैं व शरीर परमौदारिक सात धातु रहित स्फटिक के समान निर्मल हो जाता है, जिसकी पुष्टि योगबल से स्वयं आकर्षित विशेष आहारक वर्गणाओ से होती है। भिक्षा से ग्रास रूप भोजन करने की आवश्यकता नहीं होती है। जैसे वृक्षों की पुष्टि लेपाहार से होती है। वे जैसे मिट्टी पानी को आकर्षण करते हैं वैसे योगबल से पुष्टिकारक स्कन्ध अरहत के शरीर में प्रवेश करते हैं उनके शरीर की छाया नही पड़ती है, नख व केश नही बढ़ते हैं।

आप्त-स्वरूप में कहा है—

नष्ट छद्मस्थविज्ञानं नष्टं केशादिवर्धनम्।
नष्ट देहमल कृत्स्नं नष्टे घातिचतुष्टये ॥८॥
नष्टं मर्यादविज्ञानं नष्टं मानसगोचरम्।
नष्ट कर्ममल दुष्ट नष्टो वर्णात्मको ध्वनिः ॥९॥
नष्टा क्षुत्तृड्भयस्वेदा नष्टं प्रत्येकबोधनम्।
नष्टं भूमिगतस्पर्शं नष्ट चेन्द्रियज सुखम् ॥१०॥
नष्टा सदेहजा छाया नष्टा चेन्द्रियजा प्रभा।
नष्टा सूर्यप्रभा तत्र सूतेऽनन्तचतुष्टये ॥११॥
तदा स्फटिकसंकाशं तेजोमूर्तिमय वपुः।
जायते क्षीणदोषस्य सप्तधातुविवर्जितम् ॥१२॥
क्षुधा तृषा भयं द्वेषो रागो मोहश्च चिन्तनम्।
जरारुजा च मृत्युश्च स्वेदः खेदो मदो रति ॥१५॥
विस्मयो जननं निद्रा विषादोऽष्टादश ध्रुवाः।
त्रिजगत्सर्वभूतानां दोषाः साधारणा इमे ॥१६॥
एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तः सोऽयमाप्तो निरञ्जनः।
विद्यन्ते येषु ते नित्यं तेऽत्र संसारिणः स्मृताः ॥१७॥

भावार्थ—ज्ञानावरणादि चार घातीय कर्मों के क्षय हो जाने

पर अल्प ज्ञानी का-सा ज्ञान नहीं रहता। केश नखादि नहीं बढ़ते। शरीर का सर्व मल दूर हो जाता है। ज्ञान मर्यादा रूप नहीं होकर अमर्यादा रूप अनन्त हो जाता है। मन का संकल्प विकल्प नहीं होता है। दुष्ट कर्म मल नाश हो जाता है। अक्षरमय वाणी नहीं होती है, मेघ की गर्जना के समान निरक्षरी ध्वनि निकलती है। भूख, प्यास, भय, पसीना नहीं होता है। हर एक प्राणी को समझाने की क्रिया नहीं होती है। साधारण ध्वनि निकलती है। भूमि का स्पर्श नहीं होता है, इन्द्रियजनित सुख भी नहीं रहता है, अतीन्द्रिय स्वाधीन सुख होता है। शरीर की छाया नहीं पड़ती है। इन्द्रियों की प्रभा नहीं रहती है। आतापकारी सूर्य की भी प्रभा नही होती है। वहाँ अनन्त-चतुष्टय प्रकट होते है, तब स्फटिक के समान तेजस्वी शरीर की मूर्ति हो जाती है। सात धातुएँ नहीं रहती हैं। दोषों का क्षय हो जाता है। १. भूख, २. प्यास, ३. भय, ४. राग, ५. द्वेष, ६. मोह, ७. चिन्ता, ८. जरा, ९. रोग, १०. मरण, ११. पसीना, १२. खेद, १३. मद, १४. रति, १५. आश्चर्य, १६. जन्म, १७. निद्रा, १८. विषाद; ये अठारह दोष तीन जगत के प्राणियों मे साधारण पाये जाते हैं। जिनमें ये दोष होते है, उनको संसारी प्राणी कहते हैं। जो इन दोषों से रहित हैं, वही निरञ्जन आप्त अरहंत होता है।

समवसरण स्तोत्र में उक्तं च गाथा है—

पुव्वह्ले मज्झह्ले अवरह्ले मज्झिमाय रत्तीए।
छहछहघड़ियाणिग्गयदिवज्झुणी कहइ सुत्तत्थे ॥१॥

भावार्थ—समवसरण में श्री तीर्थंकर भगवान की दिव्य वाणी सवेरे, दोपहर, साँझ, मध्य-रात्रि इस तरह चार दफे छः छः घड़ी तक सूत्रार्थ को प्रकट करती हुई निकलती है।

तेरहवें गुणस्थान को सर्वाङ्ग इसलिए कहते हैं कि वहाँ योग-शक्ति का परिणमन होता है, जिससे कर्म नोकर्म वर्गणाओं का ग्रहण होता है, आत्मा के प्रदेश चंचल होते हैं। इस चंचलता के निमित्त

सात प्रकार के योग होते हैं—सत्य मनोयोग, अनुभय मनोयोग, सत्य वचनयोग, अनुभय वचनयोग, औदारिक काययोग; केवलि समुद्घात में ही होने वाले औदारिक मिश्र काययोग और कार्मणयोग। भाव मन का काम नही होता है, क्योंकि श्रुतज्ञान व चिन्ता व तर्क का कोई काम नहीं रहता है। मनोवर्गणा का ग्रहण होने पर द्रव्य-मन में परिणमन होता है। इसी अपेक्षा मनोयोग कहा है। वाणी खिरती है, बिहार होता है। केवली समुद्घात में लोकाकाश प्रमाण आत्मप्रदेश फैलते हैं। यह तेरहवाँ गुणस्थान आयुपर्यंत रहता है। जब इतना काल आयु मे शेष रहता है जितना काल अ, इ, उ, ऋ, लृ इन पाँच लघु अक्षरों के बोलने में लगता है, तब अयोग केवली जिन हो जाते है। अन्त के दो समय में चार अघातीय कर्मों की ८५ प्रकृतियों का क्षय करके सिद्ध व अशरीर होकर सिद्ध क्षेत्र में जाकर विराजते है। तेरहवें गुणस्थान मे १४८ कर्मप्रकृतियो में से ६३ कर्मप्रकृतियों का नाश हो चुकता है। वे ६३ है—

४७ चार घातिया की—५ ज्ञा० + ९ दर्शना० + २८ मोहा० + ५ अन्त० तथा १६ अघातिया की-नरक तिर्यंच देवायु ३ + नरकगति नरक गत्यानुपूर्वी, + तिर्यंचगति, + तिर्यंचगत्या० + एक, दो, तीन, चार इन्द्रियजाति ४ + उद्योत + आतप + साधारण + सूक्ष्म + स्थावर।

ग्रन्थकर्ता ने अपने शास्त्रज्ञान के मूल स्रोत रूप अरहंत भगवान् को परोपकारी जानकर नमस्कार किया है। अब ग्रन्थ को कहने की प्रतिज्ञा की है।

——*——

ग्रन्थ को कहने का निमित्त व प्रयोजन

संसारहं भयभीयाहं मोक्खहं लालसियाहं ।
अप्पासंबोहणकयइ कय दोहा एक्कमणाहं ॥३॥

भव दुख से डर मोक्षहित, निज सम्बोध निमित्त।
अष्टोत्तर शत रचत हों, दोहा दृढ़ कर चित्त ॥३॥

अन्वयार्थ—(**संसारहं भयभीयाहं**) संसार से भय रखने वालों के लिए व (**मोक्खहं लालसियाहं**) मोक्ष की लालसा धारण करने वालों के लिए (**अप्पासंबोहणकयइ**) आत्मा का स्वरूप समझाने के प्रयोजन से (**एक्कमणाहं**) एकाग्र मन से (**दोहा कय**) दोहों की रचना की है।

भावार्थ—जिसमें अनादिकाल से चार गतियों में संसरण या भ्रमण जीवों का हो रहा हो उसको संसार कहते हैं। चारों गतियों में क्लेश व चिन्ताएँ रहती है, शारीरिक व मानसिक दुःख जीव को कर्मों के उदय से भोगने पड़ते हैं। जन्म व मरण का महान क्लेश तो चारों ही गतियों में है। इसके सिवाय नरक में आगम के प्रमाण से तीव्र शारीरिक व मानसिक दुःख जीव को बहुत काल सहने पड़ते हैं। वहाँ दिन रात मार-धाड़ रहती है, नारकी परस्पर नाना प्रकार शरीर की अपृथग विक्रिया से पशु रूप व शस्त्रादि बना कर दुःख देते है व सहते हैं। तीसरे नरक तक संक्लेश परिणामों के धारी असुरकुमार देव भी उनको लड़ा कर क्लेश पहुंचाते हैं। वैक्रियिक शरीर होता है, पारे के समान गल कर फिर बन जाता है। तीव्र भूख-प्यास की वेदना सहनी पड़ती है। नारकी नरक के भीतर रत नही होते हैं, इसीलिए वे स्थान नरत व नरक कहलाते हैं।

तिर्यंच गति में एकेन्द्रिय स्थावर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति आदिक प्राणियों को पराधीनपने व निर्बलता से घोर कष्ट सहने पड़ते हैं। मानव पशुगण सर्व ही इनका व्यवहार करते हैं। वे

बार-बार जन्मते मरते हैं। द्वेन्द्रिय लट आदि, तेइन्द्रिय चींटी खटमल आदि, चौन्द्रिय मक्खी, पतङ्ग आदि ये तीन प्रकार विकलत्रय महान् कष्ट में जीवन बिताते हैं। मानवों व पशुओं के वर्तन से इनका बहुधा मरण होता रहता है। पंचेन्द्रिय पशु थलचर गाय भैंसादि, जलचर मच्छ कछुवादि, नभचर कबूतर मोर काकादि व सर्पादि पशु कितने कष्ट से जीवन बिताते हैं सो प्रत्यक्ष प्रकट है। मानवों के अत्याचारों से अनेक पशु मारे जाते हैं। भार वहन, गर्मी, शर्दी, भूख, प्यास के व परस्पर वैर विरोध के घोर कष्ट सहते हैं।

मानव गति में इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, रोग, दारिद्र, अपमानादि के घोर शारीरिक व मानसिक कष्ट सहने पड़ते हैं, सो सबको प्रत्यक्ष ही है। देव गति में मानसिक कष्ट अपार है। छोटे देव बड़ों की विभूति देखकर कुढ़ते हैं। देवियों की आयु थोडी होती है, देवों की बड़ी आयु होती है, इसलिए देवियों के वियोग का बडा कष्ट होता है। मरण निकट आने पर अज्ञानी देवों को भारी दुःख होता है। इस तरह चारो गतियों में दुःख ही दुःख विशेष है। ससार में सबसे बड़ा दुःख तृष्णा का है। इन्द्रियों के भोगो की लालसा, भोगों के मिलने पर भी बढ़ती ही जाती है। इस चाह की दाह से सर्व ही अज्ञानी संसारी प्राणी दिन रात जलते रहते है। जब शरीर जराग्रस्त व असमर्थ हो जाता है तब भोगों को भोगने की शक्ति नही रहती है, किन्तु तृष्णा बढ़ी हुई होती है, इच्छित भोगों के न मिलने से घोर कष्ट होता है। इष्ट पदार्थों के छूटने पर महती वेदना होती है। मिथ्या-दृष्टि ससारासक्त प्राणियों को ससार-भ्रमण में दुःख ही दुःख है। जब कभी कोई इच्छा पुण्य के उदय से तृप्त हो जाती है, तब कुछ देर सुख सा झलकता है, फिर तृष्णा का दुःख अधिक हो जाता है। संसार-भ्रमण से उदासीन, मोक्षप्रेमी सम्यग्दृष्टी जीवों को ससार में क्लेश कम होता है। क्योंकि वे तृष्णा को जीत लेते हैं। तृष्णा के तीव्र रोग से पीड़ित सर्व ही अज्ञानी प्राणियों को घोर कष्ट होता है। इसलिए

विचारवानों को अपने आत्मा पर करुणा भाव लाना चाहिए। व यह भय करना चाहिए कि हमारा आत्मा संसार के क्लेशों को न सहन करे। यह आत्मा भव-वन में न भ्रमे, भवसागर में न डूबे, जन्म जरा मरण के घोर क्लेश न सहन करे।

श्री पद्मनन्दि मुनि धम्मरसायण ग्रन्थ में कहते हैं—

उप्पण्णसमयपहुदी आमरणंतं सहंति दुक्खाइं।
अच्छिणिमीलयमेत्तं सोक्खं ण लहंति णेरइया ॥७२॥

भावार्थ—नरक गति में नारकी प्राणी उत्पत्ति के समय से लेकर मरण पर्यंत दुखों को सहन करते रहते हैं। वे विचारे आँख के टिमकार मात्र भी समय तक सुख नहीं पाते हैं।

एइंदिएसु पंचसु अणेयजोणीसु वीरियविहूणो।
भुंजंतो पावफलं चिरकालं हिंडए जीवो ॥७८॥

भावार्थ—तिर्यंच गति में एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक की अनेक योनियों में जन्म लेकर शक्तिहीन होते हुए प्राणी पाप का फल दुःख भोगते हुए चिरकाल भ्रमण करते रहते है। अनन्तकाल वनस्पति निगोद में जाता है।

बहुवेयणाउलाए तिरियगईए भमित्तु चिरकालं।
माणुसहवे वि पावइ पावस्स फलाइं दुक्खाइं ॥८०॥
धणुबंधविप्पहीणो भिक्खं भमिऊण भुंजए णिच्चं।
पुव्वकयपावकम्मो सुयणो वि ण यच्छए सोक्खं ॥८५॥

भावार्थ—चिरकाल तक तिर्यंच गति में महान् वेदनाओं से आकुलित हो भ्रमण करके मनुष्य भव मे जन्म लेकर पापके फलसे यह प्राणी दुःखों को पाता है। अनेक मानव पूर्वकृत पाप के उदय से धन-रहित, कुटुम्ब रहित होकर सदा भिक्षा से पेट भरते घूमते हैं। उसका कोई सम्बन्धी भी उनको सुख की सामग्री नहीं देता है।

छम्मासाउगसेसे विलाइ माला विणस्सए छाए।
कंपंति कप्परुक्खा होइ विरागो य भोयाणं ॥९०॥

भावार्थ—देवगति में छः मास आयु के शेष रहने पर माला मुरझा जाती है, शरीर की कांति मिट जाती है, कल्पवृक्ष कांपने लगते हैं, भोगों में उदासीनता छा जाती है।

एवं अणाइकाले जीओ संसारसायरे घोरे।
परिहिंडए अलहंतो धम्मं सव्वण्हुपण्णत्तं ॥६४॥

भावार्थ—इस तरह अनादि काल से यह जीव सर्वज्ञ भगवान् के कहे हुए धर्म को न पाकर के भयानक संसार-सागर में गोते लगाया करता है।

श्री अमितगति आचार्य **बृहत् सामयिकपाठ** में कहते हैं—

श्वभ्राणामविसह्यमतरहितं दुर्जल्पमन्योन्यजं,
दाहच्छेदविभेदनादिजनितं दुःखं तिरश्चां परं।
नृणां रोगवियोगजन्ममरण स्वर्गौकसां मानस,
विश्वं वीक्ष्य सदेति कष्टकलितं कार्या मतिर्मुक्तये ॥७६॥

भावार्थ—नारकीयों को असहनीय, परस्परकृत, अनन्त दुःख ऐसा होता है जिसका कहना कठिन है। तिर्यचो को जलने का, छिदने का, भिदने का आदि महान दुःख होता है। मानवों को रोग, वियोग, जन्म, मरण का घोर कष्ट होता है। देवों को मानसिक क्लेश रहता है। इस तरह सारे जगत् के प्राणियों को सदा ही कष्ट से पीडित देखकर बुद्धिमान को उचित है कि इस संसार से मुक्ति पाने के लिए बुद्धि स्थिर करे।

संसार में तृष्णा का महान् रोग है। बडे-बड़े सम्राट् भी इच्छित भोगों को भोगते हैं, परन्तु तृष्णा को मिटाने की अपेक्षा उसे अधिकाधिक बढ़ाते जाते हैं। शरीर के छूटने के समय तक तृष्णा अत्यन्त बढ़ी हुई होती है। यह तृष्णा दुर्गति मे जन्म करा देती।

इसीलिए स्वामी समन्तभद्राचार्य ने **स्वयंभूस्तोत्र** मे ठीक कहा है—

स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसां स्वार्थो न भोगः परिभंगुरात्मा।
तृषोऽनुषङ्गान्न च तापशांतिरितीदमाख्यद् भगवन् सुपार्श्वः ॥३१॥

भावार्थ—हे सुपार्श्वनाथ भगवान् ! आपने यही उपदेश दिया है कि प्राणियों का उत्तम हित अपने आत्मा का भोग है, जो अनन्त काल तक बना रहता है। इन्द्रियों का भोग सच्चा हित नहीं है। क्योंकि वे भोग क्षणभंगुर नाशवन्त हैं, तथा तृष्णा के रोग को बढ़ाने वाले हैं। इनको कितना भी भोगो, चाह की दाह शांत नहीं होती है।

इसलिए बुद्धिमान को इस दुःखमय संसार से उदास होकर मोक्षपद पाने की लालसा या उत्कण्ठा या भावना करनी चाहिए। मोक्षपद में सर्व सांसारिक कष्टों का अभाव है, रागद्वेष मोहादि विकारों का अभाव है, सर्व पाप पुण्य कर्मों का अभाव है; इसीलिये उसको निर्वाण कहते हैं। वहाँ सर्व पर की शून्यता है परन्तु अपने आत्मा के द्रव्य गुण पर्यायों की शून्यता नहीं है। मोक्ष में यह आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव में सदा काल प्रकाश करता है, अपनी सत्ता बनाये रखता है। संसार दशा में शरीर सहित मोक्षपद में शरीरों से रहित हो जाता है। निरन्तर स्वात्मीक आनन्द का पान करता है। जन्म मरण से रहित हो जाता है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य **पुरुषार्थसिद्धयुपाय** ग्रन्थ में कहते हैं—

नित्यमपि निरुपलेपः स्वरूपसमवस्थितो निरुपघातः।
गगनमिव परमपुरुषः परमपदे स्फुरति विशद्तमः ॥२१३॥

कृतकृत्यः परमपदे परमात्मा सकलविषयविषयात्मा।
परमानन्दनिमग्नो ज्ञानमयो नन्दति सदैव ॥२२४॥

भावार्थ—परम पुरुष मोक्ष के परम पद मे सदा ही कर्म के लेप-रहित व बाधारहित अपने स्वरूप में स्थिर आकाश के समान परम निर्मल प्रकाशमान रहते हैं। वे परमात्मा अपने परम पद में कृतकृत्य व सर्व जानने योग्य विषयों के ज्ञाता व परमानन्द में मगन सदा ही आनन्द का भोग करते रहते हैं।

श्री समन्तभद्राचार्य **रत्नकरण्डश्रावकाचार** में कहते हैं—

शिवमजरमरुजमक्षयमव्याबाधं विशोकभयशङ्कम्।
काष्ठागतसुखविद्याविभवं विमलं भजन्ति दर्शनशरणाः ॥४०॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी महात्मा परम आनन्द व परम ज्ञान की विभूति से पूर्ण शिवपद को पाते हैं, जहाँ जरा नहीं, रोग नहीं, क्षय नहीं, बाधा नहीं, शोक नहीं, भय नहीं, शङ्का नहीं रहती है।

श्री योगीन्द्राचार्य संसार से वैरागी व मोक्षपद-उत्सुक प्राणियों के लिए आत्मा का स्वभाव समझायेंगे। क्योंकि आत्मा के ज्ञान से ही आत्मानुभव होता है, यही मोक्ष का उपाय है।

——❀——
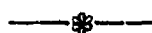
मिथ्यादर्शन संसार का कारण है

कालु अणाइ अणाइ जोउ भवसायरु जि अणंतु।
मिच्छादंसणमोहियउ ण वि सुह दुक्ख जि पत्तु ॥४॥

जीव काल संसार ये, कहे अनादि अनन्त।
गहि मिथ्या श्रद्धान जिय, भ्रमे न सुक्ख लहन्त ॥४॥

अन्वयार्थ—(**कालु अणाइ**) काल अनादि है (**जिउ अणादि**) संसारी जीव अनादि है (**भव सायरु जि अणंतु**) संसारसागर भी अनादि अनन्त है (**मिच्छादंसणमोहियउ**) मिथ्यादर्शन कर्म के कारण मोही होता हुआ जीव (**सुह ण वि दुक्ख जि पत्तु**) सुख नहीं पाता है, दुःख ही पाता है।

भावार्थ—काल का चक्र अनादि से चला आ रहा है। हर समय भूत भावी वर्तमान तीनों काल पाये जाते हैं, कभी ऐसा सम्भव नहीं है कि काल नही था। जब काल अनादि है तब काल के भीतर काम करने वाले संसारी जीव भी अनादि हैं। जीव कभी नवीन पैदा नहीं हुए। प्रवाहरूप से चले ही आ रहे हैं। वास्तव में यह जगत जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल इन छः सत् द्रव्यों का समुदाय है। ये द्रव्य अनादि हैं तब यह जगत भी अनादि है। जग में प्रत्यक्ष प्रकट है कि कोई अवस्था किसी अवस्था को बिगाड़ कर

लेती है, परन्तु जिसमें अवस्था होती है वह बना रहता है। सुवर्ण की डली को गला कर कड़ा बनाया गया, तब डली की अवस्था मिटी, कड़े की अवस्था पैदा हुई, परन्तु सुवर्ण बना रहा। कभी कोई सुवर्ण का लोप नहीं कर सकता है। सुवर्ण पुद्गल के परमाणुओं का समूह है, परमाणु सब अनादि हैं।

संसारी जीव अनादि से संसार में पाप-पुण्य को भोगता हुआ भ्रमण कर रहा है कभी यह जीव शुद्ध था, फिर अशुद्ध हुआ ; ऐसा नहीं है। कार्मण और तैजस शरीरों का संयोग अनादि से है, यद्यपि उनमें नए स्कंध मिलते, पुराने स्कंध छूटते हैं। इसलिए संसारी जीवों का संसार-भ्रमणरूप संसार भी अनादि है। तथा यदि इसी तरह यह जीवकर्मबंध करता हुआ भ्रमण करता रहा तो यह संसार उस मोही अज्ञानी जीव के लिये अनन्त काल तक रहेगा। मिथ्यादर्शन कर्म के उदय से यह संसारी जीव अपने आत्मा के सच्चे स्वरूप को भूल रहा है, इसलिए कभी सच्चे सुख को नहीं पहचाना, केवल इन्द्रियों के द्वारा वर्तता हुआ कभी सुख, कभी दुःख उठाता रहा। इन्द्रिय सुख भी आकुलता का कारण हैं व तृष्णावर्द्धक है, इसलिये दुःखरूप ही है।

मोहनीय कर्म के दो भेद हैं—**दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय**। दर्शनमोहनीय का एक भेद मिथ्यात्वकर्म है। चारित्रमोहनीय के भेदों में चार अनन्तानुबन्धी कषाय हैं। इन पाँच प्रकृतियों के उदय या फल के कारण यह संसारी जीव मोही, मूढ़, बहिरात्मा, अज्ञानी संसारासक्त, पर्यायरत, उन्मत्त व मिथ्यादृष्टि हो रहा है। इसके भीतर मिथ्यात्वभाव अंधेरा किये हुये है, जिससे सम्यग्दर्शन गुण का प्रकाश रुक रहा है। मिथ्यात्वभाव दो प्रकार के हैं—एक अग्रहीत, दूसरा ग्रहीत। अग्रहीत मिथ्यात्व वह है जो प्रमाद से विभाव रूप चला आ रहा है। जिसके कारण यह जीव जिस शरीर को पाता है उसमें ही आपापन मान लेता है। शरीर के जन्म को अपना जन्म शरीर के मरण को अपना मरण, शरीर की स्थिति को अपनी स्थिति मान रहा

है। शरीर से भिन्न मैं चेतन प्रभु हूँ, यह खबर इसे बिलकुल नहीं है। कर्मों के उदय से जो भावों में क्रोध, मान, माया लोभ या राग-द्वेष मोह होते हैं उन भावों को अपना मानता है। मैं क्रोधी, मैं मायावी, मैं लोभी, मैं रागी मैं द्वेषी, मैं मोही ; इसी तरह पाप-पुण्य के उदय से शरीर की अच्छी या बुरी अवस्था होती है, उसे अपनी ही अच्छी या बुरी अवस्था मान लेता है। जो धन, कुटुम्ब, मकान, भूषण, वस्त्र आदि परद्रव्य हैं उनको अपना मान लेता है। इस तरह नाशवंत कर्मोदय की भीतरी व बाहरी अवस्थओं में अहङ्कार व ममकार करता रहता है।

अपने स्वभाव में अहंबुद्धि व अपने गुणों में ममता मात्र बिलकुल नहीं होता है। जैसे कोई मदिरा पीकर बावला हो जावे व अपना नाम व अपना घर ही भूल जावे, वैसे यह मोही प्राणी अपने सच्चे स्वभाव को भूले हुये हैं। चारों गतियों में जहाँ भी जन्मता है वहाँ ही अपने को नारकी, तिर्यंच, मनुष्य या देव मान लेता है। यह अग्रहीत या निसर्ग मिथ्यात्व है। इस मिथ्यात्व के कारण तत्त्व का श्रद्धान नही होता है।

श्री पूज्यपाद स्वामी ने **सर्वार्थसिद्धि** में कहा है—

"मिथ्यादर्शनं द्विविधं नैसर्गिकं परोपदेशपूर्वकं च। तत्र परोपदेशमन्तरेण मिथ्यात्वकर्मोदयवशात् आविर्भवति तत्वार्थाश्रद्धानलक्षणं नैसर्गिकं।

भावार्थ—मिथ्यादर्शन दो प्रकार है—एक नैसर्गिक या अग्रहीत, दूसरा अधिगमज या परोपदेश पूर्वक। जो पर के उपदेश के बिना ही मिथ्यात्व कर्म के उदय के वश से जीव अजीव आदि तत्वों का अश्रद्धान प्रकट होता है वह **नैसर्गिक** है। यह साधारणता से सर्व ही एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय पर्यन्त जीवों में पाया जाता है। जब तक मिथ्यात्व कर्म का उदय नहीं मिटेगा तब तक यह मिथ्यात्व भाव होता ही रहेगा। दूसरा परोपदेश पूर्वक पाँच प्रकार है—**एकान्त, विपरीत, संशय, वैन-**

यिक, अज्ञान मिथ्यादर्शन । ये पांच प्रकार सैनी जीवों को परके उप-देश से होता है तब संस्कार वश असैनी के भी बना रहता है। इनका स्वरूप वहीं कहा है—

(१) "तत्र इदमेव इत्थमेवेति धर्मिधर्मयोरभिनिवेश एकांतः पुरुष एवेदं सर्वमिति वा नित्यमेवेति ।"

भावार्थ—धर्मी जो द्रव्य व धर्म जो उसके स्वभाव, उनको ठीक न समझ कर यह हठ करना कि वस्तु यही है व ऐसी ही है। वस्तु अनेक स्वभावरूप अनेकान्त होते हुए भी उसे एक धर्मरूप या एकान्त मानना एकान्त मिथ्यात्व है। जैसे जगत छः द्रव्य का समुदाय है। ऐसा न मानकर यह जगत एक ब्रह्म स्वरूप ही है, ऐसा मानना या वस्तु द्रव्य की अपेक्षा नित्य है व पर्याय की अपेक्षा अनित्य है ऐसा न मानकर सर्वथा नित्य ही मानना या सर्वथा अनित्य ही मानना एकान्त मिथ्यात्व है। "सग्रंथो निर्गन्थः, केवली कवलाहारी, स्त्री सिद्धयतीत्येवमादिः विपर्ययः ।"

भावार्थ—जो बात सम्भव न हो, विपरीत हो, उसको ठीक मानना विपरीत मिथ्यात्व है जैसे परिग्रहधारी साधु को निर्ग्रन्थ मानना केवली अरहंत भगवान् को ग्रास लेकर भोजन करना मानना, स्त्री के शरीर से सिद्धगति मानना, हिंसा में धर्म मानना इत्यादि विप-रीत मिथ्यात्व है। वस्त्रादि बाहरी व क्रोधादि अन्तरंग परिग्रह रहित ही निर्ग्रन्थ साधु हो सतका है, केवली अनन्तबली परमौदारिक सात धातुरहित शरीर रखते हैं, मोहकर्म को क्षय कर चुके हैं, उनको भूख की बाधा होना—भोजन की इच्छा होना व भिक्षार्थ भ्रमण करना व भोजन का खाना सम्भव नहीं है। वे परमात्मपद में निरन्तर आत्मा-नन्दामृत का स्वाद लेते हैं, इन्द्रियों के द्वारा स्वाद नही लेते हैं। उनके मतिज्ञान व श्रुतज्ञान नहीं है।

कर्मभूमि की स्त्री का शरीर वज्रवृषभनाराच संहनन बिना हीन संहनन का होता है इसी से वह न तो भारी पाप कर सकती है न

मोक्ष के लायक ऊँचा ध्यान ही कर सकती है। इसलिये वह मर कर १६ स्वर्ग के ऊपर ऊर्ध्व लोक में व छठे नरक से नीचे अधोलोक में नहीं जाती है। हिंसा या परपीड़ा से पापबन्ध होगा, कभी पुण्यबन्ध नहीं हो सकता। उल्टी प्रतीति को ही विपरीत मिथ्यादर्शन कहते हैं।

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि किं मोक्षमार्गः, स्याद्वाद न चैतन्य-तरपक्षापेक्षा-परिग्रहः संशयः" सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रत्नत्रय धर्म मोक्षमार्ग है कि नहीं है ऐसा विकल्प करके किसी एक पक्ष को नहीं ग्रहण करना संशय मिथ्यादर्शन है।

"सर्वदेवतानां सर्वसमयानां च समदर्शनं वैनयिकम्" सर्व ही देवताओं को व सर्व सर्व ही दर्शनों को या आगमों को (बिना स्वरूप विचार किये) एक समान श्रद्धा करना वैनयिक मिथ्यादर्शन है।

"हिताहितपरीक्षाविरहोऽज्ञानिकत्वं" हित अहित की परीक्षा नहीं करना, देखादेखी धर्म को मान लेना, अज्ञान मिथ्यादर्शन है। सम्यग्दर्शन वास्तव में अपने शुद्धात्मा के स्वरूप की प्रतीति है, उसका न होना ही मिथ्यादर्शन है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इन सात तत्त्वो में श्रद्धान न होना तथा वीतराग सर्वज्ञ देव में, सत्यार्थ आगम व सत्य गुरु में श्रद्धान का न होना व्यवहार मिथ्यादर्शन है। यह सब गृहीत या अधिगमज या परोपदेश पूर्वक मिथ्यादर्शन है।

अपने को और का और शरीर रूप मानना अगृहीत या नैसर्गिक मिथ्यादर्शन है। मिथ्यादर्शन के कारण इस जीव को सच्चे आत्मीक सुख की तथा सच्चे शुद्ध आत्मा के स्वभाव की प्रतति नही होती है। इसकी बुद्धि मोह से आच्छादित है। यह विषय भोग के सुख को ही सुख समझकर प्रतिदिन उसके उद्योग में लगा रहता है। पर-पीड़ा पहुंचाकर भी स्वार्थ साधन करता है, पापों को बाँधता है, भव-भव में दु:ख उठाता फिरता है। मिथ्यादर्शन से बढ़कर कोई पाप नहीं है। देह को अपना मानना ही देह धारण करने का बीज है।

समाधिशतक में श्री **पूज्यपाद** स्वामी ने कहा है—

न तदस्तीन्द्रियार्थेषु यत् क्षेमङ्करमात्मनः ।
तथापि रमते बालस्तत्रैवाज्ञानभावनात् ॥५५॥

भावार्थ—इन्द्रियों के भोगों के भीतर आत्मा का हित नहीं है तो भी मिथ्यादृष्टी अज्ञान की भावना से उन्हीं में रमण करता रहता है।

चिरं सुषुप्तास्तमसि मूढात्मानः कुयोनिषु ।
अनात्मीयात्मभूतेषु ममाहमिति जाग्रति ॥५६॥

भावार्थ—अनादिकाल से मूढ़ आत्माएँ अपने स्वरूप में सोई हुई हैं, खोटी योनियों में भ्रमण करती हुई स्त्री पुत्रादि परपदार्थों को व अपने शरीर व रागादि विभावों को अपना मानकर इसी विभाव में जाग रही हैं।

देहान्तरगतेर्बीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना ।
बीजं विदेह निस्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना ॥७४॥

भावार्थ—इस शरीर में आपा मानना ही पुनः पुनः देह ग्रहण का बीज है। जबकि अपने आत्मा में ही आपा होना देह से छूट जाने का बीज है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य **सारसमुच्चय** में कहते हैं—

मिथ्यात्वं परमं बीजं संसारस्य दुरात्मनः ।
तस्मात्त देव मोक्तव्यं मोक्षसौख्यं जिघृक्षुणा ॥५२॥

भावार्थ—इस दुष्ट संसार का परम बीज एक मिथ्यादर्शन है इसलिए मोक्ष के सुख की प्राप्ति चाहनेवालों को मिथ्यादर्शन का त्याग करना उचित है।

सम्यक्त्वेन हि युक्तस्य ध्रुवं निर्वाण संगमः ।
मिथ्यादृशोऽस्य जीवस्य संसारे भ्रमणं सदा ॥४१॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी जीव के अवश्य निर्वाण का लाभ होगा, किन्तु मिथ्यादृष्टी जीव का सदा ही संसार में भ्रमण रहेगा।

अनादिकालीन संसार में यह संसारी जीव अनादि से ही मिथ्यादर्शन से अन्धा होकर भटक रहा है, इसलिए इस मिथ्यात्व का त्याग जरूरी है।

——※——

मोक्षसुख का कारण आत्मध्यान है

जइ वीहउ चउगइगमणु तउ परभाव चएवि।
अप्पा झायहि णिम्मलउ जिम सिवसुक्ख लहेवि ॥५॥

जो चउगति दुःख से डरे तो तज सब परभाव।
कर शुद्धातम चिंतन शिवसुख यही उपाय ॥५॥

अन्वयार्थ—(**जइ**) यदि (**चउगइगमणु वीहउ**) चारों गतियों के भ्रमणसे भयभीत है (**तउ**) तो (**परभाव चएवि**) परभावों को छोड़ दे (**णिम्मलउ अप्पा झायहि**) निर्मल आत्मा का ध्यान कर (**जिम**) जिससे (**सिवसुक्ख लहेवि**) मोक्ष के सुख को तू पा सके।

भावार्थ—जैसा पहले दिखाया जा चुका है चारों ही गतियों मे शारीरिक व मानसिक दुःख हैं। सुखकारी व स्वाभाविक गति एक मोक्ष गति है, जहाँ आत्मा निश्चल रहकर परमानन्द का भोग निरतर करता रहता है, जहाँ आत्मा बिल्कुल शुद्ध निराला शोभता रहता है। मन सहित प्राणी को अपना हित व अहित ही विचारना चाहिए। यदि आत्मा के दयाभाव है तो इसे दुःखों के बीच नही डालना चाहिए। इसे भव-भ्रमण से रक्षित करना चाहिए। और इसे जितना शीघ्र हो सके, मोक्ष के निराकुल भाव में पहुंच जाना चाहिए। तब इसका उपाय श्री गुरु ने बताया है कि अपने ही शुद्ध आत्मा का ध्यान करो।

भेदविज्ञान की शक्ति से अपने आत्मा के साथ जिन जिनका संयोग है उन उनको आत्मा से नित्य विचार करके उनका मोह छोड़ देना चाहिए। मोक्ष अपने ही आत्मा का शुद्ध स्वभाव है तब उसका उपाय भी केवल एक अपने ही शुद्ध आत्मा का ध्यान है। जैसा ध्यावे वैसा हो जावे। यदि हम एक मानव की आत्मा का भेदविज्ञान करें तो यह पता चलेगा कि यह तीन प्रकार के शरीरों के साथ है। वे तीनों शरीर पुद्‌गल द्रव्य के बने हुए हैं, आत्मा के स्वभाव से बिलकुल विपरीत है।

स्थूल दीखने वाला औदारिक शरीर है जो माता-पिता के रज

वीर्य से बना है। दो अनादिकाल से प्रवाह रूप से चले आने वाले तैजस शरीर और कार्मण शरीर हैं। आठ कर्ममय कार्मण शरीर के विपाक से जो जो फल व अवस्थाएँ व विकार आत्मा की परिणति में होते हैं वे सबही आत्मा के स्वभाव से भिन्न है। ज्ञानावरणादि चार घातीय कर्मों के कारण अज्ञान व मोह, रागद्वेष आदि भावकर्म होते हैं व अघातीय कर्मों के कारण शरीर व चेतन अचेतन पदार्थों का सम्बन्ध होता है, वे सब ही भिन्न हैं। जीवों की उन्नति करने की चौदह सीढ़ियां है, जिनको गुणस्थान कहते हैं, वे सब भी शुद्ध आत्मा से भिन्न हैं।

गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व, आहार ये चौदह मार्गणाएँ हैं सो भी शुद्ध जीव का स्वभाव नहीं है। शुद्ध जीव अखंड व अभेद्य है। सहज ज्ञान व सहज दर्शन व सहज वीर्य व सहज सुख का अमिट व अभेद समूह है। सर्व सांसारिक अवस्थाएँ शुद्ध आत्मा से भिन्न हैं। इन्द्र पद, चक्रवर्ती पद, तीर्थंकर पद ये सब कर्मकृत उपाधियां हैं। आत्मा इन सबसे भिन्न निरञ्जन प्रभु देव हैं।

तत्त्वार्थसूत्र में जीवों के पाँच भाव व उनके भेद त्रेपन भाव बताए हैं, उनमें से शुद्ध आत्मा के केवल क्षायिक भाव और पारिणामिक भाव हैं—औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदायिक तीन भाव नही है। त्रेपन में से नौ क्षायिक भाव अर्थात् नौ लब्धियाँ व एक जीवत्व पारिमाणिक भाव, इस तरह केवल दस भाव जीव के हैं शेष ४३ तेतालीस नहीं हैं।

सिद्ध के समान आत्मा का ध्यान करना चाहिए। भेदविज्ञान के प्रताप से ध्यान करने वाला आप ही अपने को परमात्मा रूप देखता है। जैसे दूध पानी मिले हुए हों तो दूध पानी से अलग दीखता है व गर्म पानी में जल व अग्नि का स्वभाव अलग दीखता है। व्यंजन में लवण व तरकारी का स्वाद अलग दीखता है। लाल पानी में पानी व लाल रंग का स्वभाव अलग दीखता है। तिलों में भूसी व तेल

अलग दीखता है। धान्य में तुष और चावल अलग दीखता है। दाल में छिलका व दाल का दाना अलग दीखता है। वैसे ही ज्ञानी को अपना आत्मा रागादि भावकर्म, से, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म से व शरीरादि नोकर्म से भिन्न दीखता है। जैसे ज्ञानी को अपना आत्मा सर्व पर भावों से जुदा दीखता है वैसे ही अन्य संसारी प्रत्येक आत्मा सर्व पर-भावों से भिन्न दीखता है।

सर्व ही सिद्ध व संसारी आत्माएँ एक-समान परम निर्मल, वीतराग, ज्ञानानन्दमय दिखती हैं। इस दृष्टि को सम्यक्त्व यथार्थ व निर्मल व निश्चय दृष्टि कहते हैं। इस दृष्टि से देखने का अभ्यास करने वाले के भावों में समभाव का साम्राज्य हो जाता है। रागद्वेष, मोह का विकार मिट जाता है।

इसी समभाव में एकाग्र होना ही ध्यान है। यही ध्यान की आग है जिससे कर्म के बन्धन कट जाते हैं और यह आत्मा शीघ्र ही मुक्त हो जाता है, तब परम सुख का भोगी बन जाता है—

श्री कुन्कुन्दाचार्य **समयपाहुड** में कहते हैं।

जीवस्स णत्थि वण्णो णवि गंधो णवि रसो णवि य फासो।
णवि रूवं ण शरीरं णवि संठाणं ण सहणण ॥५५॥
जीवस्स णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो।
णो पच्चया ण कम्मं णो कम्मं चावि से णत्थि ॥५६॥
जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव कड्ढया केई।
णो अज्झप्पट्ठाणा ण वयअणुभायठाणाणि ॥५७॥
जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा ण बंधठाणा वा।
णे वयउदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई ॥५८॥
णो सिदि बन्धट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेश ठाणा वा।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संगमलद्धिठाणा वा ॥५०॥
णे वय जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा या आत्म जीवस्स।
जेणु दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा ॥६०॥

भावार्थ—निश्चयनय से इस जीव में न कोई वर्ण है, न कोई गन्ध है, न रस है, न स्पर्श है, न कोई दिखने वाला रूप है, न कोई

शरीर है, न छः संस्थानों में से कोई संस्थान है, न छः संहननों में से कोई संहनन है, न जीव के राग हैं, न द्वेष है, न मोहो है, न सत्तावन (५ मिथ्यात्व + १२ अविरति + २५ कषाय + १५ योग) आस्रव हैं, न आठ कर्म हैं, न अहारक, तैजस, भाषा, मनोवर्गणा आदि नोकर्म हैं, न जीव के कोई अविभाग प्रतिच्छेद शक्ति का समूह रूप वर्ग है, न वर्ग समूहरूप वर्गणा है, न वर्गणा समूह रूप स्पर्द्धक है, न शुभाशुभ विकल्प रूप अध्यात्म स्थान है, न सुख दुःख फलरूप अनुभाग स्थान है, न जीव के कोई आत्मप्रदेश हलन चलन रूप व योगशक्ति के अशुद्ध परिणमन रूप योगस्थान है, न प्रकृति आदि चार बन्ध के स्थान हैं, न कर्मों के उदय के स्थान हैं, न चौदह गति आदि मार्गणाओं के स्थान हैं, न कर्मों की स्थितिबन्ध के स्थान हैं, न अशुभ भावरूप संक्लेश स्थान है, न शुभ भावरूप विशुद्धि के स्थान हैं न संयम की वृद्धिरूप संयम के स्थान हैं, न एकेन्द्रियादि चौदह जीव समास हैं, न मिथ्यादर्शनादि चौदह गुणस्थान हैं, क्योंकि ये सब पुद्गल द्रव्य के संयोग व निमित्त से होने वाले परिणाम है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य **समयसारकलश** में कहते हैं—

ज्ञानदेव ज्वलनपयसोरौष्ण्यशैत्यव्यवस्था
ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदासः।
ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः
क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिन्दती कर्तृभावम् ॥१५-३॥

भावार्थ—भेद विज्ञान के बल से ज्ञानी को गर्म पानी में अग्नि की उष्णता व पानी की शीतता भिन्न भिन्न दीखती है। भेद विज्ञान से ही बनी हुई तरकारी में लवण का व तरकारी का स्वाद अलग-अलग स्वाद में आता है। भेदविज्ञान से दीखता है कि यह आत्मा आत्मीक रस से भरा हुआ नित्य चैतन्य धातु की मूर्ति वीतराग है तथा यह क्रोधादि विकारों का कर्ता नहीं है। क्रोधादि अलग हैं, आत्मा अलग है।

समयसारकलश में और भी कहा है—

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा तत्त्वमात्मनः।
एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा ॥६४-१०॥

एको मोक्षपथो य एव नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक—
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति ।
तस्मिन्नेव निरन्तरं विरहति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदय विन्दति ॥४७-१०॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमई आत्मा तत्त्व है, वही एक मोक्षमार्ग है। मोक्ष के अर्थी को उचित है कि इसी एक का सेवन करे। दर्शनज्ञान चारित्रमय आत्मा ही निश्चय से एक मोक्ष का मार्ग है। जो कोई इस अपने आत्मा में अपनी स्थिति करता है, रात दिन उसी को ध्याता है, उसीका अनुभव करता है, उसीमें ही निरन्तर बिहार करता है, अपने आत्मा के सिवाय अन्य आत्माओं को, सर्व पुद्गलों को धर्माधर्माकाशकाल चार अमूर्तीक द्रव्यों को व सर्व ही परभावों को स्पर्श तक नही करता है वह ही अवश्य नित्य उदय रूप समयसार या परमात्मा का अनुभव करता है। वास्तव में यह आत्मानुभव ही मोक्षमार्ग है, योगी को यही निरन्तर करना चाहिए।

आत्मा तीन प्रकार है

तिपयरो अप्पा मुणहि पर अंतरु बहिरप्पु ।
पर झायहि अंतरसहिउ बाहिरु चयहि णिभंतु ॥६॥

त्रिविधा आत्मा जान के तजि बहिरातम भाव ।
अन्तरात्मा होयकर परमात्मा को ध्याय ॥६॥

अन्वयार्थ—(**अप्पा तिपयारो मुणहि**) आत्मा को तीन प्रकार जानो, (**परु**) परमात्मा (**अंतरु**) अन्तरात्मा (**बहिरप्पु**) बहिरात्मा (**णिभंतु**) भ्रांति या शका रहित होकर (**बाहिरु चयहि**) बहिरात्मा-पना छोड दे (**अन्तरसहिउ**) अन्तरात्मा होकर (**परिझायहि**) परमात्मा का ध्यान करे।

भावार्थ—द्रव्यदृष्टि या शुद्ध निश्चयनय से सर्व ही आत्माएँ एक समान शुद्ध-बुद्ध परमात्मा ज्ञानानन्दमय हैं, कोई भेद नही है द्रव्य का स्वभाव सत् है सदा रहने वाला है व सत् उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है। हर एक द्रव्य अपने सर्व सामान्य तथा विशेष गुणों को अपने

भीतर सदा बनाए रहता है, उनमें एक भी गुण कम व अधिक नहीं होता इसलिए द्रव्य ध्रौव्य होता है। हर एक गुण परिणमनशील है कूटस्थ नित्य नही है। यदि कूटस्थ नित्य हो तो कार्य न कर सके। गुणों के परिणमन से जो समय समय हर गुण की अवस्था होती है वह उस गुण पर्याय है।

एक गुण में समय समय होने वाली ऐसी अनन्त पर्यायें होती हैं। पर्यायें सब नाशवंत हैं। जब एक पर्याय होती है तब पहली पर्याय को नाश करके होती है। पर्यायों की अपेक्षा हर समय द्रव्य उत्पाद व्यय स्वरूप है अर्थात् पुरानी पर्याय को बिगाड़ कर नवीन पर्याय को उत्पन्न करता हुआ द्रव्य अपने सर्व गुणों को लिए हुये बना रहता है। इसलिए द्रव्य का लक्षण **"गुणपर्ययवत् द्रव्यं"** गुण पर्यायवान द्रव्य होता है ऐसा कहा है।

हर एक द्रव्य में जितनी पर्यायें सम्भव हो सकती हैं उन सबकी शक्ति रहती है, प्रकटता एक समय में एक ही होती है। जैसे मिट्टी की डली में जितने प्रकार के बर्तन, खिलौने मकान, आदि बनाने की शक्ति है, वे सब पर्यायें शक्ति से है, प्रगट एक समय में एक ही पर्याय होगी। जैसे मिट्टी से प्याला बनाया, प्याला तोड़कर मटकन्ना बनाया, मटकन्ना तोड़कर एक पुरुष बनाया, पुरुष तोड़कर स्त्री बनाई आदि। इन सब पर्यायों में मिट्टी वही है व मिट्टी के सब गुण भी वे ही हैं। स्पर्श, रस, गन्ध वर्णमय मिट्टी सदा मिलेगी।

द्रव्य जगत में छः हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और कालाणु इन चारों द्रव्यों में एक समान सदृश स्वभाव पर्यायें ही होती रहती हैं। उनके पर के निमित्त से विभाव पर्यायें नहीं हो सकती हैं। वे सदा उदासीन पड़े रहते हैं।

सिद्धात्माओं में भी स्वभाव सदृश पर्यायें होती हैं क्योंकि उनके ऊपर किसी पर द्रव्य का प्रभाव नहीं पड़ सकता है। वे पूर्ण मुक्त हैं। परन्तु संसारी आत्माओं में कर्मों का संयोग व उदय होने के कारण विभाव पर्यायें व अशुद्ध पर्यायें होती हैं। परमाणु जो जघन्य अंश

स्निग्ध व रूक्ष गुण को रखता है, किसी से बँधता नहीं है, उस परमाणु में भी स्वभाव पर्यायें होती हैं, जब यही स्निग्ध व रूक्ष गुणों के बढ़ने से दूसरे परमाणु के साथ बन्धयोग हो जाता है तब उसमें विभाव पर्यायें होती हैं।

पर्यायें दो प्रकार की हैं—अर्थ पर्याय व व्यंजन पर्याय। प्रदेश-गुण या आकार के पलटने को व्यंजन पर्याय व अन्य सर्व गुणों के परिणमन को अर्थ पर्याय कहते हैं। शुद्ध द्रव्यों में व्यंजन व अर्थ पर्याय समान रूप से शुद्ध ही होती हैं। अशुद्ध से अशुद्ध अर्थ पर्याय व आकार की पलटन रूप अशुद्ध या विभाव व्यंजन पर्याय होती हैं। संसारी आत्मायें अशुद्ध हैं तो भी हर एक आत्मा में अपने सर्व ही गुणों के शुद्ध या अशुद्ध परिणमन की शक्ति में हैं। जब तक वे अशुद्ध है तब तक अशुद्ध पर्यायें प्रगट होती हैं। शुद्ध आत्माओं में भी शुद्ध व अशुद्ध पर्यायों के होने की शक्ति है परन्तु शुद्ध पर्यायें ही प्रगट होती हैं क्योंकि अशुद्ध पर्यायी होने के लिए पुद्गल का कोई निमित्त नहीं है। जैसे एक परमाणु में सर्व संभवित पर्यायों के होने की शक्ति है, वैसे एक आत्मा में निगोद से लेकर सिद्ध पर्याय तक सर्व पर्यायों के होने की शक्ति है, यह वस्तुस्वभाव है।

सिद्ध भगवानों में बहिरात्मा, अन्तरात्मा व परमात्मा तीनों की पर्यायों के होने की शक्ति है। उनमे से परमात्मपने की शक्ति व्यक्त या प्रगट है। शेष दो शक्तियाँ अप्रगट है। इसी तरह संसारी आत्माओं में जो बहिरात्मा हैं उनमें बहिरात्मा की पर्यायें तो प्रगट हैं, परन्तु उसी समय अन्तरात्मा व परमात्मा की पर्यायें शक्तिरूप से अप्रगट है। यद्यपि तीनों की शक्तियाँ एक ही साथ हैं।

अन्तरात्मा में अन्तरात्मा की पर्यायें तो प्रगट है उसी समय बहिरात्मा व परमात्मा की पर्यायें शक्तिरूप से अप्रगट हैं। वास्तव में द्रव्य को शक्ति की अपेक्षा देखा जावे तो हर एक आत्मा में बहिरात्मा, अन्तरात्मा व परमात्मा तीनों शक्तियाँ हैं। उनमें से किसी एक की प्रगटता रहेगी तब दो की अप्रगटता रहेगी। जैसे पानी में गर्म होने

की लाल हरे पीले व निर्मल होने की व ठंडा रहने की आदि शक्तियां हैं। जब पर का निमित्त न होगा तब वह पानी निर्मल ठंडा ही प्रकट होगा। उसी पानी को अग्नि का निमित्त मिले तब गर्म हो जायगा तब गर्मपने की दशा प्रगट होगी, शीतपने की अप्रगट रहेगी।

मल का निमित्त मिलने पर मैला, लाल रंग का निमित्त मिलने पर लाल, हरे रंग का निमित्त मिलने पर हरा हो जायगा तब निर्मल-पना शक्तिरूप से रहेगा।

किसी पानी को परका निमित्त न मिले तो वह सदा ही निर्मल व ठंडा ही झलकेगा। परन्तु गर्म मलीन व रंगीन होने की शक्तियों का उस पानी में से अभाव नहीं हो जायगा। सिद्ध परमात्माओं में कर्मोदय का निमित्त न होने पर वे कभी भी अन्तरात्मा व बहिरात्मा न होंगे, परन्तु इनकी शक्तियों का उनमें अभाव नहीं होगा। अभव्य जीव कभी अन्तरात्मा व परमात्मा न होंगे – बहिरात्मा ही बने रहेंगे तो भी उनमें अन्तरात्मा व परमात्मा की शक्तियों का अभाव नहीं होगा। इसलिए पूज्यपादस्वामी ने **समाधिशतक** में कहा है—

बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद्बहिस्त्यजेत् ॥४॥

भावार्थ—सर्व ही प्राणियों में बहिरात्मा, अन्तरात्मा व पर-मात्मा तीन प्रकारपना है, उनमें से बहिरात्मापना छोडे। अन्तरात्मा के उपाय से परमात्मापने की सिद्धि करे, यही योगचन्द्राचार्य **परमात्म-प्रकाश** में कहते हैं—

अप्पा तिविहु मुणेवि वहु मूढउ मेल्लहि भाउ।
मुणि सण्णाणे णाणमउ जो परमप्प सहाउ ॥१२॥

भावार्थ—आत्मा को तीन प्रकार का जानकर बहिरात्मा स्वरूप भाव को शीघ्र ही छोड़े और जो परमात्मा का स्वभाव है उसे स्वसंवेदन ज्ञान से अन्तरात्मा होता हुआ जान। वह स्वभाव केवल ज्ञानकर परिपूर्ण है।

मिथ्यादर्शन आदि चौदह गुणस्थान होते हैं, इनकी शक्ति सर्व

ही आत्माओं में है। प्रगटता एक समय में एक गुणस्थान की संसारी आत्माओं में रहेगी। यद्यपि ये सर्व चौदह गुणस्थान संसारी आत्माओं में होते हैं, सिद्धों में कोई गुणस्थान नहीं है तौभी संसारी जीवों का बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा तीन अवस्थाओं में विभाग हो सकता है। जो अपने आत्मा को यथार्थ न जाने; न श्रद्धान करे, न अनुभवे वह बहिरात्मा है। मिथ्यात्व, सासादन व मिश्र गुणस्थान वाले सब बहिरात्मा हैं। जो अपने आत्मा को सच्चा जैसे का तैसा श्रद्धान करे, जाने व अनुभव करे वह अंतरात्मा है। जहां तक केवलज्ञान नहीं वहाँ तक चौथे अविरक्त सम्यक्त से लेकर ५ देश विरत, ६ प्रमत्तविरत, ७ अप्रमत्तविरत, ८ अपूर्वकरण, ९ अनिवृत्तिकरण, १० सूक्ष्म लोभ, ११ उपशांत मोह, १२ क्षीणमोह पर्यन्त नौ गुणस्थान वाली सब आत्माएँ अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टी हैं। संयोग केवली जिन तेरहवें व अयोग केवली जिन चौदहवें गुणस्थान वाले अरहत परमात्मा है।

इन दोनों गुणस्थान वालों को संसारी इसलिए कहा है कि उनके आयु, नाम, गोत्र वेदनीय चार अघातीय कर्मों का उदय है—क्षय नहीं हुआ है। यथार्थ में सिद्ध ही शरीर रहित परमात्मा है। अरहन्त शरीर सहित परमात्मा हैं; इतना ही अन्तर है। प्रयोजन कहने का यह है कि बहिरात्मापना त्यागने योग्य है। क्योंकि इस दशा मे अपने आत्मा के स्वरूप का श्रद्धान, ज्ञान व चारित्र नही होता है। उपयोग ससारासक्त मलीन होता है। तथा आत्मज्ञानी होकर अन्तरात्मा दशा में परमात्मा का ध्यान करके अर्थात् अपने ही आत्मा को परमात्मा रूप अनुभव करके कर्मों का क्षय करके परमात्मा हो जाना योग्य है। धर्म के साधन में प्रमाद न करना चाहिए। सारसमुच्य में **कुलभद्राचार्य** कहते हैं—

धर्मामृतं सदा पेयं दुःखातङ्कविनाशनम्।
यस्मिन् पीते परं सौख्य जीवाना जायते सदा ॥३३॥

भावार्थ—दुःख रूपी रोग के विनाशक धर्म रूपी अमृत को सदा पीना चाहिए, जिसके पीने से जीवोंको सदा ही परमानन्द प्राप्त होगा।

बहिरात्मा का स्वरूप

मिच्छादंसणमोहियउ परु अप्पाण मुणेइ।
सो बहिरप्पा जिणभणिउ पुण संसारु भमेइ ॥७॥

मिथ्या दर्शन वश फंसे अहंकार ममकार।
जिनवर बहिरातम कहें, सो भ्रमि है संसार ॥७॥

अन्वयार्थ—(**मिच्छादंसणमोहियउ**) मिथ्यादर्शन से मोही जीव (**परु अप्पा ण मुणेइ**) परमात्मा को नहीं जानता है (**सो बहिरप्पा**) यही बहिरात्मा है (**पुण संसार भमेइ**) वह बार-बार संसार में भ्रमण करता है (**जिण भमेउ**) ऐसा श्री जिनेन्द्र ने कहा है।

भावार्थ—जैसे मदिरा पीकर कोई उन्मत्त हो जावे तो वह बेसुध होकर अपने को भी भूल जाता है, अपना घर भी भूल जाता है, वैसे यह मिथ्यादर्शन कर्म के उदय से ही मोही होकर अपने आत्माके स्वरूप को भूले हुये हैं। आपको शरीर रूप ही मान लेता है व कर्मों के उदय से जो जो अवस्थायें होती हैं उनको अपना स्वभाव मान लेता है।

आत्माका यथार्थ स्वभाव सिद्ध परमात्मा के समान परम शुद्ध, निर्विकार, निरञ्जन, कृतकृत्य, इच्छारहित, शरीररहित, वचनरहित, मनके संकल्प विकल्परहित, अमूर्तीक अविनाशी है। इस बात को जो नहीं समझता है और जो कुछ भी आत्मा का निज स्वभाव नहीं है उसको अपना स्वभाव मान लेता है, वह आत्मासे बाहरकी वस्तुओंको आत्माकी मानता है। इसलिये उसको बहिरात्मा कहते हैं। अपने आत्माकी सत्ता सर्व आत्माओं से जुदी है, सर्व पुद्गलों से जुदी है, धर्म, अधर्म, आकाश, कालसे जुदी है, इस बातको बहिरात्मा नहीं समझता। वह इन्द्रिय सुखको ही सच्चा सुख मानता है। उसके जीवन का ध्येय विषयभोग व मानपुष्टि रहता है। वह धर्म भी इसी हेतु से पालन करता है। यदि कुछ शुभ काम करता है तो मैं दानका, पूजाका, परोपकारका, श्रावकके व्रतोंका, मुनिके व्रतोंका कर्ता हूँ। यदि कुछ अशुभ काम करता है तो मैं हिंसाकर्ता, असत्य बोलने की चतुराई का कर्ता,

ठगीकर्ता, व्यभिचारकर्ता व हानिकर्ता प्रवीण पुरुष हूँ, इस तरह के अहंकारसे मूर्छित रहता है। आत्मा का स्वभाव तो न शुभ काम करने का है, न अशुभ काम करने का है। आत्मा स्वभाव से परका कर्ता नहीं है। यह बहिरात्मा अपने को परका कर्ता मान लेता है।

उसी तरह पुण्य के उदय से सुख मिलने पर मैं सुखका व पापके उदयसे दुःख होने पर मैं दुःखका भोगने वाला हूँ। मैंने सम्पदा भोगी, राज्य भोगा, पंचेन्द्रिय के भोग भोगे, इस तरह परका भोक्ता मान बैठता है। आत्मा स्वभाव से अपने ज्ञानानन्द का भोक्ता है, परका भोक्ता नहीं है, इस बात को बहिरात्मा नहीं समझता है।

मन, वचन, काय, पुद्गलकृत विकार व कर्मों के उदय से उनकी क्रियायें होती हैं। यह बहिरात्मा इन तीनोंको व इनकी क्रियाओं को अपनी क्रिया मान लेता है। अनेक शास्त्रों को पढ़कर मैं पण्डित, इस अभिमान में चूर्ण होकर परका तिरस्कार करके प्रसन्न होने वाला बहिरात्मा होता है। वह यह घमण्ड करता है कि मैं अमुक वंश का हूँ, मैं ऊँचा हूँ, मैं वज्र रूपवान हूँ, मैं बड़ा बलवान हूँ, मैं बड़ा धनवान हूँ, मैं बड़ा विद्वान हूँ, मै बड़ा तपस्वी हूँ, मैं बड़ा अधिकार रखता हूँ, मैं चाहे जिसका बिगाड़ कर सकता हूँ, मेरी कृपा से सैकड़ों आदमी पलते हैं, इस अहंकार में बहिरात्मा चूर रहता है।

बहिरात्मा की दृष्टि अन्धी होती है, यह जिनेन्द्र की मूर्ति में स्वानुभवरूप जिनेन्द्रकी आत्मा को नही पहचानती है। छत्र-चामरादि विभूति सहित शरीरकी रचना को ही अरहन्त मान लेता है। गुरुकी पूजा भक्ति होती है, गुरु बड़े चतुर वक्ता है, गुरुका शरीर प्रभावशाली है, गुरु बडे विद्वान हैं, अनेक शास्त्रों के ज्ञाता हैं, इस गुरुमहिमा की तरफ ध्यान देता है। गुरु आत्मज्ञानी है नही, इस भीतरी तत्व पर बहिरात्मा ध्यान नही देता है।

शास्त्र में रचना अच्छी है, कथन मनोहर है, न्याय की युक्तिसे अकाट्य है, अनेक रसोसे पूर्ण है, ऐसा ममझता है; वह शास्त्रके कथन में अध्यात्मरसको नही खोजता है न उसका पान करता है। बहिरात्मा का जीवन विषय तथा कषायको पोखने में व्यतीत होता है। वह मर

करके भी विषयसुख की सामग्रीको ही चाहता है। इसी भावनाको लिए हुये भारी तपस्या साधता है।

मैं शुद्ध होकर सदा आत्मीक सुख भोग सकूं, इस भावनासे शून्य होता है। बहिरात्माको मिथ्यात्व कर्मके उदयवश सच्चा तत्त्व नहीं दिखता है। वह भिन्न दर्शनोंके शास्त्रोंको समझकर यथार्थ जिन भाषित तत्वों पर श्रद्धा नहीं लाता है। लोकमें छः द्रव्योंकी सत्ता होते हुए भी केवल एक ब्रह्ममय जगत है। एक परमात्मा ईश्वरके सिवाय कुछ नही है, यह सब उसीकी रचना है, उसी का रूपान्तर है, उसीकी माया है व ईश्वर ही जगतका कर्ता है व जीवोंको सुख दुःखका फल है, ऐसा मानने वाला है।

द्रव्यका स्वभाव ध्रुव होकर परिणमनशील है। यदि ऐसा न हो तो कोई जगतमें काम ही न हो ऐसा न मानकर या तो वस्तुको सर्वथा नित्य या अपरिणमनशील मानता है या सर्वथा अनित्य या परिणमनशील मान लेता है। कभी बहिरात्मा हिंसाके कार्यों में धर्म मानकर पशुबलि करके व रात्रिभोजन करके व नदियों में स्नान करके धर्म मान लेता है। वीतरागकी पूजा न करके शृंगारसहित देवताओं की व शस्त्रादि सहित देवताओंकी व संसारासक्त देवताओं की पूजा करने से पुण्यबन्ध मान लेता है व मोक्ष होना मान लेता है। किन्हीं बहिरात्माओंको आत्माकी पृथक् सत्तापर ही विश्वास नहीं होता है। वह पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुसे ही आत्माकी उत्पत्ति मान लेता है।

कोई बहिरात्मा आत्माको सदाही रागी, द्वेषी या अल्पज्ञ रहता ही मान लेता है। वह कभी वीतराग सर्वज्ञ हो सकेगा ऐसा नहीं मानता है। यह बहिरात्मा मूढ़ होता हुआ मिथ्याश्रद्धान, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र से मिथ्यामार्गी होता हुआ संसारमें अनादिकाल से भटकता आ रहा है व भटकता रहेगा। जिस मानवको सागर पार करनेवाली नौका न मिले वह सागर में ही गोते खाते२ डूबने वाला है। बहिरात्माके समान कोई अज्ञानी व पापी नहीं है। जिसको सीधा मार्ग न मिले, उल्टे रास्ते पर चले वह सच्चे ध्येयपर किस तरह पहुंच सकता है ?

श्री नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती गोम्मटसार जीवकांड में कहते हैं–

मिच्छत्तं वेदंतो जीवो विवरीयदंसणो होदि।
ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो ॥१७॥
मिच्छाइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं ॥१८॥

भावार्थ—मिथ्यात्व कर्मके फलको भोगनेवाला जीव विपरीत श्रद्धानी होता है। उसे उसी तरह धर्म नहीं रुचता है जिस तरह ज्वर से पीड़ित मानवको मिष्ट रस नहीं सुहाता है। ऐसा मिथ्यावादी जीव जिनेन्द्र कथित तत्वोंकी श्रद्धा नही लाता है। अयथार्थं तत्वोंकी श्रद्धा परके उपदेश से या बिना उपदेशके करता रहता है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य दंसणपाहुड में कहते हैं—

दंसणभट्टा भट्टा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाण।
सिज्झंति चरियभट्टा दंसणभट्टा ण सिज्झंति ॥ ३ ॥
सम्मत्तरयणभट्टा जाणता वहुविहाइ सत्थाइं।
आराहणा विरहिया भमंति तत्थेव तत्थेव ॥ ४ ॥
सम्मत्तविरहिया णं सुट्ठु वि उग्गं तव चरता ण।
ण लहंति बोहिलाह अवि वाससहस्स कोडीहि ॥ ५ ॥

भावार्थ - जिनका श्रद्धान भ्रष्ट है वे ही भ्रष्ट हैं; क्योंकि दर्शन-भ्रष्ट बहिरात्माको कभी निर्माण का लाभ नही होगा। यदि कोई चारित्रभ्रष्ट हैं परन्तु बहिरात्मा नहीं हैं तो वे सिद्ध हो सकेंगे। परन्तु जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है वे कभी मोक्ष नही पा सकेगे। जिनको सम्यग्दर्शनरूपी रत्नकी प्राप्ति नही है, वे नाना प्रकार के शास्त्रों को जानते हैं, तौभी रत्नत्रय की आराधना के बिना बारबार संसार में भ्रमण ही करेंगे। जो कोई सम्यग्दर्शन से शून्य बहिरात्मा हैं वे करोड़ों वर्ष तक भयानक कठिन तप को आचरण करते हुए भी रत्नत्रय के लाभ को या आत्मानुभव को नही पा सकते हैं।

श्री नागसेन मुनि तत्वानुशासन में कहते हैं—

शश्वदनात्मीयेषु स्वतनुप्रमुखेसु कर्मजनितेषु।
आत्मीयाभिनिवेशो ममकारो मम यथा देहः ॥ १४ ॥

ये कर्मकृता भावाः परमार्थनयेन चात्मनो भिन्नाः ।
तत्रात्माभिनिवेशोऽहंकारोऽहं यथा नृपतिः ।। १५ ।।
तदर्थानिन्द्रियैर्गृह्णन् मुह्यति द्वेष्टि रज्यते ।
ततो बंधो भ्रमत्येवं मोहव्यूहगतः पुमान् ।। १६ ।।

भावार्थ—बहिरात्मा मिथ्यादृष्टी जीव ममकार व अहंकार के दोषों से लिप्त रहता है । शरीर, धन, परिवार, देश-ग्रामादि पदार्थ जो सदा ही अपने आत्मा से जुदे हैं व जिनका संयोग कर्म के उदय से हुआ है उनको अपना आत्मा मानना ममकार है । जैसे यह शरीर मेरा है । जो कर्म के उदय से होने वाले रागादि भाव निश्चयनय से आत्मा से भिन्न हैं उन रूप ही अपने को रागी, द्वेषी आदि मानना अहंकार है । जैसे मैं राजा हूँ, यह प्राणी इन्द्रियों से पदार्थों को जान-कर उनमें मोह करता है, राग करता है, द्वेष करता है, तब कर्मों को बाँध लेता है, इस तरह यह बहिरात्मा मोह की सेना में प्राप्त हो, संसार में भ्रमण करता रहता है ।

अन्तरात्मा का स्वरूप

जो परियाणइ अप्प पर जो परभाव चएइ ।
सो पंडिउ अप्पा मुणहि सो संसार मुएइ ।। ८ ।।

निज पर का अनुभव करे, पर तज ध्यावे आप ।
अन्तरात्मा जीव सो, नाश करे त्रय ताप ।।८।।

अन्वयार्थ—(**जो अप्प पर परियाणइ**) जो कोई आत्मा को और पर को अर्थात् आपसे भिन्न पदार्थों को भले प्रकार पहचानता है (**जो परभाव चएइ**) तथा जो अपने आत्मा के स्वभाव को छोड़कर अन्य सब भावों का त्याग कर देता है (**सो पंडिउ**) वही पंडित भेद-विज्ञानी अन्तरात्मा है वह (**अप्पा मुणहि**) अपने आपका अनुभव करता है (**सो संसार मुएइ**) वही संसार से छूट जाता है ।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी को अन्तरात्मा कहते हैं । मिथ्यादृष्टी

अज्ञानी पहले गुणस्थान से चढ़कर जब चौथे में या एकदम पाँचवें में या सातवें गुणस्थान में आता है तब सम्यग्दृष्टी अन्तरात्मा हो जाता है। मिथ्यात्व की भूमि को लांघकर सम्यक्त की भूमिपर आने का उपाय यह है कि सैनी पंचेन्द्रिय जीव पांच लब्धियों की प्राप्ति करें।

१. क्षयोपशम—लब्धि में ऐसी योग्यता पावे जो बुद्धि तत्वो के समझने योग्य हो व जो अपने पापकर्म के उदय को समय २ अनन्तगुण कम करता जावे अर्थात् जो दुःखों की सन्ताप को घटा रहा हो, साता को पा रहा हो, आकुलित चित्तधारी जीव तत्व की तरफ उपयोग नही लगा सकता है।

२. विशुद्धिलब्धि—सुशिक्षा व सत् के प्रताप से भावो मे ऐसी कषाय की मंदता हो कि जिससे शुभ व नीतिमय कार्यों की तरफ चलने का प्रेम व उत्साह हो व अशुभ व अप्रीति से परिणाम अलग रख सकता हो। इस योग्यता की प्राप्ति को विशुद्ध लब्धि कहते है।

३. देशनालब्धि—अपने हित की खोज मे प्रेमी होकर श्री गुरु से व शास्त्रों से धर्मोपदेश ग्रहण करे, मनन करे, धारणा मे रखे। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इन सात तत्वों का स्वरूप व्यवहारनय से और निश्चयनय से ठीक २ जाने। व्यवहारनय से जाने कि अजीव, आस्रव, बन्ध तो त्यागने योग्य हैं व जीव, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये चार तत्व ग्रहण करने योग्य है। निश्चयनय से जाने कि इन सात तत्वों मे दो ही द्रव्य हैं -जीव व कर्मपुद्गल। कर्मपुद्गल त्यागने योग्य है व अपना ही शुद्ध जीव द्रव्य ग्रहण करने योग्य है। तथा सच्चे देव, शास्त्र, गुरुका लक्षण जानकर उन पर विश्वास लावे। इस तरह आत्मा को व परपदार्थों को ठीक २ समझे। शुद्ध निश्चय से यह भले प्रकार जान ले कि मैं एक आत्मा द्रव्य हूँ, सिद्ध के समान हूँ व अपने ही स्वभाव में परिणमन करने वाला नही हूँ। रागादि भावों का कर्ता नहीं हूँ व सांसारिक सुख व दुःख का भोगने वाला हूँ मैं केवल अपने ही शुद्ध भाव का कर्ता व शुद्ध आत्मीक आनन्द का भोक्ता हूँ, मैं आठ कर्मों में शरीरादि से व अन्य सर्व आतमादि द्रव्यों से निराला हूँ। तथा

अपने गुणों से अभेद हूँ। वह अपने आत्मा को ऐसा समझे जैसा श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार में कहा है—

जो पस्सदि अप्पाणं अबुद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥ १४ ॥

भावार्थ—जो कोई अपने आत्मा को पाँच तरह से एक अखंड शुद्ध द्रव्य समझे।

(१) यह **अबद्धस्पष्ट** है—न तो यह कर्मों से बंधा है और न यह स्पर्शित है।

(२) यह **अनन्य** है—जैसे कमल जल से निर्लेप है, वह सदा एक आत्मा ही है, कभी नर नारक देव तिर्यंच नही है। जैसे मिट्टी अपने बने बर्तनों में मिट्टी ही रहती है।

(३) यह **नियत** है - निश्चल है। जैसे पवन के झकोरे के बिना समुद्र निश्चल रहता है वैसे यह आत्मा कर्म के उदय के बिना निश्चल है।

(४) यह **अविशेष** है या सामान्य है—जैसे सुवर्ण अपने पीत, भारी, चिकने आदि गुणों से अभेद या सामान्य है वैसे यह आत्मा, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि अपने ही गुणों से अभेद या सामान्य है, एक रूप है।

(५) यह **असंयुक्त** है—जैसे पानी स्वभाव से गर्म नहीं है, ठंडा है वैसे यह आत्मा स्वभाव से परम वीतराग है—रागी, द्वेषी, मोही नहीं है।

शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि पर से भिन्न आत्मा को देखने की होती है। जैसे असल में मैले पानी के भीतर मैल से पानी जुदा है, पानी निर्मल है वैसे ही यह अपना आत्मा शरीर से, आठ कर्मों से व रागादि से सर्व परभावों से जुदा है। इस तरह आत्मा को व अनात्मा को ठीक २ जान कर आत्मा का प्रेमी हो जावे व सर्व इन्द्र, चक्रवर्ती, नारायण आदि लौकिक पदों से व संसार देह भोगों से उदास होकर उनका मोह छोड़ और अपने आत्मा का मनन करे। आत्मा के मनन

के लिए नित्य चार काम करे: —

(१) अरहंत सिद्ध परमात्मा की भक्ति पूजा करे (२) आचार्य उपाध्याय साधु तीन प्रकार के गुरुओं की सेवा करके तत्वज्ञान को ग्रहण करे, (३) तत्व प्रदर्शक ग्रंथों का अभ्यास करे, (४) एकान्त में बैठकर सबेरे सांझ कुछ देर सामयिक करे व भेदविज्ञान से अपनी व पर की आत्माओं को एक समान शुद्ध विचारे व राग द्वेष की विषमता मिटावे।

इस तरह मनन करते हुए कर्मों की स्थिति घटते घटते अत: कोड़ाकोड़ी सागर मात्र रह जाती है तब चौथी **प्रायोग्यलब्धि** अन्तर्मुहूर्त के लिये होती है तब चौतीस बन्धापसरण होते हैं। हर एक बन्धापसरण में सात सौ आठ सौ सागर कर्मों की स्थिति घटती हैं। फिर जब सम्यक्त के लाभ में एक अन्तर्मुहूर्त बाकी रहता है तब **करणलब्धि** को पाता है तब परिणाम समय-समय अनन्तगुण अधिक शुद्ध होते जाते हैं। जिन परिणामों के प्रताप से सम्यग्दर्शन के रोकने वाले अनन्तानुबन्धी चार कषाय व मिथ्यात्व कर्म का अवश्य उपशम हो जावे उन परिणामों की प्राप्ति को करणलब्धि कहते हैं। एक अन्तर्मुहूर्त में यह बहिरात्मा चौथे गुणस्थान में आकर सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा हो जाता है।

अन्तरात्मा पंडित को कहते है, क्योंकि उसको भेदविज्ञान की पंडा या बुद्धि प्राप्त हो जाती है, इसको यह शक्ति हो जाती है कि जब चाहे तब अपने आत्मा के शुद्ध स्वभाव को ध्यान में लेकर उसका अनुभव कर सके। यह नि शंक होकर तत्वज्ञान का मनन करता रहता है। चरित्रमोहनीय के उदय से गृहस्थ योग्य कार्यों को भले प्रकार करता है तो भी उनमे लिप्त नही होता। उन सबको नाटक जान के करता है। भीतर से ज्ञाता दृष्टा रहता है। भावना यह रहती है कि कब कर्म का उदय हटे कि मैं केवल एक वीतराग भावका ही रमण करता रहूँ। ऐसा अन्तरात्मा चार लक्षणों से युक्त होता है—

(१) **प्रशम**-शात भाव-वह विचारशील होकर हर एक बात पर कारण कार्य का मनन करता है, यकायक क्रोधी नहीं हो जाता।

(२) **संवेग**–वह धर्म का प्रेमी होता है व संसार शरीर व भोगों से वैरागी होता है।(३) **अनुकम्पा**–वह प्राणी मात्र पर कृपालु या दयावान होता है। (४) **आस्तिक्य**–उसे इस लोक व परलोक में श्रद्धा होती। **परमात्मप्रकाश** में कहा है—

देह-बिभिण्णउ णाणमउ, जो परमप्पु णिएइ।
परमसमाहि परिट्ठियउ, पंडिउ सो जि हवेइ ॥ १४ ॥

भावार्थ – जो कोई अपनी देह से भिन्न अपने आत्मा को ज्ञानमई परमात्मा रूप देखता है व परम समाधि में स्थिर होकर ध्यान करता है, वही पंडित अन्तरात्मा है।

दंसणपाहुड में कहा है—

छह दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा।
सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो ॥ १९ ॥
जीवादी सद्दहण सम्मत्त जिणवरेंहि पण्णत्तं।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाण हवइ सम्मत्तं ॥ २० ॥

भावार्थ–जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, काल ये द्रव्य है। काल को छोड़कर पाँच अस्तिकाय हैं। जीवादि सात तत्व है। पुण्य पाप मिलाकर नौ पदार्थ है। उन सब का जो, श्रद्धान करता है वह सम्यग्दृष्टी जानना योग्य है।

जिनेन्द्र ने कहा है कि जीवादि का श्रद्धान व्यवहार सम्यक्त है व अपने ही आत्मा का यथार्थ श्रद्धान निश्चय सम्यक्त है।

समयसारकलश मे श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं—

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः।
तेनैवान्तस्तत्त्वत. पश्यतोऽमी नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात्।५-२।

भावार्थ—वर्णादि व रागादि सर्व भाव इस आत्मा के स्वभाव से भिन्न हैं। इसलिये जो कोई निश्चयतत्व की दृष्टि से अपने भीतर देखता है उसे ये सब रागादि भाव नहीं दिखते हैं, केवल एक परमात्मा ही दिखता है।

सारसमुच्चय में कहा है—

पण्डितोऽसौ विनीतोऽसौ धर्मज्ञः प्रियदर्शनः ।
यः सदाचार सम्पन्नः सम्यक्त्वदृढमानसः ॥४२॥

भावार्थ—जो कोई सम्यग्दर्शन में मजबूत है व सदाचारी है वही पण्डित है, वही विनयवान है, वही धर्मात्मा है, उसी का दर्शन प्रिय है ।

परमात्मा का स्वरूप

णिम्मलु णिक्कलु सुद्धु जिणु विण्हु बुद्धु सिव संतु ।
सो परमप्पा जिणभणिउ एहउ जाणि णिभंतु ॥९॥

निर्मल निकल जिनेन्द्र शिवसिद्ध विष्णु बुधसंत ।
परमात्मा के नाम जिन भाषे एम अनन्त ॥९॥

अन्वयार्थ—(**णिम्मलु**) जो कर्मफल व रागादि मल रहित है (**णिक्कलु**) जो निष्कल अर्थात् शरीर रहित है (**सुद्ध**) जो शुद्ध व अभेद एक है (**जिणु**) जिसने आत्मा के सर्व शत्रुओं को जीत लिया है (**विण्हु**) जो विष्णु है अर्थात् ज्ञान की अपेक्षा सर्व लोकालोक व्यापी है—सर्व का ज्ञाता है (**बुद्धु**) जो बुद्ध है अर्थात् स्वपर तत्व को समझने वाला है (**सिव**) जो शिव है—परम कल्याणकारी है (**संतु**) जो परम शान्त व वीतराग है (**सो परमप्पा**) वही परमात्मा है (**जिणभणिउ**) ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है (**एहउ णिभंतु जाणि**) इस बात को शंका रहित जान ।

भावार्थ - परमात्मा उत्कृष्ट व परम पवित्र आत्मा को कहते हैं जो केवल एक आत्मा ही है उसके साथ किसी भी पाप पुण्य रूपी कर्म का संयोग नहीं है न वह किसी तरह का कषायभाव, राग, द्वेष, मोह रखता है । उसमें सांसारिक प्राणियों में पाये जाने वाले दोष नहीं हैं । संसारी प्राणी इच्छा व तृष्णा के वशीभूत होकर मन से किन्हीं कामों के करने का संकल्प या विचार करते हैं, वचनों से आज्ञा देते हैं,

काय से उद्यम का आरम्भ करते हैं। काम सिद्ध होने पर सन्तोषी व न सिद्ध होने पर विषाद करते हैं, किसी पर राजी होते हैं, किसी पर नाराज होते हैं। परमात्मा के भीतर मोह का लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है, न मन, वचन, काय हैं इसलिये कोई प्रकार की इच्छा या कोई प्रकार का प्रयत्न या कोई राग, द्वेष, मोह या विकार या सन्तोष या असन्तोष कुछ भी सम्भव नहीं है। इसीलिये परमात्मा में न तो जगत के करने का, बनाने व बिगाड़ने का कोई आरोप किया जा सकता है, न सुख दुख कर्ममल भुगताने का आरोप किया सकता है। वह संसार के प्रपंच जाल में नहीं पड़ सकता है। वह परम कृतकृत्य हैं।

जगत अनादि है– कर्म की जरूरत नही। काम इस जगत में या तो स्वभाव से हो जाते हैं जैसे पानी का भाप बनना, बादल बनना, पानी बरसना, नदी का बहना, मिट्टी को ले जाना, मिट्टी का जमकर भूमि बन जाना, आदि आदि। किन्ही कामों के करने में इच्छावान संसारी जीव निमित्त हैं। खेती, कपड़ा, बर्तन, आदि, मनुष्य व घोंसले आदि पक्षी इच्छा से बनाते हैं, इस तरह जगत का काम चल रहा है।

पाप पुण्य का फल भी स्वय हो जाता है। कार्मण शरीर मे बन्धा हुआ कर्म जब पकता है तब उसका फल प्रगट होता है। जैसे क्रोध, मान, माया या लोभ व कामभाव का हो जाना या नित्य ग्रहण किया हुआ भोजन पानी हवा का स्वय रस, रुधिर, अस्थि, चरबी, माँसादि खाने से मरण हो जाना।

यदि परमात्मा इस हिसाब को रखे तो उसे बहुत चिन्ता करनी पड़े। तथा यदि उसे जगत के प्राणियों पर करुणा हो तो वह सर्वशक्तिमान होने से प्राणियों के भाव ही बदल देवे जिससे वे पापकर्म न करें। जो फल दे सकता है—दड दे सकता है वह अपने अधीनों को बुरे कामों से रोक भी सकता है। परमात्मा सदा स्वरूप मगन परमानन्द का अमृत पान करते रहते हैं, उनसे कोई फल देने का विकार या उद्योग सम्भव नहीं है। जब परमात्मा किसी पर प्रसन्न होकर सुख नहीं देता है तब परमात्मा की स्तुति, भक्ति व पूजा करने का क्या प्रयोजन है ?

इसका समाधान यह है कि वह पवित्र है, शुद्ध गुणों का धारी है, उसके नाम स्मरण से, गुण स्मरण से, पूजा भक्ति करने से, भक्त-के परिणाम निर्मल हो जाते हैं, राग, द्वेष के मैल से रहित हो जाते हैं, भावों की शुद्धि से पाप स्वयं कट जाते है। शुभोपयोग से पुण्य स्वयं बंध जाता है। जैसे जड शास्त्रों के पढ़ने व सुनने से परिणामों में ज्ञान व वैराग्य आ जाता है वैसे परमात्मा की पूजा भक्ति से परिणामों में शुद्ध आत्मा का ज्ञान व संसार से वैराग्य छा जाता है। परमात्मा उदासीन निमित्त हैं, प्रेरक निमित्त नही है। हम सब उनके आलंबन से अपना भला कर लेते है। परमात्मा किसी को मुक्ति भी नही देते। हम तो परमात्मा की भक्ति के द्वारा अद्वैत एक निश्चल अपने ही आत्मा में स्थिर होकर परम समाधि का अभ्यास करेंगे तब ही कर्मों से रहित परमात्मा होंगे। इस कारण से परमात्मा निर्मल है।

परमात्मा के साथ तैजस, कार्मण, आहारक, वैक्रियिक या औदारिक किसी शरीर का सम्बन्ध नही होता है तथापि यह अमूर्तीक ज्ञानमय आकार को धरने वाला होता है। जिस शरीर से छूटकर परमात्मा होता है उस शरीर में जैसा ध्यानाकार था वैसा ही आकार मोक्ष होने पर बना रहता है। आकार बिना कोई वस्तु नही हो सकती है। अमूर्तीक द्रव्यों का अमूर्तीक व मूर्तीक पुद्गल रचित द्रव्यो का मूर्तीक आकार होता है।

परमात्मा शुद्ध है, उसमे कर्ता कर्म आदि के कारक नही हैं तथा वह अपने अनन्त गुणपर्यायो का अखण्ड अमिट एक समुदाय है जिसमें से कोई गुण छूट नहीं सकता है न कोई नवीन गुण प्रवेश कर सकता है। उसी परमात्मा को जिनेन्द्र कहते है। क्योंकि जगत में कोई शक्ति नही है कि जो उसको जीत सके व उसे पुनः संसारी या विकारी बना सके। वह सदा विनयशील रहता है। बिना कारण के रागद्वेष मे नही फँसता है, न पाप पुण्य को बाँधता है।

परमात्मा पद किसी कर्म का फल नहीं है। किन्तु स्वाभाविक आत्मा का पद है। इसलिये यह कभी विभाव रूप नही हो सकता है। वही परमात्मा सच्चा विष्णु है, क्योंकि वह सर्वज्ञ होने से उसके ज्ञान

में सर्व द्रव्यों के गुण पर्याय एक साथ विराजमान है। इसलिये वह सर्वव्यापी विष्णु है, वही सच्चा बुद्ध है, क्योंकि ज्ञाता दृष्टा है व सर्व अज्ञान से रहित है। वही सच्चा शिव है, मंगलरूप है। उसके भजने से हमारा कल्याण होता है। तथा वह परमात्मा परम शान्त है, परम वीतराग है।

निश्चय से सिद्ध परमात्मा ही सच्चे परमात्मा हैं। अरहंत की आत्मा में भी परमात्मा के गुण प्रगट हैं। परन्तु वे चार अघातीय कर्मसहित हैं, शरीर सहित हैं। परन्तु शीघ्र ही सिद्ध होंगे। इसलिये उनको भी परमात्मा कहते हैं। सर्वज्ञ व वीतराग दोनों ही अरहंत व सिद्ध परमात्मा हैं।

परमात्मा हमारे लिये आदर्श हैं, हमें उनको पहचानकर उनके समान अपने को बनाने की चेष्टा करनी चाहिये **परमात्मप्रकाश** में कहा है—

अप्पा लद्धउ णाणमउ, कम्मविमुक्कें जेण।
मेल्लिवि सयलु वि दव्वु परु, सो परु मुणहिं मणेण ॥१५॥
णिच्चु णिरंजणु णाणमउ, परमाणंदसहाउ।
जो एहउ सो संतु सिउ, तासु मुणज्जहि भाउ ॥१७॥
वेयहि सत्थहि इंदियहि, जो जिय मुणहु ण जाइ।
णिम्मल झाणहं जो बिसउ, सो परमप्पु अणाइ ॥२३॥

भावार्थ—जिसने सर्व कर्मों को दूर करके व सर्व देहादि पर-द्रव्यों का संयोग हटाकर अपने ज्ञानमय आत्मा को पाया है वही परमात्मा है, उसको शुद्ध मन से जान। यह परमात्मा नित्य है, निरंजन या वीतराग है, ज्ञानमय है, परमानन्द स्वभाव का धारी है। वही शिव है, शान्त है। उसके शुद्ध स्वभाव को पहचान, जिसको वेदों के द्वारा, शास्त्रों के द्वारा, इन्द्रियों के द्वारा जाना नहीं जा सकता। मात्र निर्मल ध्यान में वह झलकता है। वही अनादि, अनन्त, अवि-नाशी, शुद्ध आत्मा परमात्मा है। **समाधिशतक** में कहा है—

निर्मलः केवलः शुद्धो विविक्तः प्रभुरव्ययः।
परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः ॥६॥

भावार्थ—परमात्मा कर्ममल रहित है, केवल स्वाधीन है साध्य को सिद्ध करके सिद्ध है, सब द्रव्यों की सत्ता से निराला सत्ता का धारी है, वही अनन्तवीर्य धारी प्रभु है, वही अविनाशी है, परम पद में रहने वाला परमेष्ठी है, वही श्रेष्ठ आत्मा है, वही शुद्ध गुणरूपी ऐश्वर्य का धारी ईश्वर है, वही परम विजयी जिनेन्द्र है।

श्री समन्तभद्राचार्य स्वयंभूस्तोत्र में कहते हैं—

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्त वैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चित्त दुरिताञ्जनेभ्यः ॥५७॥
दुरितमलकलङ्कमष्टकं निरुपमयोगबलेन निर्दहन्।
अभवदभवसौख्यवान् भवान् भवतु ममापि भवोपशांतये ।११५।

भावार्थ—परमात्मा वीतराग हैं, हमारी पूजा से प्रसन्न नहीं होते। परमात्मा वैर रहित हैं, हमारी निन्दा से अप्रसन्न नहीं होते। तथापि उनके पवित्र गुणों का स्मरण मन को पाप के मैल से साफ कर देता है। अनुपम योगाभ्यास से जिसने आठ कम के कठिन कलङ्क को जिसने जला डाला है व जो मोक्ष के अतीन्द्रिय सुख का भोगने वाला है वही परमात्मा है। मेरे संसार को शान्त करने के लिये वह उदासीन सहायक हैं। उसके ध्यान से मै संसार का क्षय कर सकूंगा।

बहिरात्मा पर को आप जानता है

देहादिउ जे पर कहिया ते अप्पाण मुणेइ।
सो बहिरप्पा जिणभणिउ पुणु संसार भमेइ ॥१०॥

अहंकार भव में करे, तन धन जन ममकार।
बहिरातम भव भ्रमें, जिनवर कही उचार ॥१०॥

अन्वयार्थ—(देहादिउ जे पर कहिया) शरीर आदि जिनको आत्मा से भिन्न कहा गया है (ते अप्पाणु मुणेइ) तिन रूप ही अपने को मानता है (सो बहिरप्पा) वह बहिरात्मा है (जिण भणिउ) ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है (पुणु संसार भमेइ) वह बार-बार संसार में भ्रमण करता रहता है।

भावार्थ—आत्मा वास्तव में एक अखंड अमूर्तीक ज्ञानस्वरूपी द्रव्य है। इसका स्वभाव परम शुद्ध है। निर्मल जल के समान यह परम वीतराग शान्त व परमानन्दमय है। जैसा सिद्ध परमात्मा सिद्ध क्षेत्र में एकाकी निरंजन शुद्ध द्रव्य है वैसा ही यह अपना आत्मा शरीर के भीतर है। अपने आत्मा में और परमात्मा में सत्ता की अपेक्षा अर्थात् प्रदेशों की या आकार की अपेक्षा बिल्कुल भिन्नता है परन्तु गुणों की अपेक्षा बिलकुल एकता है। जितने गुण एक आत्मा में हैं उतने गुण दूसरे आत्मा में हैं। प्रदेशों की गणना भी समान है। हर एक असंख्यात प्रदेश धारी है।

इस तरह का यह आत्मा द्रव्य है। जो कोई ऐसा नहीं मानता किन्तु आत्मा के साथ आठ कर्मों का संयोग सम्बन्ध होने में उन कर्मों के उदय या फल से जो जो अशुद्ध अवस्थाएँ आत्मा की झलकती हैं उनको आत्मा का स्वभाव जो मान लेता है वह बहिरात्मा है।

जैसे पानी मे भिन्न २ प्रकार का रंग मिला देने से पानी लाल, हरा, पीला, काला, नीला दिखता है। इस रंगीन पानी को कोई असली पानी मान ले तो उसको मूढ़ व अज्ञानी कहेंगे तथा वह पानी के स्थान में रंगीन पानी पीकर पानी का असली स्वाद नही पा सकेगा, उसी तरह जो कर्मों के उदय से होने वाली विकारी अवस्थाओं को आत्मा मान लेगा और उस आत्मा का ग्रहण करके उसका ध्यान करेगा उस अज्ञानी को असली आत्मा के ज्ञानानन्द स्वभाव का स्वाद नहीं मिलेगा, वह विपरीत स्वाद को ही आत्मा का स्वाद मान लेगा। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय के क्षयोपशम से जो अल्प व अशुद्ध ज्ञानदर्शनवीर्य संसारी जीवों में प्रगट होता है वह इन तीन प्रकार के कर्मों के उदय से मलीन हैं।

जहां सर्वघाती कर्मस्पर्द्धकों का उदयाभाव लक्षण क्षय हो, अर्थात् बिना फल दिये झड़ना हो तथा आगामी उदय आनेवालों का सत्तारूप उपशम हो तथा देशघाती स्पर्द्धकों का उदय हो उसको क्षयो-पशम कहते हैं। इस मलीन अल्प ज्ञान दर्शन वीर्य को पूर्ण ज्ञान दर्शन वीर्य मानना मिथ्या है। इसी तरह मोहनीय कर्म के उदय से क्रोध,

मान, माया, लोभ भाव या हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा व स्त्रीवेद, पुंवेद व नपुंसक वेद भाव होता है। कभी लोभ का तीव्र उदय होता है तब उसको अशुभ राग कहते हैं, कभी लोभ का मन्द उदय होता है तब उसे शुभ राग कहते हैं।

मान, माया, क्रोध के तीव्र उदय को भी अशुभ भाव व मन्द को जो शुभ राग का सहकारी हो, शुभ भाव कहते हैं। पूजा, भक्ति, दान, परोपकार, सेवा, क्षमा, नम्रता, सरलता, सत्य, सन्तोष, संयम, उपवासादि तप, आहार, औषधि अभय व विद्यादान, अल्प ममत्व व ब्रह्मचर्य पालन आदि भावों को शुभ भाव या शुभोपयोग कहते हैं। ऐसे भावों से पुण्यकर्म का बन्ध होता है।

हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, मूर्छा, जूआ खेलना, मांसाहार, मदिरापान, शिकार, वेश्या सेवन, परस्त्री सेवन, पर का अपकार, दुष्ट व्यवहार, इन्द्रियों की लोलुपता, तीव्र अहंकार, कपट से ठगना, तीव्र क्रोध, तीव्र लोभ, तीव्र काम भाव आदि भावों को अशुभ भाव या अशुभोपयोग कहते है। इन अशुभ भावों से पापकर्म का बन्ध होता है। इन मोहनीय कर्मजनित मलीन व अशुचि, अकुशलता, दुःखप्रद, शान्ति विघातक भावों को आत्मा का भाव मान लेना मिथ्या है।

अघातीय कर्मों में आयु कर्म के उदय से नरक, तिर्यच, मानव, देव चार प्रकार शरीरों में आत्मा कैद रहता है। इस कैदखाने को आत्मा का घर मानना मिथ्या है। नामकर्म के उदय से शरीर की सुन्दर, असुन्दर, निरोगी, सरोगी, बलिष्ठ, निर्बल आदि अनेक अवस्थाएँ होती है उनको आत्मा मानना मिथ्या है। गोत्र कर्म के उदय से नीच व ऊँच कुल वाला कहलाता है। उन कुलों को आत्मा मानना मिथ्या हैं। वेदनीयकर्म के उदय से साताकारी व असाताकारी शरीर की अवस्था होती है या धन, कुटुम्ब, राज्य, भूमि, वाहन, घर आदि बाहरी अच्छे व बुरे, चेतन व अचेतन पदार्थों का सम्बन्ध होता है, उनको अपना मानना मिथ्या है।

बहिरात्मा अज्ञान से कर्मजनित दशाओं के भीतर आपापन मान कर अपने आत्मा के सच्चे स्वभाव को भूले हुए कभी भी निर्वाण

नहीं पा सकता। निरन्तर शुभ अशुभ कर्म बाँधकर एक गति से दूसरी में, दूसरी से तीसरी में इस तरह अनादि काल से भ्रमण करता चला आया है।

यदि कोई साधु गृहस्थ का चरित्र पाले और इसे भी आत्मा का स्वभाव जान ले कि मैं साधु मैं श्रावक ऐसा अहंकार करे तो वह भी बहिरात्मा है।

यद्यपि ज्ञानी श्रावक व साधु का आचरण पालता है तो भी वह उसे विभाव जानता है, आत्मा का स्वभाव नहीं जानता। परम शुद्धोपयोग भावरूप ही आत्मा है। शुक्ल ध्यान जो साधु के होता है वह परम शुद्धोपयोग नहीं है, क्योंकि दशवें गुणस्थान तक तो मोह का उदय मिला हुआ है। ग्यारहवें बारहवे में अज्ञान है, पूर्ण नहीं इसलिए इस अपरम शुद्धोपयोग को भी आत्मा का स्वभाव मानना मिथ्याभाव है। श्री **समयसार** में कहा है—

परमाणुमित्तिय वि हु रागादीणं तु विज्जदे जस्स।
णवि सो जाणदि अप्पा णयं तु सव्वागमधरो वि ॥२१४॥

भावार्थ—जिसके भीतर परमाणु मात्र थोड़ा सा भी अज्ञान सम्बन्धी रागभाव है कि परद्रव्य या परभाव आत्मा है वह श्रुतकेवली के समान बहुत शास्त्रों का ज्ञाता है तो भी वह आत्मा को नहीं पहचानता है, इसलिये बहिरात्मा है।

पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में श्री अमृतचन्द्र आचार्य कहते हैं—

परिणममाणो नित्यं ज्ञानविवर्त्तैरनादिसन्तत्वया।
परिणामानां स्वेषां स भवति कर्त्ता च भोक्ता च ॥१०॥
जीवकृत परिणाम निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गला: कर्मभावेन ॥१२॥
परिणममाणस्य चितश्चिदात्मकै: स्वयमपि स्वकर्मभावैः।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥१३॥
एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव।
प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भावबीजम् ॥१४॥

भावार्थ—यह जीव अनादि काल की परिपाटी से ज्ञानावर-

आदि कर्मों के उदय के साथ परिणमन या व्यवहार करता हुआ जो अपने अशुद्ध परिणाम करता है उन ही का यह अज्ञानी जीव अपने को कर्ता तथा भोक्ता मान लेता है कि मैंने अच्छा किया वा बुरा किया, या मैं सुखी हूं या दुखी हू। इस आत्मानन्दमई जीव के परिणामों का निमित्त पाकर दूसरी पौद्गलिक कर्मवर्गणाएँ स्वयं हो र बन्ध जाती हैं। जब यह जीव स्वयं अपने अशुद्ध भावों में परिण . . . रता है तब उस समय पूर्व में बांधा पौद्गलिक कर्म उदय में आकर उस अशुद्ध भाव का निमित्त होता है। इस तरह कर्म फल भावों को व कर्मों के बंध को व कर्म के उदय को बहिरात्मा अपने मान लेता है। निश्चय से आत्मा इन सब कर्म कृत भावों से जुदा है। तौ भी अज्ञानी बहिरात्माओं के यही प्रतिभास या भ्रम रहता है कि वे सब भाव या विकार या दशा मेरी ही है। कर्म कृत परिणामों को या रचना को जो निश्चय से पर है, अपनी स्वाभाविक परिणति या दशा मान लेना संसार भ्रमण का बीज है। यह बीज संसार-वृक्ष को बढ़ाता है।

बहिरात्मा अन्धा मोही होकर ससार-वन में भटकता रहता है।
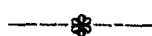
ज्ञानीको परको आत्मा नहीं मानना चाहिए

देहादिउ जे परकहिया ते अप्पाणु ण होंहि।
इउ जाणेविणु जीव तुहुं अप्पा अप्प मुणेहि ॥११॥

देहादिक पुद्गल मयी, सो जड़ हैं परजान।
ज्ञाता दृष्टा आप तू, चेतन निज पहिचान ॥११॥

अन्वयार्थ—(**देहादिउ जे परकहिया**) शरीर आदि अपने आत्मा से भिन्न कहे गये है ते (**अप्पाणु ण होंहि**) वे पदार्थ आत्मा नहीं हो सकते व उन रूप आत्मा नही हो सकता याने आत्मा के नहीं हो सकते (**इउजाणेविणु**) ऐसा समझ कर (**जीव**) है जीव! (**तुहुं अप्पा अप्प मुणेहि**) तू अपने को आत्मा पहचान, यथार्थ आत्मा का बोध कर।

भावार्थ—बहिरात्मा जब पर वस्तुओं को व परभावों को अपना आत्मा मानता है तब अन्तरात्मा ऐसा नहीं मानता है। वह

मानता है कि आत्मा आत्मरूप ही है। आत्मा का स्वभाव सर्व अन्य आत्माओं से व पुद्गलादि पांच द्रव्यों से व आठ कर्मों से व आठ कर्मों के फल से, सर्व रागादि भावों से निराला परम शुद्ध है। भेद विज्ञान की कला से वह आत्मा को पर से बिलकुल भिन्न श्रद्धान रखता है। भेदविज्ञान की शक्ति से ही भ्रमभाव का नाश होता है। हंस दूध को पानी से भिन्न ग्रहण करता है, किसान धान्य में चावल को भूसी से अलग जानता है। सुवर्ण माला में सर्राफ सुवर्ण को धागे आदि से भिन्न समझता है। पकी हुई साग, भाजी में लवण का स्वाद साग से भिन्न समझदार को आता है। चतुर वैद्य एक गुटिका में सर्व औषधियों को अलग-अलग समझता है। इसी तरह ज्ञानी अन्तरात्मा आत्मा को सर्व देहादि पर द्रव्यों से भिन्न जानता है।

आत्मा वास्तव में अनुभव गम्य है। मन से इसका यथार्थ चिंतवन नहीं हो सकता, वचनों से इसका वर्णन नहीं हो सकता, शरीर से इसका स्पर्श नहीं हो सकता। क्योंकि मन का काम क्रम से किसी स्वरूप का विचार करना है। वचनों से एक ही गुण या स्वभाव एक साथ कहा जा सकता है। शरीर मूर्तीक स्थूल द्रव्य को ही स्पर्श कर सकता है जब कि आत्मा अनन्तगुण व पर्यायों का अखण्ड पिंड है। केवल अनुभव में ही इसका स्वरूप आ सकता है। वचनों से मात्र संकेत रूप से कहा जा सकता है। मन के द्वारा क्रम से ही विचारा जा सकता है इसलिये यह उपदेश है कि पहले शास्त्रों के द्वारा या यथार्थ गुरु के उपदेश से आत्मा द्रव्य के गुण व पर्यायों को समझ ले, उसके शुद्ध स्वभाव को ही जाने तथा पर के संयोग जनित अशुद्ध स्वभाव को भी जाने अर्थात् द्रव्यार्थिकनय से तथा पर्यायार्थिकनय से या निश्चयनय से तथा व्यवहारनय से आत्मा को भले प्रकार जाने।

इस आत्मा का सम्बन्ध किसी परवस्तु से नहीं है। यह आत्मा अपने ही ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणों का स्वामी है। इसका धन इसकी गुण सम्पदा है, इसका निवास या घर इसी का स्वभाव है। इस आत्मा का भोजन पान आदिक आनन्द अमृत है। आत्मा में ही सम्यग्दर्शन है, आत्मा में ही सम्यग्ज्ञान है, आत्मा में ही सम्यक्चारित्र

है, आत्मा में ही सम्यक् तप है, आत्मा में ही संयम है, आत्मा में ही त्याग है, आत्मा में ही संवर तत्व है, आत्मा में ही निर्जरा है, आत्मा में ही मोक्ष है। जिसने अपने उपयोग को आत्मा में जोड़ दिया उसने मोक्षमार्ग को पा लिया।

आत्मा आप ही से आप में क्रीड़ा करता हुआ शनैः-शनैः शुद्ध होता हुआ परमात्मा हो जाता है। जितनी मन, वचन, काय की शुभ व अशुभ क्रियायें हैं वे सब पर हैं, आत्मा नही है। चौदह गुणस्थान की सीढ़ियाँ भी आत्मा का निज स्वभाव नही है। आत्मा परम पारणामिक एक जीवत्व भाव का धनी है, जिसका प्रकाश कर्मरहित सिद्ध गति में होता है। जहाँ सिद्धत्व भाव है। अन्तरात्मा अपने आत्मा को पर-भावों का अकर्ता व अभोक्ता देखता है। वह जानता है कि आत्मा ज्ञान चेतनामय है अर्थात् यह मात्र शुद्ध ज्ञान का स्वाद लेने वाला है। इसमे राग-द्वेष रूप कार्य करने का अनुभव रूप कर्म चेतना तथा सुख-दुःख भोगने रूप कर्म फल चेतना नही है।

आत्मा का पहचानने वाला अन्तरात्मा एक आत्मरसिक हो जाता है, आत्मानन्द का प्रेमी हो जाता है, उसके भीतर से विषय भोग जनित सुख की श्रद्धा मिट जाती है, वह एक आत्मानुभव को ही अपना कार्य समझता है, उसके सिवाय जो व्यवहार मे गृहस्थ या मुनि अन्तरात्मा को कर्तव्य करना पडता है वह सब मोहनीय कर्म के उदय की प्रेरणा से होता है। इसीलिये ज्ञानी अन्तरात्मा सर्व ही धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थ की चेष्टा को आत्मा का स्वाभाविक धर्म नही मानता है। आत्मा तो स्वभाव मे सर्व चेष्टारहित निश्चल परम कृतकृत्य है।

इस तरह आत्मा को केवल आत्मा रूप ही टंकोत्कीर्ण ज्ञाता दृष्टा परमानन्दमय समझ कर उसी में रमण करने का अत्यन्त प्रेमी हो जाना अन्तरात्मा का स्वभाव बन जाता है। तीन लोक की संपत्ति को वह आदर से नही देखता है, उसका प्रतिष्ठा का स्थान केवल अपना ही शुद्ध स्वभाव है। इसी कारण से सम्यग्दृष्टी अन्तरात्मा को जीवन्मुक्त कहते हैं। यह यथार्थ ज्ञान से व परम वैराग्य से पूर्ण होता है। परम तत्त्व का एक मात्र रुचिवान होता है। उसकी दृष्टि एक शुद्ध आत्मतत्त्व पर जम जाती है। **समयसार** में कहा है—

पुग्गलकम्मं रागो तस्स विवागोदओ हवदि एसो ।
ण हु एस मज्झ भावो जाणगभावो दु अहमिक्को ॥२०७॥
उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिदो जिणवरेहिं ।
णदु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को ॥२१०॥
उप्पण्णोदयभोगे विओगबुद्धीय तस्स सो णिच्चं ।
कंखामणागदस्स य उदयस्स ण कुव्वदे णाणी ॥२२८॥

भावार्थ—राग एक पुद्गलकर्म है, उसके फल से आत्मा में राग भाव होता है। यह कर्मकृत विकार है, मेरा स्वभाव नहीं है, मैं तो एक ज्ञायक भाव का धारी आत्मा हूँ। जिनेन्द्रों ने कहा है कि कर्मों के उदय से जो नाना प्रकार का फल होता है वह सब मेरे आत्मा का स्वभाव नहीं है। मैं तो एक ज्ञायक भाव का धारी आत्मा हूँ। कर्मोदय से प्राप्त वर्तमान भोगों में भी ज्ञानी के आदर नहीं है, वियोग बुद्धि ही है। तब ज्ञानी आगामी भोगों की इच्छा कैसे कर सकता है?

समयसारकलश में कहा है—

इति वस्तुस्वभाव स्वं ज्ञानी जानाति तेन सः ।
रागादीन्नात्मनः कुर्यान्नातो भवति कारकः ॥१४॥

भावार्थ—ज्ञानी अपनी आत्म वस्तु के स्वभाव को ठीक-ठीक जानता है इसलिये रागादि भावों को कभी आत्मा का धन नही मानता है, आप उनका कर्ता नही होता है, वे कर्मोदय से होते हैं, यह उनका जानने वाला है।

बृहत सामायिक पाठ मे श्री अमितगति आचार्य कहते हैं—

नाहं कस्यचिदस्मि कश्चन न मे भावः परो विद्यते
मुक्त्वात्मानमपास्तकर्म्मसमिति ज्ञानेक्षणालंकृति ।
यस्यैषामतिरस्ति चेतसि सदा ज्ञातात्मतत्त्वस्थिते—
र्बंधस्तस्य न मंत्रितस्त्रिभुवनं सांसारिकैर्बंधनैः ॥११॥

भावार्थ—अंतरात्मा ज्ञानी विचारता है कि मैं तो ज्ञान नेत्रों से अलंकृत व सर्व कर्म-समूह से रहित एक आत्मा द्रव्य हूँ। उसके सिवाय कोई परद्रव्य या परभाव मेरा नही है न मै किसी का संबंधी हूँ। जिस आत्मीक तत्त्व के ज्ञाता के भीतर ऐसी निर्मल बुद्धि सदा

रहती है उसका संसारीक बंधनों से तीन लोक में कहीं भी बंधन नहीं हो सकता।

नागसेन मुनि तत्वानुशासन में कहते हैं—

सद्द्रव्यमस्मि चिदहं ज्ञाता द्रष्टा सदाप्युदासीनः।

स्वोपात्तदेहमात्रस्ततः पृथग्गगनवदमूर्त्तः ॥१५३॥

भावार्थ—मैं सत् भाव द्रव्य हूँ, चैतन्यमय हूँ, ज्ञाता द्रष्टा हूँ। सदा ही वैराग्यवान हूँ। यद्यपि शरीर में शरीर प्रमाण हूँ तौ भी शरीर से जुदा हूँ। आकाश के सामान अमूर्तीक हूँ।

——*——

आत्मज्ञानी ही निर्वाण पाता है

अप्पा अप्पउ जइ मुणहि तउ णिव्वाण लहेहि।

पर अप्पा जइ मुणसि तुहुं तहु संसार भमेहि ॥१२॥

आप अपने रूप को, जाने सो शिव होई।

पर में अपनी कल्पना, करे भ्रमे जग सोई ॥१२॥

अन्वयार्थ—(**जइ**) यदि (**अप्पा अप्पउ मुणहि**) आत्मा को आत्मा समझेगा (**तउ णिव्वाण लहेहि**) तो निर्वाण को पावेगा (**जउ**) यदि (**पर अप्पा मुणहि**) पर पदार्थों को आत्मा मानेगा (**तहु तुहुं-संसार भमेहि**) तो तू संसार में भ्रमण करेगा।

भावार्थ—निर्वाण उसे कहते है जहाँ आत्मा सर्व राग-द्वेष, मोहादि दोषों से मुक्त होकर व सर्व कर्म कलक से छूट कर शुद्ध सुवर्ण के समान पूर्ण शुद्ध हो जावे और फिर सदा ही शुद्ध भावों में ही कल्लोल करे व निरन्तर आनन्दामृत का स्वाद लेवे। वह आत्मा का स्वाभाविक पद है। इस निर्वाण का साधन भी अपने ही आत्मा को आत्मारूप समझ कर उसी का वैसा ही ध्यान करना है।

हर एक कार्य के लिये उपादान और निमित्त दो कारणों की जरूरत है। मूल कारण को उपादान कारण कहते हैं जो स्वयं कार्य रूप हो जावे। सहायक कारणों को निमित्त कारण कहते हैं। घड़े के

बनाने में मिट्टी उपादान कारण है, कुम्हार चाक आदि निमित्त कारण हैं। कपड़े के बनाने में कपास उपादान कारण है, चरखा करघा आदि निमित्त कारण हैं सुवर्ण की मुद्रिका बनाने में सुवर्ण उपादान कारण है, सुवर्णकार, उसके शस्त्र व अग्नि आदि निमित्त कारण हैं।

इसी तरह आत्मा के शुद्ध होने में उपादान कारण आत्मा ही है, निमित्त कारण व्यवहार रत्नत्रय है, मुनि व श्रावक का चारित्र है, बारह तप हैं, मन, वचन, काय की क्रिया का निरोध है। निमित्त के होते हुये उपादान काम करता है। जैसे अग्नि का निमित्त होते हुये चावल भात के रूप मे बदलता है, दोनों कारणों की जरूरत है। साधक को या मुमुक्षु को सबसे पहले व्यवहार सम्यग्दर्शन द्वारा अर्थात् परमार्थ देव, शास्त्र, गुरु के श्रद्धान तथा जीवादि सात तत्त्वों के श्रद्धान द्वारा मनन करके भेद ज्ञान की दृढ़ता से अपने आत्मा की प्रतीति रूप निश्चय सम्यग्दर्शन को प्राप्त करना चाहिये। तब ही आत्म ज्ञान का यथार्थ उदय हो जायगा, वीतरागता का अंश झलक जायगा, संवर व निर्जरा का कार्य प्रारम्भ हो जायगा, मोक्षमार्ग का उदय हो जायगा। कर्मों का बन्ध जब राग-द्वेष मोह से होता है, तब कर्मों का क्षय वीत-राग भाव से होता है। वीतराग भाव अपने ही आत्मा का राग-द्वेष मोह रहित परिणमन या वर्तन हैं। मुमुक्षु का कर्तव्य है कि वह बुद्धि-पूर्वक परिणामों को वीतराग भाव में लाने का पुरुषार्थ करे। तब कर्म स्वयं झड़ेंगे व नवीन कर्म के आस्रव का संवर होगा।

राग, द्वेष, मोह के पैदा होने मे भीतरी निमित्त मोहकर्म का उदय है; बाहरी निमित्त दूसरे चेतन व अचेतन पदार्थों का संयोग व उनके साथ व्यवहार है। इसलिए बाहरी निमित्तों को हटाने के लिये श्रावक के बारह व्रतों की प्रतिज्ञा लेकर ग्यारह प्रतिमा की पूर्ति तक बाहरी परिग्रह को घटाते-घटाते एक लंगोट मात्र पर आना होता है। फिर निर्ग्रंथ दशा धारण करके बालक के समान नग्न हो जाना पड़ता है, साधु का चारित्र पालना पड़ता है, एकांत में निवास करना पड़ता है, निर्जन स्थानों में आसन जमाकर आत्मा का ध्यान करना पड़ता है, अनशन ऊनोदर रस त्याग आदि तप से ही इच्छा का निरोध करना पड़ता है। श्रावक का या साधु का सर्व व्यवहार चारित्र पालते हुये

बाहरी निमित्त मिलाते हुये साधक की दृष्टि उपादान कारण को उच्च बनाने की तरफ रहनी चाहिये। अर्थात् अपने ही शुद्धात्मा के स्वभाव में रमण करने की व स्थिर होने की परम चेष्टा रहनी चाहिये।

साधक को बाहरी चारित्रों में निमित्त मात्र से सन्तोष न करना चाहिये। जब आत्मा आत्मसमाधि में व आत्मानुभव में वर्तन करे तब ही कुछ फल हुआ, तब ही मोक्षमार्ग सधा ऐसा भाव रखना चाहिये। क्योंकि जब तक शुद्धात्मध्यान होकर शुद्धोपयोग का अंश नही प्रकट होगा तब तक संवर व निर्जरा के तत्त्व नही प्रगट होंगे। तब तक आत्मा की एकदेश शुद्धि नही होगी निश्चय से ऐसा समझना चाहिये कि निर्वाण का मार्ग एक आत्मध्यान की अग्नि का जलना है, एक आत्मानुभव है; आत्मा का आत्मारूप ज्ञान है, आप ही आपको शुद्ध करना है, उपादान कारण आप ही है। यदि परिणामो मे आत्मानुभव नही प्रगटे तो बाहरी चारित्र से शुभ भावों के कारण बध होगा, ससार बढ़ेगा, मोक्ष का साधन नहीं होगा।

इसके विरोध मे जब कि आत्मा का यथार्थ ज्ञान नही होगा व जब तक आत्मा को अन्यरूप मानता रहेगा, जैसा उसको जिनेन्द्र भगवान कथित स्वरूप है वैसा नही मानेगा, आत्मा को सासारिक विकार का कर्ता व भोक्ता मानेगा व जब तक परमाणु मात्र भी मोह अपने आत्मा के सिवाय परपदार्थों में रहेगा तब तक मिथ्यात्व की कालिमा नही मिटी ऐसा समझना होगा।

मिथ्यात्व की कालिमा के होते हुए बाहरी साधु का व गृहस्थ का चारित्र पालते हुए भी संसार ही बढ़ेगा। विशेष पुण्य बाधकर शुभगति में जाकर फिर अशुभ गति मे चला जायगा। जहाँ तक आत्मा का आत्मारूप श्रद्धान नही होगा वहाँ तक मिथ्यादर्शन का अनादि रोग दूर नही होगा। पर्यायबुद्धि वा अहकार नही मिटेगा। विषय भोगों की कामना का अंश जब तक नही मिटेगा तब तक मिथ्या भाव नहीं हटेगा विषय भोगों का सुख त्यागने योग्य है, यह श्रद्धान जब तक न होगा तब तक मिथ्यात्व न हटेगा।

मिथ्यादृष्टि रुचिपूर्वक आसक्ति से विषय भोग करता है।

सम्यक्त । गृहस्थ अनासक्ति से व कर्मों के उदय में लाचार होकर विषयभोग करता है व भावना भाता है कि यह कर्म का विकार शीघ्र दूर हो तो ठीक है। भोगों से पूर्ण वैराग्य भाव ज्ञानी के होता है। अज्ञानी के व मिथ्यादृष्टि के तप करते हुए भी भोगों से राग बना रहता है, इसी से उसका संसार बढ़ता है। वह संसार से पार होने का मार्ग नही पाता है।

समयसार मे कहा है—

रत्तो बधदि कम्मं मुचदि जीवो विरागसंपण्णो।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥१६०॥
परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी।
तम्हि ठिदा सब्भावे मुणिणो पावंति णिव्वाण ॥१६१॥
परमट्ठम्मिय अठिदो जो कुणदि तवं वद च धारयदि।
त सव्व बालतव बालवद विंति सव्वण्हु ॥१६२॥

भावार्थ– श्री जिनेन्द्र का ऐसा उपदेश है कि रागी जीव कर्मों मे बँधता है। वैराग्य से पूर्ण जीव कर्म से छूटता है। इसलिए बध के कारक शुभ व अशुभ कार्यों में राग नहीं करो।

निश्चय से परम पदार्थ एक आत्मा है। वही अपने स्वभाव में एक ही काल परिणमन करने से व जानने से समय है, वही एक ज्ञान-मय निर्विकार होने से शुद्ध है, वही स्वतन्त्र चैतन्यमय होने से केवली है, वही मननमात्र होने से मुनि है, वही ज्ञानमय होने से ज्ञानी है। जो मुनिगण ऐसे अपने ही आत्मा के स्वभाव में स्थिर होते हैं, आत्मस्थ होते है वे ही निर्वाण को पाते हैं। जो कोई परम पदार्थ अपने आत्मा की स्थिति न पाकर तप तथा व्रत पालता है उसका सर्व तप या व्रत आत्मज्ञान या आत्मानुभव की चेष्टा से शून्य है, सर्वज्ञ भगवान ने उसे अज्ञान तप व अज्ञान व्रत कहा है।

समयसार कलश मे कहा है—

पदमिदं ननु कर्मदुरासदं सहजबोधकलासुलभ किल।
तत इदं निजबोधकलाबलात्कलयितु यततां सततं जगत् ॥१-७॥

भावार्थ—निर्वाण का पद शुभ क्रियाओं के करने से कभी प्राप्त नहीं हो सकता। वह तो सहज आत्मज्ञान की कला से सहज में मिलता है। इसीलिये जगत् के मुमुक्षुओं का कर्तव्य है कि वे आत्मज्ञान की कला के बल से सदा ही उसी का यत्न करें।

तत्वानुशासन में कहा है—

पश्यन्नात्मानमैकाग्र्यात्क्षपयत्यर्जितान्मलान्।
निरस्ताहंममीभावः संवृणोत्यप्यनागतान् ॥१७८॥

भावार्थ—जो कोई परपदार्थों में अहंकार ममकारका त्याग करके एकाग्रभाव से अपने आत्मा का अनुभव करता है वह पूर्व संचय किये हुये कर्ममलों को नाश करता है तथा नवीन कर्मों का संवर भी करता है।

——❀——

इच्छारहित तप ही निर्वाण का कारण है

इच्छारहिउ तव करहि अप्पा अप्प मुणेहि।
तउ लहु पावइ परमगइ पुण संसार ण एहि ॥१३॥

बिन इच्छा शुचि तप करे, लखे आप गुण आप।
निश्चय पावे परमपद, फिर न तपे भवताप ॥१३॥

अन्वयार्थ—**(अप्पा)** हे आत्मा **(इच्छा रहियउ तव करहि)** यदि तू इच्छा रहित होकर तप करे **(अप्प मुणेहि)** व आत्मा का अनुभव करे **(तउ लहु परमगइ पावइ)** तौ तू शीघ्र ही परम गति को पावे **(पुण संसार ण एहि)** फिर निश्चय से कभी ससार में नहीं आवे।

भावार्थ—जैसे मलीन सुवर्ण अग्नि में मसाला डालने से शुद्ध होता है, उसका मैल कटता है, वैसे ही तप की अग्नि में ज्ञान वैराग्य का मसाला डालने से यह अशुद्ध आत्मा कर्ममैल को काटकर शुद्ध होता है। शुद्ध सुवर्ण जो कुन्दन है वह फिर कभी मलीन नहीं होता है अर्थात् मलिन किट्ट कालिमा से नहीं मिलता है, वैसे ही शुद्ध व मुक्त आत्मा फिर कर्मों के बँधन में नहीं पड़ता है, फिर संसार में जन्म व मरण नहीं करता है।

इसलिए मुमुक्षु को तप का अभ्यास करना चाहिए। तप करते हुए किसी प्रकार की इच्छा नहीं रखनी चाहिये कि तप से नारायण, प्रतिनारायण, बलदेव, चक्रवर्ती, इन्द्र, अहमिन्द्रपद या कोई सांसारिक विभूति या सांसारिक सुख प्राप्त हो या मान बड़ाई यश हो या शत्रु का क्षय हो। इस लोक की या परलोक की कोई वांछा तपस्वी को नही रखना चाहिये। केवल यही भावना करे कि मेरी आत्मा शुद्ध होकर निर्वाण का लाभ करे। इस शुद्ध निर्विकार भावना से किया हुआ तप ही यथार्थ तप है। तप दो प्रकार का है—निश्चय तप, व्यवहार तप। अपने ही शुद्ध आत्मा के श्रद्धान व ज्ञान में तपना व लीन होना निश्चय तप है उसके निमित्त रूप बारह प्रकार का तप करना व्यवहार तप है। निमित्त का संयोग मिलने से उपादान की प्रगटता होती है। बारह तप के द्वारा निश्चय तप जो आत्मानुभव है वह बढ़ता है।

बाह्य तप छः प्रकार हैं। जो तप बाहरी शरीर की अपेक्षा से हों व दूसरों को प्रत्यक्ष दीखें वे बाहरी तप हैं। उनके छः भेद इस प्रकार हैं—

(१) **अनशन**—खाद्य (पेट भरने योग्य), स्वाद्य (इलायची लोंग सुपारी आदि), लेह्य (चाटने योग्य चटनी आदि), पेय (पीने योग्य पानी आदि) इन चार प्रकार के आहार का त्याग एक दिन, दो दिन आदि काल के नियम से या समाधिमरण के समय जन्म पर्यन्त करना उपवास तप है। इससे इंद्रियों पर विजय, राग का नाश, ध्यान की सिद्धि व कर्म का क्षय होता है। उपवास करके निश्चय तप का साधन करे।

(२) **अवमौदर्य**—कम भोजन करना। इससे रोगशमन, आलस्य विजय, निद्रा विजय होता है व स्वास्थ्य तथा ध्यान की सिद्धि होती है।

(३) **वृत्तिपरिसंख्यान**—भिक्षा को जाते हुए एक आदि घरों का व किसी वस्तु की प्राप्ति का नियम करना। भोजन लाभ न होने पर सन्तोष रखना—आशा को जीतना।

(४) **रस परित्याग**—घृत, दूध, दही, शक्कर, लवण, तैल इन

छः रसों में से एक दो चार या सबका त्याग करना। इससे इंद्रिय-विजय, ब्रह्मचर्य रक्षा, निद्रा विजय होकर स्वाध्याय व ध्यान की सिद्धि होती है।

(५) **विविक्त शय्यासन**—स्त्री, पुरुष, नपुसक रहित व जन्तु पीड़ा रहित निर्जन स्थानों में शयन, आसन करना, जिससे बाधा रहित ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय व ध्यान की सिद्धि हो सके।

(६) **कायक्लेश** -धूप में, वृक्ष मूल में, मैदान में, पर्वत पर, गुफा में नाना प्रकार के आसनो के द्वारा कठोर तप करना। इससे देह का ममत्व घटता है व सुखिया स्वभाव मिटता है व ध्यान की सिद्धि होती है। इसमें ध्यान का अभ्यासी शरीर की शक्ति देखकर कठिन तप करता है, परिणामो में आर्तध्यान हो जावे ऐसा क्लेश नही सहता है।

छः आभ्यन्तर तप है। इनको आभ्यन्तर इसलिए कहते है कि इनमे मन के निग्रह करने की व परिणामों की निर्मलता की मुख्यता है। वे छः ये हैं :—

(१) **प्रायश्चित्त**—प्रमाद से लगे हुए दोषो की शुद्धि स्वय या गुरु द्वारा दण्ड लेकर करते रहना। जैसे कपडे पर कीच का छीटा पड़ने से तुर्त धो डालने से वस्त्र साफ रहता है, वैसे ही मन, वचन, काय द्वारा दोष हो जाने पर उसको आलोचना, प्रतिक्रमण तथा प्रायश्चित्त लेकर दूर कर देना चाहिए, तब परिणाम निर्मल रह सकेंगे।

(२) **विनय**--बडे आदर से ज्ञान को बढाना, श्रद्धान को पक्का रखना, चारित्र को पालना व पूज्य पुरुषों मे विनय से वर्तना, उनके गुण स्मरण करना विनय तप है।

(३) **वैयावृत्य**—साधु, आर्यिका, श्रावक, श्राविका आदि की सेवा करना। रोग, अन्य परीषह व परिणामो की शिथिलता आदि होने पर शरीर से व उपदेश से या अन्य उपाय से आकुलता मेटना वैय्यावृत्य या सेवा तप है। इससे ग्लानि का अभाव, वात्सल्य गुण, धर्म की रक्षा आदि तप होता है। महान पुरुषों की सेवा से ध्यान व स्वाध्याय की सिद्धि होती है।

(४) **स्वाध्याय**—ज्ञानभावना व आलस्य त्याग के लिये पाँच प्रकार स्वाध्याय करना योग्य है—

(१) निर्दोष ग्रन्थ को पढ़ना व पढ़ाना व सुनना और सुनाना। (२) संशय छेद व ज्ञान की दृढ़ता के लिये प्रश्न करना, (३) जाने हुए भाव का बारम्बार विचारना, (४) शुद्ध शब्द व अर्थ को घोखकर कण्ठ करना, (५) धर्म का उपदेश देना—वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय धर्मोपदेश, ये पाँच नाम हैं। इससे ज्ञान का अतिशय बढ़ता है, परम वैराग्य होता है व दोषों की शुद्धि का ध्यान रहता है।

(५) **व्युत्सर्ग**—बाहरी शरीर धन गृहादि से व अन्तरंग रागादि भावों से विशेष ममता का त्याग करना, निर्लेप हो जाना, असंगभाव को पाना व्युत्सर्ग तप है।

(६) **ध्यान**—किसी एक ध्येय मे मन को रोकना ध्यान है। धर्म ध्यान तथा शुक्लध्यान मोक्ष के कारण है, उनका अभ्यास करना योग्य है। आर्तध्यान व रौद्रध्यान से बचना योग्य है।

तप करना व तप का आराधन निर्वाण के लिये बहुत आवश्यक है। निश्चय तप की मुख्यता से तप किये बिना कर्मो की निर्जरा नहीं होती है। तप से संवर व निर्जरा दोनों होते हैं।

समयसार में कहा है—

अप्पाणमप्पणोरुंधिदूण दोसु पुण्णपावजोगेसु।
दंसणणाणम्हि ठिदो इच्छाविरदो य अण्णह्मि ॥१८०॥
जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा।
णवि कम्म णोकम्मं चेदा चिंतेदि एयत्तं ॥१८१॥
अप्पाणं झायंतो दसणणाणमइओ अणण्णमणो।
लहदि अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मणिम्मुक्कं ॥१८२॥

भावार्थ—पुण्य व पाप बंध के कारक शुभ व अशुभयोगों से अपने आत्मा को आत्मा के द्वारा रोक कर जो आत्मा अन्य परद्रव्यों की इच्छा से विरक्त हो। सर्व परिग्रह की इच्छा से रहित हो, दर्शन-ज्ञानमई आत्मा में स्थिर बैठकर आपसे अपने को ही ध्याता है; भाव-कर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म को रंचमात्र स्पर्श नहीं करता है, केवल एक

शुद्ध भाव का ही अनुभव करता है, वह एकाग्र मन हो स्वयं दर्शन ज्ञानमय होकर आत्मा को या मोक्ष को पा लेता है।

श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासन में कहते हैं :—

ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा स्वभावावाप्तिरच्युतिः।
तस्मादच्युतिमाकांक्षन् भावयेज्ज्ञानभावनाम् ॥१७४॥

मोहबीजाद्रतिद्वेषौ बीजान् मूलांकुराविव।
तस्माज्ज्ञानाग्निना दाह्यं तदेतौ निर्दिधिक्षुणा ॥१८२॥

अधीत्य सकलं श्रुतं चिरमुपास्य घोरं तपो,
यदीच्छसि फलं तयोरिह हि लाभपूजादिकम्।
छिनत्सि सुतपस्तरोः प्रसवमेव शून्याशयः,
कथं समुपलप्स्यसे सुरसमस्य पक्कं फलम् ॥१८९॥

भावार्थ—आत्मा का स्वभाव ज्ञानमय है। उस स्वभाव की प्राप्ति को ही मोक्ष कहते हैं, इसलिये मोक्ष के वांछक को ज्ञान की भावना भानी चाहिए जैसे बीज से मूल व अंकुर होते है वैसे मोह के बीज से रागद्वेष पैदा होते हैं। इसलिए जो इन रागद्वेषों को जलाना चाहे उसे ज्ञान की आग जलाकर उनको भस्म कर देना चाहिये। हे भव्य ! तू सर्व शास्त्रों को पढ़कर व चिरकाल तक घोर तप तपकर यदि इन दोनों का फल सासारिक लाभ या पूजा प्रतिष्ठा आदि चाहता है तो तू जड़बुद्धि होकर सुन्दर तपरूपी वृक्ष की जड़ को ही काट रहा है, किस तरह तू रसीले पक्के फल को अर्थात् मोक्ष के फल को पा सकेगा ?

श्री कुन्दकुन्दाचार्य भावपाहुड मे कहते है—

बाहिरसंगच्चाओ गिरिसरिदरिकदराइ आवासो।
सयलो झाणज्झयणो णिरत्थओ भावरहियाणं ॥८९॥

भावार्थ—जिनका भाव शुद्ध आत्मा में स्थिर नहीं है उनका बाहरी परिग्रह का त्याग पहाड़, नदी, तट, गुफा, कन्दरा आदि का रहना, ध्यान व पठन पाठन सर्व निरर्थक है।

———*———

परिणामों से ही बंध व मोक्ष होता है

परिणामे बंधुजि कहिउ मोक्ख वि तह जि वियाणि ।
इउ जाणेविणु जीव तुहुं तह भावहु परियाणि ॥१४॥

बन्ध विभाव प्रभाव हो, शिव स्वभाव से जान ।
बन्ध मोक्ष परिणाम से, कारण और न जान ॥१४॥

अन्वयार्थ—(**परिणामे बंधुजि कहिउ**) परिणामों से ही कर्म का बंध कहा गया है (**तह जि मोक्ख वि वियाणि**) तैसे ही परिणामों से ही मोक्ष को जान (**जीव**) हे आत्मन् ! (**इउ जाणेविणु**) ऐसा समझ-कर (**तुहुं तह भावहु परियाणि**) तू उन भावों की पहचान कर ।

भावार्थ—आत्मा आप ही अपने भावों का कर्ता है। स्वभाव से यह शुद्ध भाव का ही कर्ता है। यह आत्मद्रव्य परिणमनशील है। यह स्फटिकमणि के समान है। स्फटिकमणि के नीचे रंग का संयोग हो तो वह उस रंग रूप लाल, पीली, काली झलकती है। यदि पर वस्तु का संयोग न हो तो वह स्फटिक निर्मल स्वरूप में झलकती है। इसी तरह इस आत्मा में कर्मों के उदय के निमित्त से विभावों में या औपाधिक अशुद्ध भावों में परिणमन की शक्ति है। यदि कर्म के उदय का निमित्त हो तो यह अपने निर्मल शुद्ध भाव में ही परिणमन करता है। मोहनीय कर्म के उदय से विभाव भाव होते हैं। उन औदयिक भावों से ही बन्ध होता है।

अशुद्ध भावों का निमित्त पाकर स्वयमेव कर्मवर्गणायें आठ कर्मरूप या सात कर्मरूप बँध जाती हैं। बन्धकारक भाव दो प्रकार के होते हैं—शुभ भाव या शुभोपयोग, अशुभ भाव या अशुभोपयोग। मन्द कषायरूप भावों को शुभोपयोग कहते हैं, तीव्र कषायरूप भावों को अशुभोपयोग कहते हैं। दोनों ही प्रकार के भाव अशुद्ध हैं, बन्ध के ही कारण हैं। जहाँ तक कषाय का रंच मात्र भी उदय है वहाँ तक कर्म का बन्ध है। दसवें सूक्ष्मलोभ गुणस्थान तक बन्ध है।

रागद्वेष, मोह भाव बन्ध ही के कारण हैं। ज्ञानी को वह भले

प्रकार समझना चाहिए। मुनिव्रत या श्रावक के व्रत का राग या तप का राग या भक्ति का राग या पठन पाठन का राग या मन्त्रों के जप का राग यह सब राग बन्ध ही का कारण है। साधु कठिन से कठिन चारित्र को राग सहित पालता हुआ भी बन्ध को ही करता है। मोक्ष का कारण भाव एक वीतरागभाव है या शुद्धोपयोग है या निश्चय रत्नत्रय है। शुद्धात्मा का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, शुद्धात्मा का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, शुद्धात्मा का ध्यान सम्यक्चारित्र है। यह रत्नत्रय धर्म एक देश भी हो तो भी बन्ध का कारण नही है।

ज्ञानी को यह विश्वास रखना चाहिए कि मेरा उपयोग जब सर्व चिंताओं को त्याग कर अपने ही आत्मा के स्वभाव में एकाग्र होगा ऐसा तन्मय होगा कि जहाँ ध्याता, ध्यान, ध्येय का भेद न रहे, गुण गुणी के भेद का विचार न रहे, बिलकुल स्वरूप मे उपयोग ऐसा घुल जावे कि जैसे लवण की डली पानी मे घुल जाती है। आत्मसमाधि प्राप्त हो जावे या स्वानुभव हो जावे। इस ही को ध्यान की अग्नि कहते हैं। यह एकाग्र शुद्ध भाव मोक्ष का कारण है, संवर व निर्जरा का कारण है। इस भाव की प्राप्ति की कला अविरत सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान से प्राप्त हो जाती है।

चौथे, पाँचवें देशविरत तथा छठे प्रमत्तविरत गुणस्थान मे प्रवृत्ति मार्ग भी है, निवृत्ति मार्ग भी है जब ये गृहस्थ तथा साधु ध्यानस्थ होते हैं तब निवृत्ति मार्ग मे चढ जाते हैं। जब गृहस्थ धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थ साधते हैं या साधु का व्यवहार चारित्र, आहार विहार, स्वाध्याय, धर्मोपदेश आदि पालते है, तब प्रवृत्ति मार्ग है। निवृत्ति मार्ग में उपयोग एक शुद्धात्मा के सन्मुख ही रहता है। प्रवृत्ति मार्ग में चारित्र की अपेक्षा उपयोग पर द्रव्यों के सन्मुख ही रहता है। सातवें से लेकर दसवें गुणस्थान तक साधु के निवृत्त मार्ग ही है, प्रवृत्ति नहीं है, ध्यान अवस्था ही है।

इस तरह चौथे से दसवें गुणस्थान तक दोनों निवृत्ति व प्रवृत्ति-मार्ग यथासंभव होते हुए भी अप्रत्याख्यानादि कषाय का उदय चौथे

में, प्रत्याख्यानादि कषाय का उदय पाँचवें में, संज्वलन कषाय का तीव्र उदय छठे में, संज्वलन का मंद उदय सातवें से दशवें तक रहता है। ध्यान के समय इन कषायों का उदय बहुत मंद होता है। प्रवृत्ति के समय तीव्र होता है। तथापि जितना कषाय का उदय होता है वह तो कर्म को ही बांधता है। जितना रत्नत्रय भाव होता है वह संवर व निर्जरा करता है। बंध व निर्जरा दोनों ही धारायें साथ-साथ चलती रहती हैं।

हरएक जीव गुणस्थान के अनुसार बन्धयोग्य प्रकृतियों का बंध अवश्य करता है। निवृत्ति मार्ग में आरूढ़ होने पर घातीय कर्मों की स्थिति व उनका अनुभाग बहुत कम पड़ता है व अघातियों में केवल शुभ प्रकृतियों का ही बन्ध होता है, उनमें स्थिति कम व अनुभाग अधिक पड़ता है। प्रवृति मार्ग में शुभोपयोग की दशा में तो ऐसा ही होता है, किन्तु तीव्र कषाय के उदय से अशुभोपयोग होने पर घातीय कर्मों में स्थिति व अनुभाग अधिक पडेगा व अघातीय में पाप कर्मों की अधिक स्थिति व अनुभाग लिए हुए बाँधेगा।

प्रयोजन यह है कि शुभ या अशुभ दोनों ही भाव अशुद्ध हैं, बंध ही के कारण हैं। मोक्ष का कारण एक शुद्ध भाव है, वीतराग भाव है, शुद्धात्माभिमुख भाव है; ऐसा श्रद्धान ज्ञानी को रखना चाहिए।

समयसार में कहा है—

अज्झवसिदेण बन्धो सत्ते मारे हि मा व मारेहिं।
एसो बन्धसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ॥२७४,॥
वत्थुं पडुच्च तं पुण अज्झवसाणं तु होदि जीवाणं।
ण हि वत्थुदो दु बंधो अज्झवसाणेण बंधोत्ति ॥२७७॥
एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि।
ते असुहेण सुहेण य कम्मेण मुणी ण लिप्पंति ॥२७७॥

भावार्थ—हिंसक परिणाम में बंध अवश्य होगा, चाहे प्राणी मरो या न मरो। वास्तव में जीवों को कर्म का बन्ध अपने विकारी भावों से होता है। यही बंध का तत्व है। यद्यपि बाहिरी पदार्थों के

निमित्त से अशुद्ध परिणाम होता है, तथापि बाहरी वस्तुओं के कारण बंध नहीं होता है। बंध तो परिणामों से ही होता है। जिनके शुभ या अशुभ दोनों ही प्रकार के परिणाम नहीं हैं, वे मुनि पुन्य तथा पाप कर्मों से नहीं बंधते हैं।

समयसारकलश में कहा है—

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः।
किं त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्मबन्धाय त—
न्मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः ॥११-४॥

भावार्थ—जब तक मोहनीय कर्म का उदय है तब तक ज्ञान में पूर्ण वीतरागता नही होती है, तब तक मोह का उदय और सम्यग्ज्ञान दोनों ही साथ-साथ रहते हैं, इसमें कुछ हानि नही है, किन्तु यहाँ जितना अंश कर्म के उदय से अपने वश बिना राग है उतने अंश बंध होगा तथा परसे मुक्त जो परम आत्मज्ञान है वह स्वयं मोक्ष का ही कारण है। रत्नत्रय का अंश बंधकारक नही है, राग अंश बंधकारक है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य भावपाहुड में कहते हैं—

भाव तिविहपयारं सुहासुहं सुद्धमेव णायव्वं।
असुहं च अट्टरुद्दं सुह धम्मं जिणवरिंदेहिं ॥७६॥
सुद्धं सुद्धसहावं अप्पा अप्पम्मि तं च णायव्वं।
इदि जिणवरेहिं भणियं जं सेयं तं समायरह ॥७७॥

भावार्थ—जीवों में तीन प्रकार के भाव जानने चाहिए। अशुभ, शुभ, शुद्ध। आर्त व रौद्र ध्यान अशुभभाव हैं धर्मध्यान शुभभाव है।

शुद्ध भाव आत्मा का शुद्ध स्वभाव है, जब आत्मा आत्मा में रमण करता है ऐसा जिनेद्र ने कहा है। जिससे कल्याण हो उसको आचारण कर।

प्रयोजन यहाँ यह है कि जब भीतरी आशय में इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, पीड़ा चिंतवन व भोगाकांक्षा निदानभाव है या हिंसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द, परिग्रहानन्द, इस तरह चार प्रकार के रौद्र-

ध्यान में से कोई भाव है तो वह अशुभभाव है। धर्म ध्यानमय है, उसमें प्रेमभाव शुभभाव है। निर्विकल्प आत्मीक भाव है।

इससे यह भी झलकाया है कि सम्यग्दृष्टी ज्ञानी के ही शुद्धभाव होता है। मिथ्यादृष्टी के मंद कषाय को व्यवहार में शुभभाव कहते हैं परन्तु उसका आशय अशुभ होने से उसमें कोई न कोई आर्त व रौद्र-ध्यान होता है। इसलिए उसे अशुभभाव में ही गिना है। मोक्ष का कारण एक शुद्ध भाव ही है, वह आत्मानुभव रूप है।

पुण्यकर्म मोक्ष-सुख नहीं दे सकता

जइ पुण_ अप्पा ण वि मुणहि पुण्ण_ वि करइ असेसु।
तउ वि ण_ पावइ सिद्धसहु पुण_ संसार भमेसु ॥१५॥

स्वातम के जाने बिना, करे पुन्य बहु बाल।
तदपि भ्रमे संसार में, मुक्त न होय निदान ॥१५॥

अन्वयार्थ—(अह पुणु अप्पा ण वि मणुहि) यदि तू आत्मा को नहीं जानेगा (असेसु पुण्णु वि करइ) सर्व पुण्य कर्म को ही करता रहेगा (तउ वि सिद्धसुहु ण पावइ) तौ भी तू सिद्ध के सुख को नहीं पावेगा (पुणु संसार भमेसु) पुनः पुनः संसार में ही भ्रमण करेगा।

भावार्थ—मोक्ष का सुख या सिद्ध भगवान का सुख आत्मा का स्वाभाविक व अतीन्द्रिय गुण है। यह बिलकुल परमानन्द हर एक आत्मा का स्वभाव है। उसका आवरण ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय चारों ही घातीय कर्मों ने कर रखा है। जब इनका नाश हो जाता है तब अनन्त अतीन्द्रिय सुख अरहन्त केवली के प्रगट हो जाता है, वही सिद्ध भगवान में या मोक्ष में रहता है। इस सुख के पाने का उपाय भी अपने आत्मा का श्रद्धान, ज्ञान व आचरण है। सम्यग्दृष्टी को अपने आत्मा के सच्चे स्वभाव का पूर्ण विश्वास रहता है। इसलिये वह जब उपयोग को अपने आत्मा में ही अपने आत्मा के

द्वारा तल्लीन करता है तब आनन्दामृत का पान करता है। इस ही समय वीतराग परिणति से पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होती है व नवीन कर्मों का संवर होता है। आत्मा आप ही साधक है, आप ही साध्य है। इस तत्व का जिसको श्रद्धान नहीं है वह पुण्यबंध के कारक शुभ मन वचन काय द्वारा अनेक कार्य करता है और चाहता है कि मोक्ष-सुख मिल सके, सो कभी नहीं मिल सकता है। जहाँ मन वचन काय की क्रिया पर मोह है वहाँ पर से अनुराग है। आत्मा से दूरवर्तीपना है वहाँ बंध होगा, निर्जरा नहीं होगी।

कोई मानव कठिन से कठिन तपस्या व व्रतादि पाले व आप भी पुण्यबंध के अनेक कार्य करे, वह संसार मार्ग का ही पथिक है वह निर्माण का पथिक नही। वह बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि है। वह द्रव्य-लिंगी साधु का चारित्र पालता है। शास्त्रोक्त व्रत समिति गुप्ति पालता है, तप करता है। आत्मज्ञान रहित से वह महान् पुण्य बाँध कर नौवें ग्रैवेयिक में जाकर अहमिन्द्र हो जाता है। आत्मज्ञान बिना वहां से चयकर संसार-भ्रमण में ही रुलता है।

शुद्धोपवोग ही वास्तव में मोक्ष का कारण है। इस तत्व को भले प्रकार श्रद्धान में रखकर अन्तरात्मा मोक्षमार्गी होता है। तब इसकी दृष्टि हर समय अपने आत्मा में रमण की रहती है। यह आत्मा की शांत गङ्गा में स्नान करना ही धर्म समझता है। इसके सिवाय सर्व ही मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को अपना धर्म न समझकर बंध का कारक अधर्म समझता है। व्यवहार में शुभ क्रिया को धर्म कहते हैं, परन्तु निश्चय से जो बन्ध करे वह धर्म नहीं हो सकता।

जिस समय सम्यग्दर्शन का लाभ होता है उसी समय वह सर्व शुभ प्रवृत्तियों से उसी तरह उदास हो जाता है जैसा वह अशुभ प्रवृत्तियों से उदास है। वह न मुनि के व्रत न श्रावक के व्रत पालना चाहता है। परन्तु आत्मबल की कमी से जब उपयोग अपने आत्मा के भीतर अधिक काल तक थिर नहीं रहता है तब अशुभ से बचने के लिये वह शुभ कार्य करता है। परन्तु उसे बंधकारक ही जानता है।

भीतरी भावना यह रहती है कि कब मैं फिर आत्मा के ही साथ रमण करूँ। मैं अपने घर से छूटकर पर घर में आगया, मैं अपराधी हो गया। सम्यक्ती बन्धकारक शुभ कार्यों को कभी मोक्ष का साधन नहीं मानता है।

जिस साधन से वीतराग परिणति झलके उसे ही मोक्षमार्ग जानता है। इसलिये वह शुभ कामों को लाचारी से करता हुआ भी मोक्षमार्गी है। निश्चय रत्नत्रय ही धर्म है, व्यवहार रत्नत्रय यद्यपि निश्चय रत्नत्रय के लिये निमित्त है तथापि बंध का कारण होने से वह निश्चय की अपेक्षा अधर्म है। ज्ञानी आत्मा के कार्य के सिवाय अन्य कार्य में जाने को अपना अपराध समझता है। ज्ञान में ज्ञान के रमण को ही अपना सच्चा हित जानता है। ज्ञानी सम्यग्दृष्टी चौथे अविरत गुणस्थान में भी है तौ भी वह निरन्तर आत्मानुभव का ही खोजक बना रहता है। वह व्यवहार, धर्म, पूजा, पाठ, जप, तप, स्वाध्याय, व्रत आदि जो कुछ भी पालता है उसके भीतर वह पुण्य की खोज नहीं करता है, न वह पुण्य को चाहता है। वह तो व्यवहार धर्म के निमित्त से निश्चय धर्म को ही खोजता है। जबतक नहीं पाता है तबतक अपना व्यवहार धर्म का साधन केवल पुण्यबंध करना, ऐसा समझता है।

जैसे चतुर व्यापारी केवल धन को कमाने का प्रेमी होता है— वह हाट में जाता है, माल खरीदता है, रखता उठाता है, तोलता नापता है, विक्रय करता है। जब धन का लाभ करता है तब ही अपना सर्व प्रयास सफल मानता है। यदि अनेक प्रकार परिश्रम करने पर भी धन की कमाई न हो तो वह अपने को व्यापार करने वाला नहीं मानता है।

सर्व उद्यम कमाने का करता हुआ भी वह उस उद्यम को धन का लाभ नहीं मानता है। धन का लाभ ही उसका ध्येय है, उस ध्येय की सिद्धि का उद्यम निमित्त है, इसलिये वह उद्यम करता है। परन्तु रात-दिन चाहना एक धन के लाभ की है। धन की वृद्धि को ही अपनी सफलता मानता है। इसी तरह सम्यग्दृष्टी ज्ञानी आत्मानुभव के लाभ

उसे ही अपना लाभ मानता है, वह रात-दिन आत्मानुभव की ही खोज में रहता है। इसी हेतु से बाहरी व्यवहार धर्म का उद्यम करता है कि उसके सहारे से परिणाम फिर शीघ्र ही आत्मा में आकर आत्मस्थ हो जावे। उदाहरणार्त, एक सम्यग्दृष्टी गृहस्थ भगवान की पूजा करता है, गुणानुवाद गाता है, अरहन्त व सिद्ध के आत्मीक गुणों का वर्णन करते हुये अपने आत्मीक गुणों का वर्णन मानता है। लक्ष्य अपने आत्मा पर होते हुए वह पूजा के कार्य के मध्य में कभी-कभी अत्यन्त अल्पकाल के लिये भी आत्मा में रमण करके आत्मानुभव को पा लेता है, आत्मानन्द का भोगी हो जाता है।

इसी तरह सामायिक करते हुए, पाठ पढ़ते हुए, जप करते हुये, मनन करते हुए आत्मा में थिरता पाने की खोज करता है। जब उसे कुछ देर भी आत्मानुभव हो जाता है तब यह यात्रादिक करना सफल जानता है। व्यापारी धन का खोजक है, सम्यक्ती आत्मानुभव का खोजक है। आत्मानुभव की प्राप्ति की भावना बिना शुभ कार्य केवल बन्ध ही के कारण हैं। आत्मानुभव का लाभ ही मोक्ष के कारण का लाभ है, क्योंकि वहाँ निश्चय सम्यक्त, निश्चय सम्यग्ज्ञान व निश्चय सम्यक्चरित्र तीनों गर्भित हैं। मोक्ष की दृष्टि रखने वाला मोक्षमार्गी है। संसार की दृष्टि रखने वाला संसारमार्गी है।

जो संसार की दृष्टि रख के भूल से उसे मोक्ष की दृष्टि मान ले वह मिथ्यादृष्टी है। सम्यग्दृष्टी मोक्ष की दृष्टि रखते हुये शुभ भावों को बन्ध का कारक व शुद्ध आत्मीक भाव को मोक्ष का कारक मानता है। इसी बात को इस दोहे में योगीन्द्राचार्य ने प्रगट किया है कि व्यवहार धर्म में उलझकर निश्चय धर्म की प्राप्ति को भुला न दो। यदि आत्मानुभव का स्वरूप चला गया तो भव भव में अनन्तबार साधु का चरित पालते हुये भी संसार ही बना रहता है। वह एक कदम भी मोक्षमार्ग पर नहीं चल सकता। इसलिए पुण्य बन्धन के कारक भावों को मोक्षमार्ग कभी नहीं मानना चाहिये। समयसार में कहा है—

वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता।
परमट्ठबाहिरा जेण तेण ते होंति अण्णाणी ॥१६०॥
परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।
संसारगमणहेदुं वि मोक्खहेदुं अजाणन्ता ॥१६१॥

भावार्थ—जो व्रत नियम धारे, शील पाले, तप करे, परन्तु निचश्य आत्म-स्वभाव के धर्मसे बाहर हो तो ये सब अज्ञानी बहिरात्मा हैं। परमार्थ आत्मतत्व को जो नहीं समझते वे अज्ञान से संसार भ्रमण के कारण पुण्य की ही वांछा करते हैं। क्योंकि उनको मोक्ष के कारण का ज्ञान नहीं है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य मोक्षपाहुड में कहते हैं—

किं काहिदि बहिकम्मं किं काहिदि बहुविहं च खवणं तु।
किं काहिदि आदावं आदसहावस्स विवरीदो ॥९९॥

भावार्थ—जो आत्मा के स्वभाव से परे है, आत्मा को ही अनुभव करता है उसके लिये बाहरी क्रियाकाण्ड क्या फल दे सकता है। नाना प्रकार उपवासादि तप कर सकता है। आतापन योग आदि क्लेश क्या कर सकता है। अर्थात् मोक्ष के साधक नहीं हो सकता। मोक्ष का साधन एक आत्मज्ञान है। समाधिशतक में कहा है—

यो न वेत्ति परं देहादेवमात्मानमव्ययम्।
लभते न स निर्वाणं तप्त्वापि परमं तपः ॥३३०॥

भावार्थ—जो कोई शरीरादि से भिन्न इस प्रकार के ज्ञाता, दृष्टा, अविनाशी, आत्मा को नहीं जानता है वह उत्कृष्ट तप तपते हुए भी निर्वाण को नहीं पाता है।

आत्मदर्शन ही मोक्ष का कारण है

अप्पादंसण इक्क परु अण्णु ण किं पि वियाणि ।
मोक्खह कारण जोईया णिच्छइ एहउ जाणि ।।१६।।

आतम ज्ञान श्रद्धान ही, दाता शिव नहिं आन ।
द्विविध धर्म व्यवहार पथ, निश्चय आतम ज्ञान ।।१६।।

अन्वयार्थ—(**जोईया**) हे योगी ! (**इक्क अप्पादंसण मोक्खह कारण**) एक आत्मा का दर्शन ही मोक्ष का मार्ग है (**अण्णु परु ण किं पि वियाणि**) अन्य पर कुछ भी मोक्षमार्ग नही है ऐसा जान (**णिच्छइ एहउ जाणि**) निश्चयनय से तू ऐसा समझ ।

भावार्थ—निश्चयनय से यथार्थ कथनहोता है । अथवा इस नय से उपादान कारण का वर्णन होता है । निश्चय से मोक्ष का मार्ग एक अपने आत्मा का ही दर्शन है, इसके सिवाय कोई और मार्ग नही है । यदि कोई परके आश्रय वर्ता करे व उसी से मोक्ष होना माने तो वह मिथ्यात्व है । मन, वचन, काय तीनों ही आत्मा से या आत्मा के मूल स्वभाव से भिन्न है । आत्मा का स्वभाव सिद्ध के समान है, जहाँ न मन के संकल्प विकल्प हैं, न वचन का व्यापार है, न काय की चेष्टा है । व्यवहार धर्म का सर्व आचरण मन, वचन, काय के अधीन है, इसलिये पराश्रय है । निमित्त कारण तो हो सकता है परन्तु उपादान कारण नही हो सकता है ।

जो कुछ स्वाश्रय हो, आत्मा के ही आधीन हो वही उपादान कारण है । जब उपयोग, मात्र एक उपयोग के धनी आत्मा की तरफ हो अभेद व सामान्य एक आत्मा ही देखने योग्य हो व आप ही देखने वाला हो, कहने को दृष्टा व दृश्य दो हों, निश्चय से एक आत्मा ही हो । इस निर्विकल्प समाधिभाव को या स्वानुभव को आत्मदर्शन कहते हैं । यह आत्मदर्शन एक गुप्त तत्व है, वचन से अगोचर है, मनसे चितवन योग्य नही है, केवल आप से ही अपने को अनुभवने योग्य है ।

आत्मा गुण पर्यायवान एक अखण्ड द्रव्य है। मन के द्वारा व वचन के द्वारा खंड रूप हो जाता है, आत्मा का पूर्णस्वरूप लक्ष्य में नहीं आ सकता। इसलिये सर्व ही मन के विचारों को छोड़ने की जरूरत है। जो कोई मौन से स्वरूप गुप्त होगा वही आत्मा के भीतर रमण कर जायगा। गुण गुणी के भेद करने से भी आत्मा का स्वरूप लक्ष्य में नहीं आयगा। जितना कुछ व्यापार मन, वचन, काय का है, उससे विमुख होकर जब आत्मा आत्मा में ही विश्राम करता है तब आत्मदर्शन होता है। वहां पर एक सहज ज्ञान है। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल, ये ज्ञान के भेदों का कोई विकल्प नही है।

साधक को पहले तो यह उचित है कि आत्मा के स्वभाव का व विभाव का निश्चय शास्त्रों के द्वारा कर डाले। आत्मा किस तरह कर्मों को बांधता है, कर्मों के उदय से क्या क्या अवस्था होती है, कर्मों को कैसे रोका जावे, कर्मों का क्षय कैसे हो, मोक्ष क्या वस्तु है, इस तरह जीवादि सात तत्वों का ज्ञान भले प्रकार प्राप्त करना चाहिये। संशय रहित अपने आत्मा की कर्मरोग की अवस्था को जान लेना चाहिये। सर्वार्थसिद्धि, गोम्मटसार जीवकाड कर्मकांड का ज्ञान आवश्यक है। तथा व्यवहार चारित्र को भी जानना चाहिये। साधु व श्रावक के आचार का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। पश्चात् निश्चय से आत्मा के स्वभाव का ज्ञान होने के लिये श्री कुन्दकुन्दाचार्य रचित पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार को या नियमसार को, अष्टपाहुड को समझ कर निश्चय आत्मातत्व को जानना चाहिये कि यह मात्र अपनी ही शुद्ध परिणति का कर्ता है व अपनी ही शुद्ध परिणति का ही भोक्ता है। यह परम वीतराग व परमानन्द स्वभाव का धारी है।

व्यवहार रत्नत्रय का ज्ञान मात्र निमित्त कारण होने के लिये सहायकारी है, निश्चय तत्व का ज्ञान स्वानुभव के लिये हितकारी है। साधक को उचित है कि व्यवहार चारित्र के आधार से जैन धर्म का आचार पाले जिससे मन, वचन, काय का बर्तन हानिकारक न हो

उनको वश में रखा जा सके फिर ध्यान का अभ्यास किया जावे। एकांत में बैठकर आसन जमाकर पहले तो आत्मा को द्रव्यार्थिक नय से अभेद रूप विचारा जावे।

स्वरूप का मनन शास्त्र की पद्धति से किया जावे। फिर प्रयत्न करके मन को बन्द करके मौन से ही तिष्ठकर उपयोग को स्वभाव के ज्ञान श्रद्धान में एकाग्र किया जावे। निज आत्मा की झांकी की जावे। अभ्यास करने वाले को पहले बहुत अल्प समय तक थिरता रहेगी। अभ्यास करते करते थिरता बढ़ती जायगी। आत्मप्रभु का दर्शन अधिक समय तक होता रहेगा जिस भाव से नवीन कर्मों का संवर हो व पुराने संचित कर्मों की निर्जरा हो वही भाव एक मोक्ष मार्ग हो सकता है। आत्मा के दर्शन में व आत्मानुभव में ही वीतराग भाव की धारा बहती है। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की धारा रहती है। वहीं संवर, व निर्जरातत्व झलकते हैं। गृहस्थ हो या त्यागी हो उसे यदि निर्वाण के पद की भावना है तो आत्मा के दर्शन पाने का अभ्यास करना चाहिये।

जिसने आत्मा का दर्शन पा लिया उसने ही सच्चा वीतराग भगवान का दर्शन पाया, उसने ही सच्ची आराधना श्री अरहन्तदेव व सिद्ध परमात्मा की की। उसने ही श्रवक या साधु का व्रत पाला। वही सच्चा निर्वाण का पथिक है, यही आत्मदर्शन मोक्षमार्ग है। यह श्रद्धान जब तक नहीं है तब तक सम्यग्दर्शन का प्रकाश नहीं है, मिथ्या-दर्शन है। आत्मदर्शन ही वास्तव में सम्यग्दर्शन है।

समयसार में कहा है—

पण्णाए घित्तव्वो जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णादव्वा ॥३२०

भावार्थ – भेद विज्ञान से जो कुछ ग्रहण करने योग्य है वह मैं ही चेतने वाला हूँ, यही निश्चयतत्व है। शेष जितने भाव हैं वे मेरे स्वभाव से भिन्न हैं ऐसा जानकर उनको त्याग देना चाहिये। आप से आप में ही रमण करना चाहिये।

मोक्षपाहुड में श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं—

जो देहे णिरवेक्खो णिद्दंदो णिम्ममो णिरारंभो।
आदसहावे सुरओ जोई सो लहइ णिव्वाणं ॥१२॥
सद्दव्वरओ सवणो सम्माइट्ठी हवेइ सो साहू।
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माइं ॥१४॥
आदसहावादण्णं सच्चित्ताचित्तमिस्सियं हवइ।
तं परदव्वं भणियं अवितत्थं सव्वदरसीहिं ॥१७॥
दुट्ठट्ठकम्मरहियं अणोवमं णाणविग्गहं णिच्चं।
सुद्धं जिणेहिं कहियं अप्पाणं हवइ सद्दव्वं ॥१८॥
जे झायंति सदव्वं परदव्वपरम्मुहा दु सुचरित्ता।
ते जिणवराण मग्गे अणुलग्गा लहदि णिव्वाणं ॥१९॥

भावार्थ—जो कोई शरीर से उदास हो, द्वन्द्व या रागद्वेष से रहित हो, ममकार से परे हो, सर्व लौकिक व धार्मिक आरंभ से रहित हो, केवल एक अपने आत्मा के स्वभाव में भले प्रकार लीन हो, वही योगी निर्वाण को पाता है। जो अपने ही आत्मा के द्रव्य में लीन है वही साधु या श्रावक सम्यग्दृष्टी है, वही आठों दुष्ट कर्मों का क्षय करता है। अपने आत्मा के स्वभाव से अन्य सर्व चेतन या अचेतन या मिश्र द्रव्य पर द्रव्य है, ऐसा यथार्थ कथन सर्वदर्शी भगवान ने किया है। दुष्ट आठों कर्मों से रहित, अनुपम ज्ञानशरीरी, नित्य, शुद्ध अपना आत्मा ही स्वद्रव्य है ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है। जो अपने आत्मद्रव्य को ध्याते हैं परद्रव्यों से उपयोग को हटाते हैं तथा सुन्दर चारित्र को पालते हैं व जिनेन्द्र के मार्ग में भले प्रकार चलते हैं वे ही निर्वाण को पाते हैं।

समाधिशतक में कहा है—

तथैव भावयेद्देहाद्व्यावृत्यात्मानमात्मनि।
यथा न पुनरात्मानं देहे स्वप्नेऽपि योजयेत् ॥८२॥

भावार्थ—शरीरादिसे हटकर अपने आत्माके भीतर अपने आत्मा को इस तरह ध्यावे कि स्वप्न में भी कभी शरीरादि में अपना मन नहीं जुड़े। सदा अपने आत्मा को शुद्ध, परद्रव्य के संग से रहित ध्यावे।

मार्गणा व गुणस्थान आत्मा नहीं है

मग्गणगुणठाणइ कहिया ववहारेण वि दिट्ठि ।
णिच्छइणइ अप्पा मुणहु जिय पावहु परमेट्ठि ॥१७॥

गुणस्थान वा मार्गणा, उपादेय व्यवहार ।
निश्चय आतम ज्ञान हो, परमेष्ठी पदकार ॥१७॥

अन्वयार्थ—(**ववहारेण वि दिट्ठि**) केवल व्यवहार नय की दृष्टि से ही (**मग्गणगुणठाणइ कहिया**) जीव को मार्गणा व गुणस्थानरूप कहा है (**णिच्छइणइ**) निश्चयनय से (**अप्पा मणहु**) अपने आत्मा को आत्मा रूप ही समझ (**जिय परमेट्ठि पावहु**) जिससे तू सिद्ध परमेष्ठी के पद को पा सके ।

भावार्थ—व्यवहारनय पराश्रित है । दूसरे द्रव्य की अपेक्षा से आत्मा को कुछ का कुछ कहने वाला है । निश्चयनय स्वाश्रित है । आत्मा को यथार्थ जैसा का तैसा कहने वाला है । निश्चयनय से आत्मा स्वयं अरहन्त या सिद्ध परमात्मा है । आत्मा अभेद एक शुद्ध ज्ञायक है जैसे सिद्ध भगवान हैं । अपने को शुद्ध निश्चयनय से शुद्धरूप ध्याना ही साक्षात परमात्मा होने का उपाय है, यही मोक्षमार्ग है क्योंकि जैसा ध्यावे वैसा ही हो जावे । **समयसार** मे कहा है—

सुद्धं तु वियाणतो सुद्धमेवप्पयं लहदि जीवो ।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहहि ॥१७६॥

भावार्थ—शुद्ध आत्मा को अनुभव करने से यह जीव शुद्ध आत्मा को पा लेता है या शुद्ध हो जाता है । जो कोई अपने आत्मा को अशुद्ध रूप मे ध्याता है उसको अशुद्ध आत्मा का ही लाभ होता है वह कभी शुद्ध नही हो सकता । इसलिये शुद्ध आत्मा हैं ऐसा बताने वाला निश्चयनय है, सो ग्रहण करने योग्य है, व्यवहारनय ग्रहण करने योग्य नहीं है, केवल जानने योग्य है । आत्मा का कर्म से संयोग अनादि से चला आ रहा है । इस संयोग से आत्मा की क्या क्या अवस्थाएँ हो सकती हैं उनका जानना इसलिये जरूरी है कि उनके साथ वैराग्य हो

जावे। उनको अपने आत्मा की स्वाभाविक अवस्था न मान लिया जावे। व्यवहारनय से ही यह कहा जाता है कि यह आत्मा मार्गणा व गुणस्थानरूप है।

सांसारिक सर्व प्रकार की अवस्थाओं का बहुत-सा ज्ञान चौदह मार्गणाओं से तथा चौदह गुणस्थानों से होता है।

श्री गोम्मटसार जीवकांड के अनुसार उनका स्वरूप पाठकों के ज्ञान हेतु यहाँ दिया जाता है—

जाहि व जासु व जीवा मग्गिज्जंते जहा तहा दिट्ठा।
ताओ चोद्दस जाणे सुयणाणे मग्गणा होंति ॥१४१॥
गइइंदियेसु काये जोगे वेदे कसायणाणे य।
संजमदंसणलेस्सा भवियासम्मत्तसण्णिआहारे ॥१४२॥

भावार्थ—जिन अवस्थाओं के द्वारा व जिन पर्यायों में जिस तरह जीव देखे जाते हैं वैसे ही ढूढ़ लिए जावें, जान लिये जावें, उन अवस्थाओं को मार्गणा कहते हैं, ये मार्गणाएँ चौदह हैं—

१ गति, २ इन्द्रिय, ३ काय, ४ योग, ५ वेद, ६ कषाय, ७ ज्ञान, ८ संयम, ९ दर्शन, १० लेश्या, ११ भव्यत्व, १२ सम्यक्त, १६ संज्ञी, १४ आहार।

प्राय: संसारी जीवों मे ये चौदह दशाएँ हर समय पाई जाती हैं या इनमें खोजने से हर एक में संसारी जीव मिल जावेंगे। इनका स्वरूप व भेद ऐसा है—

१—गति मार्गणा चार प्रकार—

गइउदयजपज्जाया चउगइगमणस्य हेउ वा हु गई।
णरयतिरिक्खमाणुसदेवग इत्ति य हवे चदुधा ॥१४६॥

भावार्थ—गति कर्म के उदय से जो पर्याय होती है या चार गतियों में जाने का जो कारण उसे गति कहते हैं। वे चार हैं—नरक-गति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति, देवगति। हर एक संसारी जीव किसी न किसी गति में मिल जायगा। जब एक शरीर को छोड़कर जीव

दूसरे शरीर में जाता है तब बीच में विग्रहगति के भीतर उसी गति का उदय माना जायगा जिसमें जा रहा है।

२. **इन्द्रिय मार्गणा** पांच प्रकार—

अहमिंदा जह देवा अविसेसं अहमहंत्ति मण्णंता।
ईसंति एक्कमेक्कं इंदा इव इंदिये जाण ॥१६४॥

भावार्थ—अहमिन्द्रों के समान जो बिना किसी विशेष के अपने को भिन्न अहंकार रूप माने व जो इन्द्रों के समान एक एक अपना भिन्न-भिन्न स्वामीपना रखें, एक दूसरे के साथी न हों, जो भिन्न-भिन्न काम करें उनको इन्द्रिय कहते हैं। वे पाँच हैं—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र। इसीलिये संसारी जीव एकेन्द्रिय, द्वेन्द्रिय, त्रेन्द्रिय, चौन्द्रिय व पंचेन्द्रिय जीव कहलाते हैं। जिनके आगे की इन्द्रिय होगी उनके पिछली अवश्य होगी। जिनके श्रोत्र होंगे उनके पिछली चार अवश्य होंगी।

३. **काय मार्गणा** छह प्रकार—

जाई अविणाभावी तसथावरउदयजो हवे काओ।
सो जिणमदह्मि भणिओ पुढवीकायादि छब्भेयो ॥१८१॥

भावार्थ—जाति कर्म के साथ अवश्यमेव रहने वाले स्थावर तथा त्रस कर्म के उदय से जो शरीर हो उसको काय कहते है, उसके छ: भेद कहे गये हैं - पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्नि या तेजकाय, वायु-काय, वनस्पतिकाय, त्रसकाय। छहों की शरीर की रचना में भेद है, इसलिये छ: कायधारी जीव भिन्न-भिन्न होते हैं। मांसादि त्रस काय में ही होता है, स्थावर शेष पांच मे नही। वनस्पतिकाय व त्रसकाय की रचना में पृथ्वी आदि चार काय सहायक हैं।

४. **योग मार्गणा** पन्द्रह प्रकार—

पुग्गलविवाइदेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स।
जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारणं जोगो ॥२१६॥

भावार्थ—मन, वचन, काय तीन सहित या वचन काय दो सहित या मात्र काय सहित जीव के भीतर पुद्गलविपाकी शरीर कर्म

के उदय से जो कर्म व नोकर्म वर्गणाओं को ग्रहण करने की शक्ति है उस शक्ति को योग कहते हैं। यह शक्ति जीव में होती है परन्तु इसका काम शरीर नाम कर्म के उदय से होता है। पन्द्रह योगों में से किसी तक योग की प्रवृत्ति होते हुये योगशक्ति हर समय जहाँ तक अयोग केवली जिन न हो वहाँ तक काम करती रहती है। विग्रहगति में कर्म वर्गणाओं को व तैजस वर्गणाओं को शेष समय इन दोनों के साथ-साथ आहारक वर्गणाओं को, भाषा वर्गणाओं को (द्वेन्द्रियादि के), मनोवर्गणाओं को (सैनी के) ग्रहण करती रहती है।

४ चार मन के—सत्य, असत्य, उभय, अनुभय (जिसे सत्य व असत्य कुछ नहीं कह सकते)।

४ वचन के—सत्य, असत्य, उभय, अनुभय।

७ सात काय के—औदारिक, औदारिक मिश्र (अपर्याप्त के वैक्रियिक, वैक्रियिकमिश्र (अपर्याप्त के), आहारक, आहारकमिश्र और कार्माण। मनुष्य व तिर्यंचों के औदारिक दोनों, देवनारकियों के वैक्रियिक दोनों, छठे गुणस्थानवर्ती मुनि के आहारक दोनों और विग्रह गति में कार्माण योग होता है।

५. वेद मार्गणा ३ तीन प्रकार—

पुरुसिच्छिसंढवेदोदयेण पुरुसिच्छिसंढवो भावे।
णामोदयेण दव्वे पाएण समा कहिं विसमा ॥२७०॥
वेदस्सुदीरणाए परिणामस्स य हवेज्ज संमोहो।
संमोहेण ण जाणदि जीवो हु गुणं व दोसं वा ॥२७१॥

भावार्थ—पुरुष वेद, स्त्री वेद, नपुंसक वेद, नोकषाय के उदय से जो क्रम से पुरुष, स्त्री या नपुंसक जैसे परिणाम होते हैं उनको भाव वेद कहते हैं तथा नाना कर्म के उदय से जो तीन प्रकार की शरीर रचना होती है उसको द्रव्यवेद कहते हैं। प्रायः भाववेद व द्रव्यवेद समान होते हैं, कहीं कहीं विषम होते हैं। देव नारक व भोग-भूमियों में जैसा द्रव्यवेद होता है वैसा ही भाव वेद होता है। किन्तु कर्मभूमि के मानव तथा पशुओं में एक द्रव्य वेद के साथ तीनों ही

प्रकार का भाव वेद हो सकता है। मार्गणा में भाव वेद की मुख्यता है पुरुष वेद, स्त्री वेद, नपुंसक वेद, नोकषाय की उदीरणा से जीव के परिणाम मोहित या मूर्छित हो जाते हैं तब यह मोही जीव गुण या दोष का विवेक नहीं रखता है। यह काय भाव अनर्थ का कारण है।

६. कषाय मार्गणा पच्चीस प्रकार—

सुहदुक्खसुबहुसस्सं कम्मक्खेत्तं कसेदि जीवस्स ।
संसारदूरमेरं तेण कसाओत्ति णं बेंति ॥२८१॥
सम्मत्तदेससयलचरित्तजहक्खादचरणपरिणामे ।
घादंति वा कषाया चउसोलअसंखलोनमिदा ॥२८२॥

भावार्थ—जीव के कर्म रूपी खेत को जो बेमर्याद संसार भ्रमण रूप है व जिसमें सुख दुःख रूपी बहुत धान्य पैदा होते हैं जो कसता है या हल चलाकर बोने योग्य करता है उसको कषाय कहते हैं। अथवा सम्यग्दर्शन व स्वरूपाचरण के घात करने वाले अनन्तानुबन्धी क्रोध, लोभ, मान, माया, चार कषाय हैं, व देश संयम के घातक अप्रत्याख्यान क्रोधादि चार हैं, व सकल संयम के घातक प्रत्याख्यान क्रोधादि चार हैं, व यथाख्यात चारित्र के परिणामों को घात करने वाले संज्वलन क्रोधादि चार व नौ नोकषाय (हास्य, रति; अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुवेद, नपुंसकवेद) हैं, इसलिये उनको कषाय कहते हैं। इसके मूल चार या सोलह या पच्चीस आदि असंख्यात लोकप्रमाण भेद हैं।

७. ज्ञान मार्गणा आठ प्रकार—

जाणइ तिकालविसए दव्वगुणे पज्जए य बहुभेदे ।
पच्चक्खं च परोक्खं अणेण णाणेत्ति णं बेंति ॥२९८॥

भावार्थ—जो भूत, भविष्य, वर्तमान, तीन काल सम्बन्धी सर्व द्रव्यों के गुणों को व उनकी बहुत पर्यायों को एक काल जानता है उसको ज्ञान कहते हैं। मन व इन्द्रियों के द्वारा जो जाने सो परोक्ष ज्ञान है। अवधि, कुअवधि, मनःपर्यय तथा केवलज्ञान, सम्यग्दर्शन सहित भाव सम्यग्ज्ञान है, मिथ्यादर्शन सहित तीन कुज्ञान हैं।

८. संयम मार्गणा सात प्रकार—

वदसमिदिकसायाणं दण्डाण तहिंदियाण पंचण्हं ।
धारणपालणणिग्गहचागजओ संजमो भणियो ।।४६४।।

भावार्थ—पाँच व्रत धारना, पाँच समिति पालना, पच्चीस कषायों को रोकना, मन, वचन, काय तीन दण्डों का त्याग करना व पाँच इन्द्रियों का जीतना सो संयम कहा गया है। असंयम देशसंयम, सामायिक छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि सूक्ष्म सांपराय, यथाख्यात, ये सात भेद हैं।

९. दर्शन मार्गणा चार प्रकार—

जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं ।
अविसेसिदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णदे समये ।।४८१।।

भावार्थ—जो पदार्थों का सामान्य ग्रहण करना, उनका आकार न जानना, न पदार्थ का विशेष समझना सो दर्शन आगम में कहा गया है।

इसके चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल ये चार भेद है—

१०. लेश्या मार्गणा छः प्रकार—

लिंपइ अप्पीकीरइ एदीए णियअपुण्णपुण्णं च ।
जीवोत्ति होदि लेस्सा लेस्सागुण जाणयक्खादा ।।४८८।।
जोगपउत्ती लेस्या कसायउदयाणुरञ्जिया होइ ।
तत्तो दोण्ण कज्जं बन्धचउक्क समुद्दिट्ठं ।।४८९।।

भावार्थ—जिन परिणामों के द्वारा जीव अपने में पुण्य तथा पाप कर्म को लेपता है या ग्रहण करता है उनको लेश्या लेश्या के गुणों के ज्ञायकों ने कहा है। कषायों के उदय से रंगी हुई योगों की प्रवृत्ति को लेश्या कहते है। उससे पुण्य व पाप का प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग रूप चार प्रकार का बन्ध होता है।

कृष्ण, नील, कापोत, तीन अशुभ व पीत, पद्म, शुक्ल तीन शुभ लेश्याएँ हैं।

११. भव्यत्व मार्गणा दो प्रकार—

भविया सिद्धी जेसिं जीवाणं ते हवंति भवसिद्धा ।
तव्विवरीया भव्वा संसारादो ण सिज्झंति ॥५५६॥

भावार्थ—जिन जीवों में सिद्ध होने की योग्या है वे भव्य हैं। जिनमें यह योग्यता नहीं है वे अभव्य हैं।

१२. सम्यक्त मार्गणा छः प्रकार—

छप्पञ्चणवविहाणं अत्थाणं जिणवरोवइट्ठाणं ।
आणाए अहिगमेण य सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥५६०॥

भावार्थ—छः द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, नव पदार्थों का जैसा जिनेन्द्र ने उपदेश किया है वैसा श्रद्धान आज्ञा से या प्रमाणनय के द्वारा होना सम्यक्त है। मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, उपशम, वेदक, क्षायिक ये छः भेद हैं।

१३. संज्ञी मार्गणा दो प्रकार—

णोइन्दियआवरणखओपसमं तज्जवोहणं सण्णा ।
सा जस्स सो दु सण्णी इदरो सेसिंदिअववोहो ॥६५९॥
सिक्खाकिरियुवदेसालावग्गाही मणोवलंबेण ।
जो जीवो सो सण्णी तव्विवरीयो असण्णी दु ॥६६०॥

भावार्थ—नो इन्द्रिय जो मन उसको रोकने वाले ज्ञानावरण के क्षयोपशम से जो बोध होता है उसको संज्ञा कहते हैं। यह संज्ञा जिसको हो वह संज्ञी है। जो केवल इन्द्रियों से ही जाने वह असंज्ञी है। शिक्षा, क्रिया का उपदेश, वार्तालाप का संकेत ग्रहण जो मनके अवलंबनसे कर सके वह जीव संज्ञी है। जो इसको ग्रहण नहीं कर सके वह असंज्ञी है।

१४. आहार मार्गणा दो प्रकार—

उदयावण्णसरीरोदयेण तद्देहवयणचित्ताणं ।
णोकम्मवग्गणाणं गहणं आहारयं णाम ॥६६३॥

भावार्थ—उदय प्राप्त शरीर कर्म के उदय से उस शरीर संबंधी या भाषा या मन सम्बन्धी नो कर्म वर्गणाओं को जो ग्रहण करे वह आहारक है, जो नहीं ग्रहण करे वह अनाहारक है।

जेहिं दु लक्खिज्जंते उदयादिसु संभवेहिं भावेहिं।
जीवा ते गुणसण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरसीहिं ॥८॥

भावार्थ—मोहनीय कर्म के उदय, उपशम, क्षयोपशम या क्षय के होने पर संभव होने वाले जिन भावों से जीव पहचाने जावें उनको सर्वज्ञ ने गुणस्थान कहा है। ये मोक्षमार्ग की चौदह सीढ़ियाँ हैं। मोह व योग के सम्बन्ध से होती हैं। उनको पार कर जीव सिद्ध होता है। एक समय में एक जीव के एक गुणस्थान होता है।

मिच्छो सासण मिस्सो अविरदसम्मो य देसविरदो य।
विरदा पमत्त इदरो अपुव्व अणियट्ठ सुहुमो य ॥९॥
उवसंतखीणमोहो सजोगकेवलिजिणो अजोगी य।
चउदस जीवसमासा कमेण सिद्धा य णादव्वा ॥१०॥

भावार्थ—१. मिथ्यात्व, २. सासादन, ३. मिश्र, ४. अविरत सम्यक्त, ५. देशविरत, ६. प्रमत्तविरत, ७. अप्रमत्तविरत, ८. अपूर्वकरण, ९. अनिवृत्तिकरण, १०. सूक्ष्मलोभ, ११. उपशांत मोह, १२. क्षीण मोह, १३. सयोग केवली जिन, १४. अयोग केवली जिन। इन चौदह गुणस्थान को पार करके सिद्ध होते हैं।

चौदह गुणस्थान का स्वरूप—

[१] मिथ्यात्व गुणस्थान—

मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसद्दहणं तु तच्च अत्थाणं।
एयंतं विवरीयं विणयं संसयिदमण्णाणं ॥१५॥

भावार्थ—मिथ्यादर्शन कर्म के उदय से मिथ्यात्व भाव होता है तब तत्वों का व पदार्थों का श्रद्धान नहीं होता है, उसके पांच भेद हैं। एकांत (अनेक स्वभावों में से एक को ही मानना), विपरीत, विनय, संशय, अज्ञान।

[२] सासादन गुणस्थान—

आदिमसम्मत्तद्धा समयादो छावलित्ति वा सेसे।
अणअण्णदरुदयादो णासियसम्मो त्ति सासणक्खो सो ॥१६॥

भावार्थ—उपशम सम्यक्त के अंतर्मुहूर्त काल के भीतर जब एक समय से लेकर छः आवली काल शेष रहे तब अनंतानुबंधी चार कषायों में से किसी एक के उदय से सम्यक्त से छूट कर मिथ्यात्व की तरफ गिरता है तब बीच में सासादन भाव होता है।

[३] मिश्र गुणस्थान—

सम्मामिच्छुदयेण य जत्तंतरसव्वघादिकज्जेण ।
ण य सम्मं मिच्छंपि य सम्मिस्सो होदि परिणामो ॥२१॥

भावार्थ—जात्यंतर सर्व घाति सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से न तो सम्यक्त के भाव होते है न मिथ्यात्व के, किन्तु दोनों के मिले हुये परिणाम होते हैं।

[४] अविरत सम्यक्त गुणस्थान—

सत्तण्हं उवसमदो उवसमसम्मो खयादु खइयो य ।
बिदियकसायुदयादो असंजदो होदि सम्मो य ॥२६॥

भावार्थ—अनन्तानुबन्धी चार कषाय व मिथ्यात्व, मिश्र, सम्यक्त प्रकृति इन सात कर्मों के उपशम से उपशम सम्यक्त व उनके क्षय से क्षायिक सम्यक्त होता है। पर, सम्यक्त के साथ इस चतुर्थ गुणस्थान मे अप्रत्याख्यान कषाय के उदय से असंयम भी होता है।

[५] देशविरत—

पच्चक्खाणुदयादो संजमभावो ण होदि णवरिं दु ।
थोववदो होदि तदो देसवदो होदि पञ्चमओ ॥३०॥

भावार्थ—प्रत्याख्यान कषाय के उदय से यहा संयम नहीं होता है, किन्तु कुछ या एकदेशव्रत होता है। इसलिये देशव्रत का नाम पंचम गुण स्थान है।

[६] प्रमत्तविरत गुणस्थान—

संजलणणोकसायाणुदयादो संयमो हवे जह्मा ।
मलजणणपमादोवि य तह्मा हु परमत्तविरदो सो ॥३२॥

संज्वलन कषाय चार व नौ नोकषाय के उदय से संयम होता है परन्तु अतीचार उत्पन्न करने वाला प्रमाद भी होता है इसलिए उसे प्रमत्तविरत कहते हैं।

[७] अप्रमत्तविरत गुणस्थान—

णट्ठासेसपमादो वयगुणसीलोलिमंडिओ णाणी ।
अणुवसमओ अखवओ झाणणिलीणो हु अपमत्तो ॥४६॥

भावार्थ—सर्व प्रमादों से रहित, व्रत, गुण, शील से मंडित, ज्ञानी, उपशम व क्षपक श्रेणी के नीचे ध्यानलीन साधु अप्रमत्तविरत है।

[८] अपूर्वकरण गुणस्थान—

अन्तो मुहुत्तकालं गमिऊण अधापवत्तकरणं तं ।
पडिसमयं सुज्झंतो अपुव्वकरणं समल्लियइ ॥५०॥

भावार्थ—सातवें गुणस्थान में एक अन्तर्मुहूर्त तक अधः प्रवृत्तकरण समाप्त करके जब प्रति समय शुद्धि बढ़ाता हुआ अपूर्व परिणामों को पाता है तब अपूर्वकरण गुणस्थान नाम पाता है।

[९] अनिवृत्तिकरण गुणस्थान—

एकह्मि कालसमये संठाणादीहिं जइ णिवट्टंति ।
ण णिवट्टंति तहावि य परिणामेहिं मिहो जे हिं ॥५७॥
होंति अणियट्टिणो ते पडिसमयं जेस्सिमेक्कपरिणामो ।
विमलयरझाणहुयवहसिहाहिं णिद्दड्ढकम्मवणा ॥५७॥

भावार्थ—शरीर के आकारादि से भिन्नता होने पर भी जहाँ एक समय के परिणामों में परस्पर साधुओं के भिन्नता न हो व जिनके हर समय एक से ही परिणाम निर्मल बढ़ते हुए हों वे अनिवृत्तिकरण गुणस्थानधारी साधु हैं, जो अति शुद्ध ध्यान की अग्निशिखाओं से कर्म के वन को जलाते हैं।

[१०] सूक्ष्मलोभ गुणस्थान—

अणुलोहं वेदंत जीवो उवसामगो व खवगो वा ।
सो सुहुमसंपराओ जहखादेणूणओ किंचि ॥६०॥

भावार्थ—जो सूक्ष्मलोभ के उदय को भोगने वाला जीव उप-

शम वा क्षपकश्रेणी में हो वह सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानधारी है, जो यथाख्यात संयमी से कुछ कम है।

[११] उपशांतमोह गुणस्थान—

कदकफलजुदजलं वा सरए सरवाणियं व णिम्मलयं।
सयलोवसन्तमोहो उवसन्तकसायओ होदि ॥६१॥

भावार्थ—कतकफल गेरे हुए जल के समान या शरद् काल में निर्मल सरोवर के पानी के समान जब सर्व मोहकर्म उपशम हो तब वह साधु उपशांतकषाय नाम गुणस्थानधारी होता है।

[१२] क्षीणमोह गुणस्थान—

णिस्सेसखीणमोहो फलिहामलभायणुदयसमचित्तो।
खीणकसाओ भण्णदि णिग्गंथो वीयरायेहिं ॥६२॥

भावार्थ—सर्व मोह को नाश करके जिसका भाव स्फटिकमणि के बर्तन में रक्खे हुए जल के समान निर्मल हो वह निर्ग्रंथ साधु क्षीण-कषाय है ऐसा वीतराग भगवान ने कहा है।

[१३] सयोगकेवली जिन गुणस्थान—

केवलणाणदिवायरकिरणकलावप्पणासियण्णाणो।
णवकेवललद्धुग्गमसुजणियपरमप्पववएसो ॥६३॥
असहायणाणदंसणसहिओ इदि केवली हु जोगेण।
जुत्तोत्ति सजोगिजिणो अणाइणिहणारिसे उत्तो ॥६४॥

भावार्थ—जिसने केवलज्ञान रूपी सूर्य की किरणों से अज्ञान का नाश कर दिया है व नौ केवललब्धि के प्रकाश से परमात्मा पद पाया है व जो सहाय रहित केवलज्ञान केवलदर्शन सहित केवली है, व योग सहित है उनको अनादि निधन आगम में सयोग केवली जिन कहा है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त दान, अनन्त लाभ, अनन्त भोग, अनन्त उपभोग, अनन्त वीर्य, क्षायिक सम्यक्त, क्षायिक चारित्र ये नौ केवल लब्धियाँ हैं।

[१४] अयोगकेवलि जिन गुणस्थान—

सीलेसिं सम्पत्तो णिरुद्धणिस्सेसआसवो जीवो।
कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि ॥६५॥

भावार्थ—चारित्र के ईशपने को प्राप्त व सर्व आस्रवों से मुक्त व घातीय कर्मरज से रहित जीव अयोगकेवलि जिन होते हैं।

पहले पांच गुणस्थान गृहस्थों के, छः से बारह तक साधुओं के व तेरह चौदह दो गुणस्थान परमात्मा अरहन्त के होते हैं।

अनादि मिथ्यादृष्टि जीव चार अनन्तानुबन्धी कषाय और मिथ्यात्व कर्म को उपशम करके पहले से एकदम चौथे में आकर या कोई भी प्रत्याख्यान कषाय का भी उपशम करके एकदम पांचवें में आकर या कोई प्रत्याख्यान कषाय का भी उपशम करके एकदम सातवें में आकर उपशम सम्यक्ती एक अन्तर्मुहूर्त के लिए होता है वह मिथ्यात्व कर्म के तीन खंड कर देता है—मिथ्यात्व, मिश्र, सम्यक्त प्रकृति रूप।

इसी काल में छ. आवली तक शेष रहने पर यदि अनन्तानुबंधी किसी कषाय का उदय हो जावे तो दूसरे सासादन में गिरता है, फिर नियम से पहले में आ जाता है। यह गुणस्थान उपशम से गिर करके ही होता है। यदि उपशम सम्यक्ती के मिश्र का उदय आजावे तो तीसरे मिश्र गुणस्थान में गिरता है। एक दफे मिथ्यात्व से गिरा हुआ फिर वहां से तीसरे में जा सकता है। यदि सम्यक्त मोहनीय का उदय हो जाय तो उपशम से वेदक सम्यक्ती हो जाता है। वेदक से क्षायिक सम्यक्ती चौथे से सातवें तक किसी में हो सकता है।

चौथे से पांचवें में या सातवें में जा सकता है। पांचवें से सातवें में चला जाता है, छठे में नहीं। सातवें से छठे में गिरता है। साधु के छठा सातवां बारबार हुआ करता है। इस पंचम काल में सात गुणस्थान ही हो सकते हैं। आगे के गुणस्थान उत्तम संहननवालों के होते हैं। पंचमकाल में तीन नीचे के संहनन ही होते हैं।

धर्मध्यान सातवें तक होता है, शुक्लध्यान आठवें से होता है, सातवें के आगे दो श्रेणियां हैं—उपशम श्रेणी जहां मोह का उपशम किया जाता है, उसके गुणस्थान चार हैं—आठवां, नौवां, दसवां, ग्यारहवां। फिर नियम से क्रम से पतन होता है। क्षपक श्रेणी जहां

मोह का क्षय किया जाता है, उस श्रेणी पर वज्रवृषभनाराच संहनन-धारी ही चढ़ सकता है। उसके चार गुणस्थान हैं—आठवाँ, नौवाँ, दसवाँ, बारहवाँ।

फिर बारहवाँ गुणस्थानधारी तीन दोष या तीन कर्म क्षय करके तेरहवें में आकर अरहन्त परमात्मा जिनेन्द्र हो जाता है। उसी गुण-स्थान में विहार व उपदेश होता है। आयु के भीतर जब अ, इ, उ, ऋ, लृ, लघु पंच अक्षर उच्चारण मात्र काल शेष रहता है तब चौद-हवाँ गुणस्थान होता है, फिर जीव सिद्ध हो जाता है।

छठे, पाँचवें, चौथे से गिरकर एकदम किसी भी नीचे के गुण-स्थान में आ सकता है, तीसरे व दूसरे से आकर पहले में ही जायगा। तीसरे में व क्षपकश्रेणी मे व केवली के तेरहवें में मरण नही होता है। पहले, चौथे, पाँचवें, तेरहवें का काल उत्कृष्ट बहुत है। शेष सर्व गुण-स्थानों का काल एक अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं है।

एक जीव के चौदह मार्गणाएँ एक साथ पाई जायँगी व गुण-स्थान एक ही होगा। एक प्रमत्तविरत साधु के उपदेश देते हुए इस प्रकार मार्गणाएँ होंगी...

१. मनुष्य गति, २. पंचेन्द्रिय, ३. त्रसकाय, ४. वचनयोग, ५. पुंवेद, ६. लोभ कषाय, ७. श्रुतज्ञान, ८. सामायिक संयम, ९. चक्षु अचक्षुदर्शन, १०. शुभ लेश्या, ११. भव्यत्व, १२. वेदक सम्यक्त्व, १३. संज्ञी, १४. आहारक।

कर्मों की अपेक्षा से ही ये गुणस्थान व मार्गणाएँ हैं। इसलिए व्यवहारनय से कही है, निश्चयनय से जीव इनसे रहित हैं।

समयसार में कहा है—

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया।
गुणठाणन्ताभावा ण दु केइ णिच्छयणयस्स ॥६१॥

भावार्थ—वर्णादि, मार्गणा गुणस्थानादि सर्व भाव व्यवहारनय से जीव के कहे गये हैं। निश्चयनय से ये कोई जीव के नहीं हैं। यह तो परम शुद्ध है।

—•—

गृहस्थी भी निर्वाण मार्ग पर चल सकता है

गिहिवावार परट्ठिया हेयाहेउ मुणंति ।
अणुविणु झायहि देउ जिणु लहु णिव्वाणु लहंति ॥१८॥

यह कार्य यदपि करें, तदपि स्वानुभव दक्ष ।
ध्यावें सदा जिनेश पद, होय मुक्त प्रत्यक्ष ॥१८॥

अन्वयार्थ—(**गिहिवावार परट्ठिया**) जो गृहस्थ के व्यापार में लगे हुए हैं (**हेयाहेउ मुणंति**) तथा हेय उपादेय को—त्यागने योग्य व ग्रहण करने योग्य को जानते हैं (**अणुविणु जिणु वेउ झायहि**) तथा रात दिन जिनेन्द्र देव का ध्यान करते हैं (**लहु णिव्वाणु लहंति**) वे भी शीघ्र निर्वाण को पाते है।

भावार्थ—निर्वाण का उपाय हरएक भव्य जीव कर सकता है। यहाँ यह कहा है कि गृहस्थ के व्यापार धन्धे में उलझा हुआ मानव भी निर्वाण का साधन कर सकता है। यह बात समझनी चाहिए कि निर्वाण आत्मा का शुद्ध स्वभाव है, वह तो यह आप है ही, उस पर जो कर्म का आवरण है उसको दूर करना है। उसका भी साधन एक मात्र अपने ही शुद्ध आत्मीक स्वभाव का दर्शन या मनन है। निर्वाण का मार्ग भी अपने पास ही है।

सम्यग्दृष्टी अन्तरात्मा के भीतर भेद विज्ञान की कला प्रगट हो जाती हैं, जिसके प्रभाव से वह सदा ही अपने आत्मा को सर्व कर्मजाल से निराला वीतराग विज्ञानमय शुद्ध सिद्ध के समान श्रद्धान करता है, जानता है तथा उसका आचरण भी कर सकता है। जिसकी रुचि हो जाती है उस तरफ चित्त स्वयमेव स्थिर हो जाता है। आत्मस्थिरता भी करने की योग्यता अविरत सम्यक्ती गृहस्थ को हो जाती है। वह जब चाहे तब सिद्ध के समान अपने आत्मा का दर्शन कर सकता है।

आत्मदर्शन गृहस्थ तथा साधु दोनों ही कर सकते हैं। गृहस्थ अन्य कार्यों की चिन्ता के कारण बहुत थोड़ी देर आत्मदर्शन के कार्य

[illegible] जब कि साधु गृही कार्य से निवृत्त है। [illegible] को गृह सम्बन्धी अनेक कार्यों की कोई फिकर नहीं है, इस लिये वह निरन्तर आत्मध्यान कर सकता है। निर्वाण का साक्षात् साधन साधु-पद में ही हो सकता है, गृहस्थ में एकदेश साधन हो सकता है।

हर एक तत्त्वज्ञानी अन्तरात्मा गृहस्थ को चार पुरुषार्थों का साधन आवश्यक है। मोक्ष या निर्वाण के पुरुषार्थ को ध्येयरूप या सिद्ध करने योग्य मान के निर्वाण प्राप्ति का लक्ष्य रखके अन्य तीन पुरुषार्थ धर्म, अर्थ और काम का साधन गृहस्थ करता है। तीनों में विरोध न पहुंचे इस तरह तीनों की एकता पूर्वक कार्य करता है इतना धर्म का भी साधन नहीं करता है जो द्रव्य को न पैदा कर सके व शरीर से इंद्रिय भोग न कर सके। इतना द्रव्य कमाने में भी नहीं लगता है जो धर्म को साधन न कर सके व शरीर को रोगी बना ले जिससे काम पुरुषार्थ न कर सके। इतना इंद्रिय भोग नहीं करता है जिससे धर्मसाधन में हानि पहुंचे व द्रव्य का लाभ न कर सके।

अर्थ पुरुषार्थ के लिये वह अपनी योग्यता के अनुसार नीचे लिखे छः कर्म करता है व इनमें सहायक होता है—

(१) **असिकर्म**—रक्षा का उपाय, शस्त्र धारण करके रक्षा का काम।

(२) **मसिकर्म**—हिसाब किताब जमा-खर्च व पत्रादि लिखने का काम।

(३) **कृषिकर्म**—खेती करने व कराने का व प्रबन्ध करने की व्यवस्था।

(४) **वाणिज्यकर्म**—देश परदेश में माल का क्रय-विक्रय करना।

(५) **शिल्पकर्म**—नाना प्रकार के उद्योगों से आवश्यक वस्तुओं को बनाना।

(६) **विद्याकर्म**—गाना, बजाना, नृत्य, चित्रकारी आदि के हुनर।

काम पुरुषार्थ में वह न्याय पूर्वक व धर्म का खंडन न करते हुए पांचों इन्द्रियों के भोग भोगता है। स्पर्शन इन्द्रिय के भोग में अपनी विवाहिता स्त्री में सन्तोष रखता है, रसना इन्द्रिय के भोग में शुद्ध व स्वास्थ्यवर्धक भोजन पान ग्रहण करता है, घ्राण इन्द्रिय के भोग में शरीर रक्षक सुगन्ध लेता है, चक्षु इन्द्रिय के भोग में उपयोगी रूपों का व वस्तुओं का अवलोकन करता है, कर्ण इन्द्रिय के भोग में उपयोगी चर्चा व गानादि सुनता है।

धर्म पुरुषार्थ में वह ग्रहस्थ नित्य छः कर्मों का साधन करता है—

देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थाणां षट्कर्माणि दिने दिने ॥
(पद्मनंदि श्रावकाचार)

(१) **देवपूजा**—अरहन्त व सिद्ध परमात्मा—जिनेन्द्र की भक्ति करना। उसके छः प्रकार हैं १. नाम लेकर गुणस्मरण **नाम भक्ति** है। २. स्थापना या मूर्ति द्वारा पूजन, दर्शन व जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल इन आठ द्रव्यों से पूजन **स्थापना भक्ति** है। ३. अरहन्त व सिद्ध के स्वरूप का विचार **द्रव्य भक्ति** है। ४. अरहन्त व सिद्ध के भावों का मनन **भाव भक्ति** है। ५. जिन स्थानों से महान पुरुषों ने जन्म तप, ज्ञान, निर्वाण को पाया उन सभी के द्वारा गुण स्मरण **क्षेत्र भक्ति** है। ६. जिन समयों में जन्म, तप, ज्ञान व निर्वाण पाया उन कालों को ध्यान में लेकर गुण स्मरण **काल भक्ति** है। छः प्रकार से देवपूजा होती है। यथासम्भव नित्य करे।

(२) **गुरु भक्ति**—आचार्य, उपाध्याय, साधु की विनय सेवा, उनसे उपदेश ग्रहण यदि प्रत्यक्ष न हो तो परोक्ष उनकी शिक्षा को मान्य रखना **गुरुसेवा** है।

(३) **स्वाध्याय**—तत्वज्ञान पूर्ण आध्यात्मिक शास्त्रों को पढ़ना व सुनना व विचारना।

(४) **संयम**—नियमित आहारादि करना, स्वच्छन्द वर्तन न करना।

(५) **तप**—प्रातःकाल व संध्याकाल कुछ देर तक आत्मध्यान का अभ्यास करना, सामायिक पाठ पढ़ना, आत्मा का स्वरूप विचारना।

(६) **दान**—भक्ति पूर्वक धर्मात्मा मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका को व दयाभाव से प्राणी मात्र को आहार, औषधि, अभय व ज्ञान दान देना। तथा आठ मूलगुणों को पालना। वे मूलगुण भिन्न-भिन्न आचार्यों के मत से नीचे प्रकार हैं :—

मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपंचकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहुः गृहिणा श्रमणोत्तमः ॥६६॥ (रत्न० श्रा०)

भावार्थ—१. मदिरा नही पीना, २. मांस नही खाना, ३. मधु नहीं खाना, क्योंकि मक्खियो का घातक है व हिंसाकारक है। इन तीन मकारों को नहीं सेवना, तथा पाँच अणुव्रतों को पालना।

(१) **अहिंसा अणुव्रत**—संकल्पी हिंसा नही करना, जैसे शिकार को माँसाहार के लिए, धर्मार्थ पशुवध, वृथा मौज-शौक मे प्राणी पीड़ा करना आदि। आरम्भ हिंसा जो अर्थ व काम पुरुषार्थ के साधन मे आवश्यक है उसको यह साधारण गृहस्थी त्याग नही कर सकता है, वृथा आरम्भ भी नही करता है।

(२) **सत्य अणुव्रत**—सत्य बोलता है। पर पीड़ाकारी वचन नही बोलता है। कटुक निन्दनीय भाषा नही बोलता है। आरम्भ साधक बचनों का त्याग नही कर सकता।

(३) **अचौर्य अणुव्रत**—गिरी पड़ी व भूली हुई किसी की वस्तु नही ग्रहण करता है। चोरी विश्वासघात से बचता है।

(४) **ब्रह्मचर्य अणुव्रत**—स्वस्त्री मे सन्तोष रख के वीर्य की रक्षा करता है।

(५) **परिग्रह परिमाण अणुव्रत**—तृष्णाके घटानेके लिए सम्पत्ति का प्रमाण कर लेता है। उतनी मर्यादा पूरी होने पर परोपकार व धर्मार्थ जीवन बिताता है।

यह गृहस्थी इस वाक्य पर ध्यान रखता है—
सर्वमेव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणं॥

भावार्थ—जैन गृहस्थ उन सर्व लौकिक नियमों को मान्य कर लेगा कि जिनसे अपनी श्रद्धा में व पाँच अणुव्रतों में बाधा नहीं आवे। सामाजिक नियमों का परिवर्तन उस आधार पर कर सकता है।

श्री जिनसेनाचार्य महापुराण में कहते हैं—

हिंसाऽसत्यस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहाच्च बादरभेदात्।
द्यूतान्मांसान्मद्याद्विरतिर्गृहिणोऽष्टमूलगुणाः ॥१८२॥

भावर्थ – स्थूल, हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म, परिग्रहका त्याग तथा जूआ नहीं खेलना, मांस नही खाना, मदिरा नहीं पीना, ये गृहस्थी के आठ मूलगुण हैं।

पण्डित आशाधर सागारधर्मामृत में कहते हैं—

मद्यपलमधुनिशासनपञ्चफलीविरतिपञ्चकाप्तनुतिः।
जीवदया जलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणाः ॥१८२॥

भावार्थ– ये भी आठ मूलगुण हैं—१. मदिरा त्याग, २. मांस त्याग, ३. मधु त्याग, ४. रात्रिभोजन त्याग, ५. पाँच फल गूलर, पाकर, बड़, पीपल, कठूमर, अंजीर त्याग, ६. पाँच परमेष्ठी भक्ति, ७. जीव दया, ८. जल छानकर पीना।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है—

मद्यं मांसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन।
हिंसाव्युपरतकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥६१॥

भावार्थ—हिंसा से बचने वाले को प्रथम ही मदिरा, मांस, मधु, को त्यागना व ऊपर कहे पाँच फल न खाने चाहिए।

आत्मज्ञानी गृहस्थ जिनेन्द्र का व अपने आत्मा का स्वभाव एक समान जानता है इसलिए निरन्तर जिनेन्द्र के ध्यान से वह अपना ही ध्यान करता है। गृहस्थ सम्यग्दृष्टी आत्मा के चितवन को परम रुचि से करता है। शेष कामों को कर्मों के उदयवश लाचार होकर करता है। उस गृहस्थ के ज्ञानचेतना की मुख्यता है। गृहस्थ के रागद्वेषपूर्वक कामों में व कर्मफल भोग में भीतर से समभाव है। भावना यह रखता है कि कब कर्म का उदय टले जो मैं गृह प्रपंच से छूटूं।

समाधिशतक में कहा है—

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।
कुर्यादर्थवशात् किंचिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥५०॥

भावार्थ - ज्ञानी सम्यग्दृष्टी आत्मज्ञान के सिवाय अन्य को बुद्धि में देर तक नहीं धारता है। प्रयोजनवश कुछ काम करना हो तो उसमें आसक्त न होकर वचन व काय से कर लेता है।

समयसार कलश में कहा है—

नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत् स्वं फलं विषयसेवनस्य ना।
ज्ञानवैभवविरागताबलात्सेवकोऽपि तदसावसेवकः ॥३-७॥

भावार्थ—ज्ञानी विषयों को सेवन करते हुये विषय सेवन के फल को नहीं भोगता है। वह तत्वज्ञान की विभूति व वैराग्य के बल से सेवते हुये भी सेवने वाला नहीं है। समभाव से कर्म का फल भोगने पर कर्म की निर्जरा बहुत होती है, बन्ध अल्प होता है, इसलिये सम्यग्दृष्टी गृहस्थ निर्वाण का पथिक होकर संसार घटाता है। उसकी दृष्टि स्वतन्त्रता पर रहती है, संसार से उदासीन है, प्रयोजन के अनुकूल अर्थ व काम पुरुषार्थ साधता है व व्यवहार धर्म पालता है, परंतु उन सबसे वैरागी है। प्रेमी मात्र एक अपने आत्मानुभव का है, उससे यह शीघ्र ही निर्वाण को पाने की योग्यता को बढ़ा लेता है।

जिनेन्द्र का स्मरण परम पद का कारण है

जिण सुमिरहु जिण चिंतवहु जिण झायहु सुमणेण।
सो झाहंतह परमपउ लब्भइ एक्कखणेण ॥१९॥

जिन सुमिरो जिन चित, जिन ध्यावो मन कर शुद्ध।
लहो परम पद क्षणक में, होकर के प्रतिबुद्ध ॥१९॥

अन्वयार्थ—(सुमणेण) शुद्धभाव से (जिण सुमिरहु) जिनेन्द्र का स्मरण करो (जिण चिंतवहु) जिनेन्द्र का चिंतवन करो (जिण झायहु)

जिनेन्द्र का ध्यान करो (तो लहइ) ऐसा ध्यान करनेसे (एकक्षणेन) एक क्षण में (परमपद लभते) परम पद प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—जिनेन्द्र के स्वभाव में व अपने आत्मा के मूल स्वभाव में कोई प्रकार का अन्तर नहीं है। सम्यग्दृष्टी अन्तरात्मा आत्मा के उत्कृष्ट पद का परमप्रेमी हो जाता है। उसके भीतर यह अनुकम्पा पैदा हो जाती है कि जिनके समान होते हुये भी इसे भव भव में जन्म मरण के कष्ट सहने पड़े, यह बात ठीक नहीं है। इसे तो जिन के समान स्वतन्त्र व पूर्ण व पवित्र बना देना चाहिये। यह पर्याय की अपेक्षा अपने आत्मा को अशुद्ध रागी, द्वेषी, अज्ञानी, कर्मबद्ध, शरीर में कैद पाता है व श्री जिनेन्द्र भगवान को शुद्ध वीतरागी, ज्ञानी, कर्म-मुक्त व शरीर से रहित देखता है तब गाढ़ प्रेमालु व उत्साहित हो जाता है कि शुद्ध पद में अपने आत्मा को शीघ्र पहुंचा देना चाहिये। वह जिन पद को आदर्श या शुद्धता का नमूना मान के हर समय उसको धारणा में रखता हैं।

गृहस्थी के काम व आहार विहारादि करते हुये भी वह बार-बार जिनदेव को स्मरण करता है। कभी देव पूजादि व सामायिक के समय जिन पदके स्वरूप का—जिनकी गुणावली का चिन्तवन करता है। चिन्तवन करते करते क्षणमात्र के लिये स्थिर होता है। आपको जिन भगवान के स्वरूप में जोड़ देता है। दो को एकी भाव में कर देता है। अद्वैत के शुद्ध भाव में एकतान हो जाता है, तब वास्तव में उसी क्षण आत्मा का साक्षात्कार पाकर निर्वाणका-सा आनंद अनुभव करता है। ध्यान में थिरता कम होने पर फिर ध्यान से छूटकर चिन्तवन करने लगता है। फिर ध्यान को पा लेता है। फिर आनन्द का अमृत पीने लगता है। इस तरह जिन समान अपने आत्मा का ध्यान ही परम पद के निकट ले आने का वाहन हो जाता है। यदि कोई साधु वज्रवृषभ-नाराच संहनन का धारी लगातार एक मुहूर्त या ४८ मिनट से कुछ कम समय तक ध्यान में एकतान हो जावे तो चारों घातीय कर्मों का क्षय करके अरहंत परमात्मा हो जावे। फिर उस शरीर के पीछे शरीर रहित सिद्ध हो जावे]।

जैसे कोई स्त्री पति के परदेश जाने पर अपना घर का श्रम करती हुई भी बार-बार पति को स्मरण करती है, कभी स्थिर बैठकर पति के गुणों को व प्रेम को विचार करती है। विचारते विचारते कभी प्रेम में आसक्त हो पति से मिलने का सा सुख अनुभव करती है। इसी तरह जिनेन्द्र पद का प्रेमी अन्तरात्मा ज्ञानी गृहस्थ हो या साधु आत्मा के कार्यके सिवाय अन्य कामोंको करते हुये जिनेन्द्रका बार-बार स्मरण करता है। कभी एकान्त में स्थिर बैठकर गुणों को विचारता है, कभी ध्यान में लीन हो जाता है। उसका जितना प्रेम जिन भगवान के स्वरूप से है उतना किसी वस्तु से नहीं है, ज्ञानी अन्तरात्मा शुद्ध वीत-राग भाव से जिन भगवान का स्मरण, चिन्तवन व उनका ध्यान करता है। किसी प्रकार की वांछा व फल की चाहना नहीं रखता है। उसके भीतर संसार के सर्व क्षणिक पदों से पूर्ण वैराग्य है। वह इन्द्र, चक्रवर्ती आदि के पदों को भी नहीं चाहता है। न वह इन्द्रियों के तृष्णावर्द्धक भोगों को चाहता है, न वह अपनी पूजा या प्रसिद्धि चाहता है। वह कषाय कालिमा को बिलकुल मेटना चाहता है, वीत-राग होना चाहता है, स्वानुभव प्राप्त करना चाहता है, निजानन्द रस पाना चाहता है। इसलिये वह मुमुक्षु शुद्ध निर्लेप भाव से जिनेन्द्र भगवान का स्मरण चिन्तवन व ध्यान करता है। यह उसको ज्ञान है कि भक्ति करने से या सविकल्प चिन्तवन करने से या निर्विघ्न ध्यान रने से भी जितना अंश राग भाव होगा, वह कर्मबन्ध करेगा, पुण्य को भी बाँधेगा व पुण्य का फल भी होगा। परन्तु वह ज्ञानी पुण्य को व पुण्य के फल को बिलकुल चाहता नही है। वह तो कर्म रहित पद को ही चाहता है।

इस ज्ञानी के भीतर सम्यग्दर्शन के आठ अंग भले प्रकार अंकित रहते हैं। वह ज्ञानी इन आठ अंगों का मनन इस तरह रखता है कि मुझे अपने आत्मा के शुद्ध स्वभाव में या जिन परमात्मा में कोई संशय नहीं है, न मुझे मरण का रोगादि का व किसी अकस्मात् का भय है। मेरा आत्मा अमूर्तीक अभेद्य, अछेद्य, अविनाशी है। इसका कोई बिगाड़

कर नहीं सकता है। इस तरह स्वरूप में निश्शंक व निर्भय होकर निश्शंकित अंग पालता है। इस ज्ञानी को कर्मों के आधीन क्षणिक, तृष्णावर्द्धक पापबन्धकारी इन्द्रिय सुखों की रंच मात्र लालसा या आकांक्षा नहीं होती है। यह पूर्णपने वैरागी है। केवल अपने अतीन्द्रिय आनन्द का प्यासा है। उस परमानन्द के सिवाय किसी प्रकार के अन्य सुख को व स्वानुभव के सिवाय अन्य किसी व्यवहार धर्म की या मोक्ष पद के सिवाय अन्य किसी पद की वांछा नहीं रखता है। वह चाह तो शुद्ध भाव की रखता हुआ निष्कांक्षित अंग को पालता है। ज्ञानी छः द्रव्यों को व उनके गुणों के व उनकी होने वाली स्वाभाविक व वैभाविक पर्यायों को पहचानता है। सर्व ही जगत की व्यवस्था को नाटक के समान देखता है। किसी को बुरी भली मानने का विचार न करके घृणा भाव की कालिमा से दूर रहकर व समभाव की भूमि में तिष्ठकर निर्विचिकित्सित अग को पालता है।

वस्तु स्वरूप को ठीक ठीक जानने वाला ज्ञानी जैसे अपने आत्मा को द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नय से एक व अनेक रूप देखता है वैसे अन्य जगत की आत्माओं को देखता है, वह किसी बात में मूढ़भाव नही रखता है। वह धर्म, अधर्म, आकाश, काल चार द्रव्यों को स्वभाव में सदा परिणमन करते हुये देखता है। पुद्गल की स्वाभाविक व वैभाविक पर्यायों को पुद्गल की मानता है। जीव की स्वाभाविक व वैभाविक नैमित्तिक पर्यायोंको जीवकी जानता है। उपादेय एक अपने शुद्ध द्रव्य को ही जानता है। इस तरह ज्ञानी वस्तु स्वभाव का ज्ञाता होकर अमूढ़ दृष्टि अंग पालता है। ज्ञानी सर्व रागादि दोषोंसे परे रहकर व कषाय के मैल को मैल समझकर उनसे रहित अपने वीतराग स्वभाव के अनुभव में जमकर अपने भीतर अनन्त शुद्ध गुणों को प्रकाश करता है, दोषों से उपयोग हटाकर आत्मीक गुणों में अपने को झलकाता हुआ उपगूहन या उपबृंहन अङ्ग को पालता है।

ज्ञानी जानता है कि राग द्वेषों की पवन लगने से मेरा आत्मीक समुद्र चंचल होगा। इसलिये वीतराग भावमें स्थिर होकर व ज्ञान चेत-

[illegible] होकर आत्मानन्द के स्वाद में तन्मय हो स्थितिकरण अङ्ग को पालता है। अपने उपयोग को आत्मा की भूमि में रमने से बाहर नहीं जाने देता है। ज्ञानी जीव सर्व जगत की आत्माओं को एक समान शुद्ध व परमानन्दमय देखकर परम शुद्ध प्रेम में पग कर ऐसा प्रेमालु हो जाता है कि सर्व विश्व को एक शांतिमय समुद्र बनाकर उस समुद्र में गोते लगाता है। शुद्ध विश्व-प्रेम को रखकर वात्सल्य अङ्ग पालता है। वह ज्ञानी अपने निर्मल उपयोग रूपी रथ में परमात्मा को विराज-मान करके ध्यान के मार्ग में रथ को चलाकर अपने आत्मा की परम शांत महिमा को विस्तार करके प्रभावना अङ्ग पालता है। इस तरह विभूषित ज्ञानी शुद्ध भाव से श्री जिनेन्द्र का स्मरण, चिन्तवन व ध्यान करता हुआ निर्वाण के अचल नगर को प्रयाण करता है। समाधि-शतक में कहा है—

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृशः।
वर्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी ॥९७॥

भावार्थ—जैसे बत्ती दीपक से भिन्न है तो भी दीपक की सेवा करके स्वयं दीपक हो जाती है वैसे यह भिन्न परमात्मा की उपासना करके स्वयं परमात्मा हो जाती है।

भावपाहुड में श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं—

णाणम्मविमलसीयलसलिलं पाऊण भविय भावेण।
बाहिजरमरणवेयणडाहविमुक्का सिवा होंति ॥१२५॥

भावार्थ भव्यजीव शुद्धभाव से ज्ञानमई निर्मल शीतल जल को पीकर व्याधि, जरा, मरण की वेदना की दाह से छूट कर शिवरूप मुक्त हो जाते हैं। आप्तस्वरूप में कहा है कि—

रागद्वेषादयो येन जिताः कर्म महाभटाः।
काल चक्र विनिर्मुक्तः स जिनः परिकीर्तितः ॥२१॥

भावार्थ—जिसने राग द्वेषादि को व कर्म रूपी महान् योद्धाओं को जीता है व जो मरण के चक्र से रहित है वही जिन कहा गया है।

अपनी आत्मा में व जिनेन्द्र में भेद नहीं

सुद्धप्पा अरु जिणवरहं भेउ म किमवि वियाणि ।
मोक्खह कारण जोईया णिच्छइ एउ वियाणि ॥२०॥

जिनवर अरु शुद्धात्म में, किंचित् भेद न जान ।
यही कारण मोक्ष के, ध्यावो श्रद्धावान ॥२०॥

अन्वयार्थ—(**जोईया**) हे योगी ! (**सुद्धप्पा अरु जिणवरहं किम वि भेउ म वियाणि**) अपने शुद्धात्मा में और जिनेन्द्र में कोई भी भेद मत समझो (**मोक्खह कारण णिच्छइ एउ वियाणि**) मोक्ष का साधन निश्चयनय से यही मानो ।

भावार्थ—मोक्ष केवल एक अपने ही आत्मा की पर के संयोग रहित शुद्ध अवस्था का नाम है । तब उसका उपाय भी निश्चयनय से या पर्याय में यही है कि अपने आत्मा को शुद्ध अनुभव किया जावे तथा श्री जिनेन्द्र अरहंत या सिद्ध परमात्मा के समान ही अपने को माना जावे ।

जब ऐसा माना जायगा तब अनादि की मिथ्या वासना का अभाव होगा । अनादि से यही मिथ्याबुद्धि थी कि मैं एक नर हूँ, नारकी हूँ, तिर्यंच हूँ या देव हूँ या मैं रागी, हूँ, द्वेषी हूँ, क्रोधी हूँ, मानी हूँ, मायावी हूँ, लोभी हूँ, कामी हूँ, रूपवान हूँ, बलवान हूँ, रोगी हूँ, निरोगी हूँ, बालक हूँ, युवा हूँ, वृद्ध हूँ । मैं जन्मा, मैं वृद्ध हुआ, मैं मरा, आठ कर्मों के उदय के विपाक से जो विभाव दशा आत्मा की होती थी उसी को यह अज्ञानी अपनी ही मूल दशा मान लेता था । कर्मकृत रचना में अहंबुद्धि रखता था, शरीर के सुख में सुखी व शरीर के दुख में दुखी मानता था । जैसे कोई सिंह बालक सिंह होके भी दीन पशु बना रहता है, वैसे ही अज्ञान से वह अपने को दीन हीन संसारी मान रहा था । श्री गुरु के प्रसाद से या शास्त्र के ज्ञान से या स्वयं ही उसकी जब ज्ञान की आँख खुली, उसको यह प्रतीति हुई कि मैं तो स्वयं भगवान परमात्मा हूँ । मेरा स्वभाव सिद्ध परमात्मा से रंचमात्र

कछ नहीं है। मैं तो संसार के प्रपंचों से रहित हूँ, मैं कर्मों से अलिप्त हूँ, परम वीतराग हूँ, परमानन्दमय हूँ, जितने अनन्त गुण सिद्ध परमात्मा में हैं वे सब मेरे आत्मा में हैं। मैं अमूर्तीक अखण्ड ज्ञानमूर्ति हूँ, केवल आपसे आप में आप ही के लिये आप में से आपको आप ही परिणमाता हूँ।

मैं ही अपनी शुद्ध परिणति का कर्ता हूँ, शुद्ध परिणाम ही मेरा कर्म है। शुद्ध परिणाम ही कारण है। यही संप्रदान है, अपादान हैं, यही अधिकरण है या मैं इन छहों कारकों के विचार से रहित एक अभेद स्वरूप हूँ, मैं स्वयं रागादिक भावों का या पुण्य पाप कर्म का कर्ता नहीं हूँ, मैं केवल अपने ही शुद्ध व अतीन्द्रिय सहज आनन्द का भोगने वाला हूँ, मैं सांसारिक सुख का या दुःख का भोगने वाला नहीं हूँ।

मैं सिद्ध के समान परम निश्चल हूँ, भोग की चंचलता से रहित हूँ। मन, वचन, काय के पन्द्रह योगों से शून्य हूँ, मैं कर्म तथा नोकर्म का आकर्षण करने वाला नही। न मेरे मे अजीव तत्त्व है, न आस्रव तत्व है, न बन्ध तत्व है, न संवर तत्व है, न निर्जरा तत्व है, न मोक्ष तत्व है। मैं तो सदा ही शुद्ध जीवत्व का धारी एक जीव हूँ। सुख, सत्ता, चैतन्य (स्वानुभूति), बोध ये चार ही मेरे निज प्राण हैं, जिनसे मैं सदा जीवित हूँ।

जैसे सिद्ध भगवान कृतकृत्य हैं वैसे मै कृतकृत्य हूँ। न वे जगत के रचने वाले हैं न मैं जगत का रचने वाला हूँ। न वे किसी को सुख या दुःख देते है, न मैं किसी को सुख या दुःख देता हूँ। वे जगत के प्रपंच से निराले, मैं भी जगत के प्रपच से निराला हूँ। वे असख्यात प्रदेशी अखण्ड हैं, मैं भी असख्यात प्रदेशी अखण्ड हूँ। वे अन्तिम शरीरप्रमाण आकारधारी है, मैं अपने शरीरप्रमाण आकारधारी हूँ, परन्तु प्रदेशों की संख्या में कम नही हूँ। वे सिद्ध भगवान सर्व गुणस्थान की श्रेणियों से बाहर हैं, मैं भी गुणस्थानों से दूरवर्ती हूँ। सिद्ध भगवान चौदह मार्गणाओं से परे हैं, मैं भी चौदह मार्गणाओं से जुदा हूँ।

सिद्ध भगवान तृष्णा की दाह से रहित हैं, मैं भी तृष्णा की

दाह से रहित हूँ । सिद्ध भगवान कामवासना से रहित हैं, मैं भी काम-विकार से रहित हूँ । सिद्ध भगवान न स्त्री हैं, न पुरुष हैं, न नपुंसक हैं; मैं भी न स्त्री हूँ, न पुरुष हूँ, न नपुंसक हूँ । सिद्ध भगवान क्रोध की कालिमा से रहित परम क्षमावान हैं, निन्दक पर रोष नहीं करते; मैं भी क्रोध के विकार से रहित परम क्षमावान हूँ, निन्दक पर सम-भाव का धारी हूँ । सिद्ध भगवान कुल, जाति, रूप, बल, धन अधिकार, तप, विद्या इन आठ मदों से रहित परम कोमल, परम मार्दव गुणधारी हैं; मैं भी आठों मदों से रहित पूर्ण निरभिमानी व परम कोमल मार्दव भाव का धनी हूँ । सिद्ध भगवान मायाचार की वक्रता से रहित परम सरल सहज आर्जव गुणधारी हैं, मैं भी कपट-जाल से शून्य परम निष्कपट सरल आर्जव स्वभावधारी हूँ ।

सिद्ध भगवान असत्य की वक्रता से रहित परम सत्य अमिट एक स्वभावधारी है, मैं भी सर्व असत्य कल्पनाओं से रहित परम-पवित्र सत्य शुद्ध धर्म का धनी हूँ । सिद्ध भगवान लोभ के मल से रहित परमपवित्र शौच गुण के धारी हैं, मैं भी सर्व लालसा से शून्य परम सन्तोषी व परम शुद्ध शौच स्वभाव का स्वामी हूँ । सिद्ध भग-वान मन व इन्द्रियों के प्रपंच से व अदयाभाव से रहित पूर्ण संयम धर्म के धारी हैं, मैं भी मन व इन्द्रियों की चंचलता से रहित व परम-स्वदया से पूर्ण परम संयम गुण का धारी हूँ । सिद्ध भगवान आपसे ही अपनी स्वानुभूति की तपस्या को निरन्तर तपते हुए परम तप धर्म के धारी हैं, मैं भी स्वात्माभिमुख होकर अपनी ही स्वात्मरमणताकी अग्नि में निरंतर आपको तपाता हुआ परम इच्छा रहित तप गुण का स्वामी हूँ । सिद्ध भगवान परम शांत भाव से पूर्ण होते हुये व परम निर्भयता को धारते हुये विश्व में परम शांत व अभय दान को विस्तारते हुये परम त्याग धर्म के धारी हैं, मैं भी सर्व विश्व से चन्द्रमा में समान परम शान्त अमृत वर्षाता हुआ व सर्व जीवमात्र को अभय करता हुआ परम त्याग गुण का स्वामी हूँ । सिद्ध भगवान एकाकी निस्पृह निरंजन रहते हुये परम अकिंचन्य धर्म के धारी हैं, मैं भी परम एकांत

स्वभाव में रहता हुआ व पर के संयोग से रहित परम आकिंचन्य गुण का स्वामी हूँ। सिद्ध भगवान् परमशील स्वभाव में व अपने ही ब्रह्म-भाव में रमण करते हुये परम ब्रह्मचर्य धर्म के धारी हैं, मैं भी अपने ही शुद्ध स्वभाव में निर्विकारता से स्थिर होता हुआ व ब्रह्मभाव का भोग करता हुआ परम ब्रह्मचर्य गुण का स्वामी हूँ। सत्ताधारी होते हुये भी स्वभाव की व गुणों की अपेक्षा मेरे आत्मा की व सिद्ध परमात्मा की पूर्ण एकता है। जो वह सो मैं, जो मैं सो वह, इस तरह जो योगी निरन्तर अनुभव करता है वही मोक्ष का साधक होता है।

परमात्मप्रकाश में कहा है —

जेहउ णिम्मलु णाणमउ, सिद्धिहिं णिवसइ देउ।
तेहउ णिवसइ बंभुपरु, देहहं मंकरि भेउ ॥२६॥

भावार्थ—जैसे निर्मल ज्ञानमय परमात्मादेव सिद्ध गति में निवास करते हैं, वैसे ही परब्रह्म परमात्मा इस अपने शरीर में निवास करता है, कुछ भेद न जाने। **बृहद् सामायिक पाठ** मे कहते हैं—

गौरो रूपधरो दृढः परिदृढः स्थूलः कृशः कर्कशो,
गीर्वाणो मनुजः पशुर्नरकभूः षंढः पुमानंगना।
मिथ्यात्वं विदधासि कल्पनमिद मूढोऽविबुध्यात्मनो,
नित्य ज्ञानमयस्वभावममल सर्वव्यपायच्युतम् ॥७०॥

भावार्थ—हे मूढ प्राणी ! तू अपने आत्मा को नित्य, ज्ञानमय स्वभावी, निर्मल व सर्व आपत्तियों व नाश से रहित नही जानके ऐसी मिथ्या कल्पना करता रहता है कि मै गोरा हूँ, रूपवान हूँ, बलिष्ठ हूँ, निर्बल हूँ, मोटा हूँ, पतला हूँ, कठोर हूँ, मैं देव हूँ, मनुष्य हूँ, पशु हूँ, नारकी हूँ, नपुसक हूँ, पुरुष हूँ, व स्त्री हूँ।

मोक्षपाहुड में कहा है—

जो इच्छइ णिस्सरिदुं संसारमहण्णवाउ रुद्दाओ।
कम्मिंधणाण डहणं सो झायइ अप्पयं सुद्धं ॥२६॥

भावार्थ—जो जीव भयानक संसार समुद्र से निकलना चाहता है तो वह शुद्धात्मा को ध्यावे। उसीसे कर्म इन्धन भस्म होगा।

आत्मा ही जिन है, यही सिद्धांत का सार है

जो जिणु सो अप्पा मुणहु इहु सिद्धंतहु सारु ।
इउ जाणेविणु जोयइहु छंडहु मायाचारु ॥२१॥

जो जिनसों आतम लखो, निश्चय भेद न रंच ।
यही सार सिद्धांत का, छोड़ो सर्व प्रपंच ॥२१॥

अन्वयार्थ—**(जो जिणु सो अप्पा मुणहु)** जो जिनेन्द्र है वही यह आत्मा है ऐसा मनन करो **(इहुसिद्धंतहु सारु)** यही सिद्धांत का सार है **(इउ जाणेविणु)** ऐसा जानकर **(जोयइहु)** हे योगीजनो ! **(मायाचारु छंडहु)** मायाचार छोडो ।

भावार्थ—तीर्थकरों के द्वारा जो दिव्यध्वनि प्रगट होती है, वही सिद्धांत का मूल स्रोत है । उस वाणी को गणधरादि मुनि धारणा में लेकर द्वादशांग की रचना करते है । फिर उसी के अनुसार अन्य आचार्य ग्रन्थ रचते हैं । उन ग्रन्थो का विभाग चार अनुयोगों मे किया गया है । प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग, इन चारों ही के पढ़ने का सार इतना ही है जो अपने आत्मा को परमात्मा के समान समझ लिया जावे ।

श्री रत्नकरंड श्रावकाचार में स्वामी समन्तभद्र कहते है—

प्रथमानुयोगमर्थाख्यान चरितं पुराणमपि पुण्यम् ।
बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनः ॥४३॥

भावार्थ—प्रथमानुयोग उसको कहते हैं जिसमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थों का कथन हो, महापुरुषों के जीवन चरित्र हों, चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण, नौ बलभद्र ऐसे त्रेसठ शलाका पुरुषों के चरित्र हों, जिसके पढ़ने से पुण्य का बन्ध हो, जो रत्नत्रय की प्राप्ति व समाधि का भण्डार हो, जो सम्यग्ज्ञान का प्रदर्शक हो । निश्चय रत्नत्रय व समाधि अपने ही शुद्धात्मा को परमात्मा रूप निश्चय करने से होती है । प्रथमानुयोग में दृष्टांतों के द्वारा बताया है कि जिन्होंने अपने को शुद्ध समझ के पूर्ण

वैरागी होकर आत्मध्यान किया था वे ही निर्वाण को पहुंचे हैं। इस-लिए यह अनुयोग भी आत्मतत्व के झलकाने वाला है।

लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च।
आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगं च ॥४४॥

भावार्थ करणानुयोग में लोक अलोक के विभाग का, काल के गुणों के पलटने का व चारों गतियों की भिन्न-भिन्न जीवों की अव-स्थाओं का, मार्गणा व गुणस्थानों का दर्पण के समान ठीक-ठीक वर्णन है, जिससे सम्यग्ज्ञान का प्रकाश होता है। कर्मों के संयोग से सांसारिक अवस्था व विभाव परिणतियाँ किस तरह होती हैं, उन सबका सूक्ष्म कथन करके यह झलकाया है कि जहाँ तक कर्मों का सयोग नहीं छूटेगा, भवभ्रमण नही हटेगा व आत्मा तो स्वभाव से कर्म रहित शुद्ध है।

गृहमेध्यनगाराणा चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम्।
चरणानुयोगसमय सम्यग्ज्ञानं विजानाति ॥४५॥

भावार्थ – जिसमें गृहस्थी व साधुओं के चारित्र की प्राप्ति वृद्धि व रक्षा का उपाय बताया हो व जो सम्यग्ज्ञान को प्रकट करे वह चर-णानुयोग है। इसमें भी निश्चय चारित्र स्वात्मानुभव को बताते हुए उसके लिए निमित्त साधन रूप श्रावक व मुनि के व्यवहार चारित्र के पालन का उपाय बताया है व यह समझाया है कि निश्चय आत्म-तत्व के भीतर चर्या के विना व्यवहार चारित्र केवल मोक्षमार्ग नही है। आत्मा को परमात्मा रूप जब अनुभव करेगा, तब ही सम्यक्चारित्र होगा।

जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च।
द्रव्यानुयोगदीप· श्रुतविद्यालोकमातनुते ॥४६॥

भावार्थ—द्रव्यानुयोग वह है जो दीपक समान जीव अजीव तत्वों को, पुण्य पाप को, बंध व मोक्ष को तथा भाव श्रुतज्ञान के प्रकाश को प्रगट करे। इसमें व्यवहारनय से सात तत्वों का स्वरूप बताकर फिर निश्चयनय से बताकर यह झलकाया है कि यह अपना आत्मा ही परमात्मा है, यही ग्रहण करने योग्य है। मोक्ष का उपाय एक शुद्ध आत्मा का ज्ञान है।

जो आत्मा को ठीक-ठीक समझना चाहे व आत्मा को निर्वाण पथ पर ले जाना चाहे उसका कर्तव्य है कि वह चारों ही अनुयोगों के ग्रंथों का मर्मी हो व चारों ही में अपने आत्मा के शुद्ध तत्व की झांकी करे। तब पूर्ण निश्चय हो जायगा कि मोक्षमार्ग व द्वादशांग वाणी का सार एक अपने ही आत्मा को शुद्ध परमात्मा के समान अनुभव करना है।

समयसार में कहा है—

जो हि सुदेणभिगच्छदि अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं।

तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोगप्पदीवयरा ॥९॥

भावार्थ—जो द्वादशांग वाणी के द्वारा अपने आत्मा को पर के संयोग रहित केवल शुद्ध अनुभव करता है उसी को लोक के ज्ञाता महाऋषियो ने निश्चय से **श्रुतकेवली** कहा है। सर्व ग्रन्थों का सार यही है कि कपट छोडकर यथार्थ यह जान ले कि मैं ही परमात्मा देव हूँ, आप ही के ध्यान से शुद्धता प्राप्त होगी।

मैं ही परमात्मा हूं !

जो परमप्पा सो जि हउं जो हउं सो परमप्पु।
इउ जाणेविणु जोइआ अण्णु म करहु वियप्पु ॥२२॥

आतम परमातम विषै, शक्ति व्यक्त गुण भेव।
नातर उभय समान है, कर निश्चय तज खेव ॥२२॥

अन्वयार्थ—(**जोइआ**) हे योगी ! (**जो परमप्पा सो जि हउं**) जो परमात्मा है वही मैं हूँ (**जो हउं सो परमप्पु**) तथा जो मैं हूँ सो ही परमात्मा है (**इउ जाणेविणु**) ऐसा जानकर (**अणु वियप्प म करहु**) और कुछ भी विकल्प मत कर।

भावार्थ—यहाँ और भी दृढ़ किया है कि व्यवहार की कल्पनाओं को छोड़कर केवल एक शुद्ध निश्चयनय से अपने आत्मा को पहिचान। तब आप ही परमात्मा दीखेगा। अपने शरीर रूपी मन्दिर में परमात्मा

देव साक्षात् दीख पड़ेगा। शास्त्रों का ज्ञान संकेत मात्र है। शास्त्र के ज्ञान में ही जो उलझा रहेगा उसको अपने आत्मा का दर्शन नहीं होगा।

यह आत्मा तो शब्दों से समझ में नहीं आता, मन से विचार में नहीं आता। शब्द तो क्रम-क्रम से एक-एक गुण व पर्याय को कहते हैं। मन भी क्रम से एक-एक गुण व पर्याय का विचार करता है। आत्मा तो अनन्तगुण व पर्यायों का एक अखण्ड पिण्ड है। इसका सच्चा बोध तब ही होगा कि जब शास्त्रीय चर्चाओं को छोड़कर व सब गुणस्थान व मार्गणाओं के विचार को बन्द करके व सर्व कर्मबन्ध व मोक्ष के उपायों के प्रपंच को त्याग करके व सर्व कामनाओं को दूर करके व सर्व पाँचो इन्द्रियों के विषयों से परे हो करके व सर्व मन के द्वारा उठने वाले विचारों को रोक करके बिलकुल असंग होकर अपने ही आत्मा को अपने ही आत्मा के द्वारा ग्रहण किया जायगा, तब अपने आत्मा का साक्षात्कार होगा। वह आत्मतत्व निर्विकल्प है अभेद है।

इसलिए निर्विकल्प होने से ही आत्मा हाथ में आता है। जब तक रंच मात्र भी माया, मिथ्या, निदान की शल्य भीतर रहेगी व कोई प्रकार की कामना रहेगी व कोई मिथ्यात्व की गंध रहेगी, तब तक आत्मा का दर्शन नहीं होगा। यही कारण है जो ग्यारह अङ्ग नौ पूर्व के धारी द्रव्यलिङ्गी मुनि शास्त्रों का ज्ञान रखते हुए भी व घोर तपश्चरण करते हुए भी अज्ञानी मिथ्यादृष्टी ही रहते हैं। क्योंकि वे शुद्धात्मा की श्रद्धा पर अनुभव से पूर्ण हो वहीं पहुंचते हैं, उनके भीतर कोई मिथ्यात्व की शल्य व निदान की शल्य ऐसी सूक्ष्म रह जाती है जिसको केवल ज्ञानी ही जानते हैं। शास्त्रों का ज्ञान आत्मा के स्वरूप को समझने के लिए जरूरी है। जानने के पीछे व्यवहार नयके वर्णन को छोड़ करके शुद्ध निश्चयनय के द्वारा अपने आत्मा का मनन करे, मनन करते समय भी मन का आलंबन है। मनन करते-करते जब मनन बंद होगा व उपयोग स्वयं स्थिर हो जायगा, तब स्वानुभव होगा। तब ही आत्मा का परमात्मा रूप दर्शन होगा व परमानन्द का स्वाद आयेगा। मैं ही परमात्मा हूँ ऐसा विकल्प न करते हुये भी परमात्मपने का अनुभव होगा। परदेश से कोई फल ऐसा आया है जिसके स्वाद को हम

नहीं जानते हैं, हमने उसका स्वाद लिया नहीं है, तब हमारा पहले तो कर्तव्य है कि हम फल के गुण व दोष किसी जानकार से जिसने स्वयं स्वाद लिया है पूछ कर ठीक-ठीक समझ लें कि, यह फल सुखकारी है, स्वास्थ्य-वर्द्धक है, मिष्ट है इत्यादि। जानने के पीछे हमको उस फल के सम्बन्ध की चर्चा या विचारावली छोड़कर फल को रसना के निकट ले जाकर व अन्य ओर से उपयोग को रोककर उस उपयोग को फल के स्वाद लेने में जोड़ना होगा, तब हमको एकाग्र होने पर ही उस फल के स्वाद का यथार्थ बोध होगा। यदि हम उस फल को खाते नहीं तो हम कभी भी उस फल के स्वाद को नहीं पहचान पाते। लाखों आद-मियों से फल के गुण सुनने पर भी व पुस्तकों से फल के गुण जानने पर भी हम कभी फल को ठीक-ठीक नहीं जान पाते। जैसे फल का स्वाद अनुभवगम्य है, वैसे ही आप परमात्मा अनुभवगम्य है।

समयसारकलश में कहा है—

भूतं भान्तमभूतमेव रभसा निर्भिद्य बन्धं सुधी—
र्यद्यन्तः किलकोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात्।
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं
नित्यं कर्मकलङ्कपङ्कविकलो देवः स्वयं शाश्वतः ॥१२-१॥

भावार्थ—जो कोई बुद्धिमान विवेकी भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों काल के कर्मबन्ध को अपने से एकदम दूर करके व सर्व मोह को बलपूर्वक त्याग करके अपने ही भीतर निश्चय से अपने को देखता है तो उसे साक्षात् यह देखने में आयेगा कि मैं ही सर्व कर्मकलङ्क की कीच से रहित अविनाशी एवं परमात्मा देव हूँ जिसको महिमा उसी को विदित होती है जो स्वयं अपने आत्मा का अनुभव करता है।

तत्त्वानुशासन में कहा है—

कर्मजेभ्यः समस्तेभ्यो भावेभ्यो भिन्नमन्वहं।
ज्ञस्वभावमुदासीनं पश्येदात्मानमात्मना ॥१६४॥

भावार्थ—मैं सदा ही कर्मों के निमित्त से या ममता से होने वाले सर्व ही भावों से जुदा हूं, ऐसा जानकर अपने ही आत्मा के द्वारा अपने आत्मा को देखे कि यह परम उदासीन एक ज्ञापक स्वभाव है।

———

आत्मा असंख्यातप्रदेशी लोकप्रमाण है

सुद्धपएसह पूरियउ लोयायासपमाणु ।
सो अप्पा अणु दिण मुणहु पावहु लहु णिव्वाणु ॥२३॥

अगणित शुद्ध प्रदेशयुत, लोकाकाश प्रमाण ।
सो शुद्धातम अनुभवो, ध्यावो हो कल्याण ॥२३॥

अन्वयार्थ—(**लोयायासपमाणु सुद्धपएसह पूरियउ**) जो लोकाकाशप्रमाण असख्यात शुद्ध प्रदेशो से पूर्ण है (**सो अप्पा**) यही यह अपना आत्मा है (**अणुदिण मुणहु**) रात दिन ऐसा ही मनन करो (**णिव्वाणु लहु पावहु**) व निर्वाण शीघ्र ही प्राप्त करो।

भावार्थ—पहले बारम्बार कहा है कि आत्मा का दर्शन निर्वाण का मार्ग है। यहाँ बताया है कि आत्मा का आकार लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशी है। कोई भी वस्तु जो अपनी सत्ता रखती है, कुछ न कुछ आकार अवश्य रखती है। आकार विना वस्तु अवस्तु है। हर एक द्रव्य में छः सामान्य गुण पाये जाते हैं—

(१) **अस्तित्व** वस्तु का सदा ही बना रहना। हरएक वस्तु सदा से है, उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप सत्पने को लिए हुए है। वह पर्याय के उपजने विनशने की अपेक्षा उत्पाद व्यय व बने रहने की अपेक्षा ध्रौव्य है।

(२) **वस्तुत्व**—सामान्य विशेष स्वभाव के लिये हुए हर एक वस्तु कार्यकारी है, व्यर्थ नही है।

(३(**द्रव्यत्व**—स्वभाव या विभाव पर्यायो मे हरएक वस्तु परिणमनशील है तो भी अखण्ड बनी रहती है।

(४) **प्रमेयत्व**—वस्तु किसी के द्वारा जानने योग्य है। यदि जानी न जावे तो असकी सत्ता कौन बतावे।

(५) **अगुरुलघुत्व**—वस्तु कभी अपने भीतर पाये जाने वाले गुणों को कम या अधिक नहीं करती है। मर्यादा से कम या अधिक नही होती है।

(६) प्रदेशत्व—हर एक वस्तु कुछ न कुछ आकार रखती है, प्रदेशों को रखती है, क्षेत्र को घेरती है। जितने आकाश को एक अविभागी पुद्गल परमाणु रोकता है उतने सूक्ष्म आकाश को एक प्रदेश कहते हैं। यह एक माप है। इस माप से लोकव्यापी छः द्रव्यों की माप की जावे तो एक जीव द्रव्य, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश चारों समान असंख्यात प्रदेशधारी हैं। आकाश अनन्त प्रदेशधारी है। कालाणु एक प्रदेशधारी हैं।

अनन्त आकाश के मध्य में लोकाकाश है, इसमें छहों द्रव्य सर्वत्र हैं, धर्म, अधर्म एक-एक लोकव्यापी है, कालाणु असंख्यात अलग-अलग हैं, सब लोक में पूर्ण हैं। पुद्गल परमाणु व स्कंधरूप में सर्वत्र हैं। जीव सूक्ष्म शरीरधारी एकेन्द्रिय सर्वत्र है, बादर कहीं-कहीं हैं। कोई स्थान इन छः बिना नही है। जीवद्रव्य अखण्ड होने पर भी माप में लोकाकाश प्रमाण असंख्यातप्रदेशी है। जैन सिद्धान्त में अल्प या बहुत्व का ज्ञान कराने के लिए गणना के २१ भेद बताये है—संख्यात तीन प्रकार–जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट। असंख्यात ३ प्रकार–परीतासंख्यात, युक्तासंख्यात, असंख्यातासंख्यात, हरएक जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट से नौ प्रकार, नौ प्रकार परीतानन्त, युक्तानन्त, अनन्तानन्त, हरएक जघन्य मध्यम, उत्कृष्ट तीनों प्रकार। मनुष्य की बुद्धि अल्प है इससे कम व अधिक का अनुमान होने के लिए २१ भेद गणना के बताये है।

हरएक आत्मा अखण्ड असंख्यातप्रदेशी है तथा वह परम शुद्ध हैं। सर्व ही प्रदेश शुद्ध है, स्वभाव से स्फटिक के समान निर्मल हैं। कर्ममल, नोकर्ममल, रागादि भाव कर्ममल से रहित हैं, रत्न के समान परम प्रकाशमान है, ज्ञानमय है, पानी के समान सर्व जानने योग्य को झलकाने वाले है, आकाश के समान निर्लेप है। अपने आत्मा को शुद्ध असंख्यातप्रदेशी ध्यान में लेकर अपने शरीर के भीतर ही देखना चाहिए। यद्यपि यह आत्मा शरीर के भीतर व्याप्त है, शरीर प्रमाण आकारधारी है तथापि प्रदेशों में असंख्यात ही है।

इस आत्मा में संकोच विस्तार शक्ति है। नामकर्म के उदय से शरीर प्रमाण आकार को प्राप्त हो जाता है। जैसे दीपक का प्रकाश

कोई बड़े बर्तन में रक्खा हुआ बर्तन के समान आकार का हो जाता है। साधक को अपने भीतर ऐसे आत्मा के आकार को शुद्ध देखना चाहिए। अपनी ही मूर्ति के समान आत्मा की मूर्ति को तदाकार देखना चाहिए। जिस आसन से ध्यान करे उसी आसनरूप पद्मासन या पर्यंकासन या कायोत्सर्ग अपने आत्मा को शुद्ध देखना चाहिए। सिद्ध का आकार भी अन्तिम शरीरप्रमाण पद्मासन आदि किसी आकार रूप है। प्रदेश अमूर्तीक द्रव्यो के अमूर्तीक व मूर्तीक पुद्गल के मूर्तीक होते हैं। जीव वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श से रहित अमूर्तीक है। उसके सर्व प्रदेश भी अमूर्तीक हैं।

गोम्मटसार जीवकांड में कहा है—

आगासं वज्जित्ता सव्वे लोगम्मि चेव णत्थि बहि,
बावी धम्माधम्मा अवट्ठिदा अचलिदा णिच्चा ॥५८२॥
लोगस्स असंखेज्जदिभागप्पहुदि तु सव्वलोगोत्ति।
अप्पपदेसविसप्पणसंहारे बावडो जीवो ॥५८३॥
पोग्गलदव्वाण पुण एयपदेसादि होंति भजणिज्जा।
एक्केक्को दु पदेसो कालाणूणं धुवो होदि ॥५८४॥
संखेज्जासंखेज्जाणंता होंति पोग्गलपदेसा।
लोगागासेव ठिदी एगपदेसो अणुस्स हवे ॥५८५॥
लोगागासपदेसा छद्दव्वेहि फुडा सदा होंति।
सव्वमलोगागासं अण्णेहिं विवज्जिय होदि ॥५८६॥

भावार्थ--धर्म, अधर्म, द्रव्य स्थिर चंचलता रहित लोक व्यापी हैं, लोक के बाहर नहीं है। जीव अपने प्रदेशों को संकोच विस्तार के कारण लोक के असंख्यातवें भाग से लेकर सर्वलोक में भरे हैं। पुद्गल द्रव्य एक प्रदेश को लेकर सर्वत्र है। स्कंध की अपेक्षा उसके प्रदेश पर-परमाणु की गणना से संख्यात असंख्यात तथा अनंत होते हैं। कालाणु एक-एक प्रदेश रखते हुए ध्रुव असंख्यात है। लोकाकाश के प्रदेश छः द्रव्य से भरे हुए रहते हैं। अलोकाकाश में अन्य पाँच द्रव्य नहीं हैं। इस तरह नित्य बने रहने वाले लोक में अपने आत्मा को शुद्ध आकार में देखना चाहिए।

तत्त्वानुशासन में कहा है—

तथा हि चेतनोऽसंख्यप्रदेशो मूर्तिवर्जितः ।
शुद्धात्मा सिद्धरूपोऽस्मि ज्ञानदर्शनलक्षण: ॥१४७॥

भावार्थ—अपने आत्मा को ऐसा ध्यावे कि यह चेतना है, असंख्यात प्रदेशी है, वर्णादि मूर्ति रहित है, शुद्ध स्वरूपी है, सिद्ध के समान है व ज्ञान दर्शन लक्षणवान है।

——❀——

व्यवहार से आत्मा शरीरप्रमाण है

णिच्छइ लोयपमाण मुणि ववहारइ सुसरीरु ।
एहउ अप्पसहाउ मुणि लहु पावहु भवतीरु ॥२४॥

निश्चय लोक प्रमाण है, तनु प्रमाण व्यवहार ।
ऐसे आतम अनुभवे, सो पावे भवपार ॥२४॥

अन्वयार्थ—(**णिच्छइ लोयपमाण ववहार सुसरीरु मुणि**) आत्मा को लोकप्रमाण व व्यवहार नय से अपने शरीर के प्रमाण जानो (**एहउ अप्पसहाउ मुणि**) ऐसे अपने आत्मा के स्वभाव को मनन करते हुए (**भवतीरु लहु पावहु**) यह जीव संसार के तट को शीघ्र ही पा लेता है अर्थात् शीघ्र ही संसार-सागर से पार हो जाता है।

भावार्थ—यह आत्मा देव हर एक संसारी जीव के भीतर उसके शरीर भर में व्याप कर रहता है, उसके असंख्यात प्रदेश संकोच कर शरीर प्रमाण हो जाते हैं। आत्मा में संकोच विस्तार शक्ति है जो नाम कर्म से उदय से काम करती है। एक छोटा बालक जन्म के समय अपने छोटे शरीर में उतने ही प्रमाण में अपने आत्मा को रखता है। जैसे २ उसका शरीर फैलता है आत्मा भी फैलता है। लोक में सबसे छोटा शरीर लब्ध्यपर्याप्त सूक्ष्म निगोद जीव का होता है। जो घनांगुल के असंख्यातवें भाग है व सबसे बड़ा महामत्स्य का है, जो मत्स्य अन्तिम समुद्र स्वयंभूरमण में होता है। मध्यलोक में असंख्यात द्वीप व समुद्र

हैं। एक दूसरे से दूने-दूने चौड़े हैं। पहला मध्य में जंबूद्वीप है जो एक लाख योजन चौड़ा है।

यह मच्छ एक हजार योजन लंबा होता है। बीच की अवगाहना के अनेक शरीर होते हैं। एक सूक्ष्म निगोद शरीरधारी जीव संसार में भ्रमण करते हुए कभी माहामत्स्य हो सकता है व महामत्स्य भ्रमण करते हुए कभी सूक्ष्म निगोद हो सकता है। तौ भी आत्मा के प्रदेश असंख्यात कम नहीं होते हैं। जैसे एक कपड़े की चादर पचास गज की हो, उसको तह कर डाले तो एक गज के बिस्तार में हो सकती है, माप में ५० गज से कम नहीं है। इसी तरह आत्मा के प्रदेश संकोच से कम प्रदेश के देह में आ जाते हैं। अतएव निश्चयनय से तो यह जीव असंख्यात प्रदेश ही रखता है, व्यवहार में शरीर प्रमाण कहते हैं। शरीर में रहते हुए भी सात प्रकार के समुद्घात के समय जीव शरीर के प्रदेशों को फैला कर शरीर के बाहर होता है, फिर शरीर प्रमाण हो जाता है।

गोम्मटसार जीवकाण्ड में कहा है—

मूलसरीरमछंडिय उत्तरदेहस्स जीवपिण्डस्स।
णिग्गमण देहादो होदि समुग्घादणामं तु ॥६६७॥
वेयणकषायवेगुव्वियो य मरणतियो समुग्घादो।
तेजाहारो छट्ठो सत्तमओ केवलीणं तु ॥६६६॥
आहारमारणंतियदुगंपि णियमेण एगदिसिगं तु।
दसदिसि गदा हु सेसा पंच समुग्घादया होंति ॥६६८॥

भावार्थ—मूल शरीर को छोड़ कर उत्तर देह अर्थात् कार्मण, तैजस देह सहित आत्मा के प्रदेशों का शरीर से बाहर निकलने को समुद्घात कहत है। उसके सात भेद हैं।

(१) **वेदना**—तीव्र रागादि के कष्ट से शरीर को न छोड़कर प्रदेशों का बाहर होना।

(२) **कषाय**—तीव्र कषाय के उदय से पर के घात के लिए प्रदेशों का बाहर जाना।

(३) **विक्रिया**—अपने शरीर को छोटा या बड़ा करते हुये या

एक शरीर के भिन्न अनेक शरीर न करते हुये आत्मा के प्रदेशों का फैलाना, जैसा देव, नारकी, भोगभूमिवासी तथा चक्रवर्ती को या ऋद्धि धारी साधु को होता है।

(४) **मारणांतिक**—मरण के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में जहां पर मर के जन्म लेना हो उस क्षेत्र को स्पर्श करने के लिये आत्मा के प्रदेशों का बाहर जाना फिर लौट कर आना तब मरना।

(५) **तैजस**—इसके दो भेद हैं—**अशुभ तैजस, शुभ तैजस**। किसी अनिष्ट कारण को देखकर क्रोध से संतप्त संयमी महामुनि के मूल शरीर को न छोड़कर सिंदूर के वर्ण बारह योजन लम्बा नव योजन चौड़ा सूच्यंगुल के संख्यातवें भाग मोटा अशुभ आकृति सहित बायें कन्धे से पुरुषाकार निकल के विरुद्ध वस्तु को भस्म कर फिर उस मुनि को भी भस्म कर दे व उसे दुर्गति पहुंचाये सो **अशुभ तैजस है**। जगत को रोग व दुर्भिक्ष आदि से पीडित देखकर जिस संयमी मुनि को करुणा उत्पन्न हो जावे उसके दाहिने कन्धे से पूर्वोक्त प्रमाणधारी शुभ आकार वाला पुरुषाकार निकल कर रोगादि मेटकर फिर शरीर में प्रवेश कर जावे सो **शुभ तैजस** है।

(६) **आहार**—ऋद्धिधारी मुनि को कोई तत्व में संयम होने पर व दूर न हो सकने पर उसके मस्तक से शुद्ध स्फटिक के रंग का एक हाथ प्रमाण पुरुषाकार निकल कर जहां कही केवली हों उनके दर्शन करने से संशय को मिटाकर अन्तर्मुहूर्त के भीतर लौट आता है।

(७) **केवलि**—आयु कर्म की स्थिति कम व शेष कर्मों की स्थिति अधिक होने पर केवल ज्ञानी के आत्म प्रदेश लोकव्यापी होकर फिर शरीर प्रमाण हो जाते हैं, आहार व मारणांतिक समुद्घातों में एक दिशा ही की तरफ प्रदेशों का फैलाव होकर गमन होता है जब कि शेष पांचों में दशों दिशाओं में गमन होता है।

इन ऊपर सात कारणों के सिवाय जीव शरीर प्रमाण रहता है व सिद्ध भगवान का आत्मा भी अन्तिम शरीर प्रमाण रहता है।

नाम कर्म का नाश हो जाने के पीछे उसके उदय के बिना प्रदेशों का संकोच या विस्तार नहीं होता है।

इष्टोपदेश में पूज्यपाद महाराज कहते हैं—

स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः।
अत्यंतसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकनः ॥२१॥

भावार्थ—यह आत्मा लोकालोक को देखने वाला अत्यन्त सुखी नित्य द्रव्य है, स्वानुभव से ही इसका दर्शन होता है। व अपने शरीर के प्रमाण हैं। अतएव परमानन्द पद अपने शुद्ध आत्मादेव को शरीर के प्रमाण आकारधारी मनन करे व ध्यान करे व ध्यावे तो शीघ्र ही निर्वाण पावे।

जीव सम्यक्त बिना ८४ लाख योनिमें भ्रमण करता है

चउरासीलक्खह फिरिउ कालु अणाइ अणंतु।
पर सम्मत्तु ण लद्धु जिउ एहउ जाणि णिभंतु ॥२५॥

चौरासी लख योनि में, भ्रमों सुकाल अनन्त।
सम्यकरत्नत्रय बिना, लिया न भव का अन्त ॥२५॥

अन्वयार्थ—(**अणाइ कालु**) अनादिकाल से (**चउरासी लक्खह फिरिउ**) यह जीव चउरासी लाख योनि में फिरता आ रहा है (**अणंतु**) व अनन्तकाल तक भी सम्यक्त बिना फिर सकता है। (**पर सम्मत्तु ण लद्धु**) परन्तु अब तक इसने सम्यग्दर्शन को नहीं पाया (**जिउ**) हे जीव! (**णिभंतु एहउ जाणि**) निःसंदेह इस बात को जान।

भावार्थ—सप्तपदार्थों का समूह होने से यह लोक तथा संसार अनादि-अनन्त है। संसारी जीव अनादि से ही कर्मबन्ध से ग्रसित हैं व नए कर्म बांधते हैं, पुराने कर्मों को छोड़ते हैं। मोहनीय कर्म के उदय से मिथ्यादृष्टी अज्ञानी, असंयमी हो रहे हैं। उनको शरीर व इन्द्रियों के सुखों का व इन्द्रियसुख के सहकारी पदार्थों का तीव्र मोह रहता

है। इसी से वे संसार में नाना शरीरों को धार करके भ्रमण किया करते हैं। सम्यग्दर्शन आत्मा का स्वभाव झलका देता है। इंद्रिय सुख से श्रद्धा हटा देता है। संसार शरीर भोगों से वैराग्य भाव पैदा कर देता है, स्वाधीनता या मोक्ष का उत्साही बना देता है। अतीन्द्रिय आनन्द का भोक्ता कर देता है। सम्यक्त के प्रकाश से संसार के भ्रमण से अरुचि हो जाती है। एक दफे सम्यक्त हो जाने पर यह जीव संसार दशा में अर्द्धपुद्गल परिवर्तन काल से अधिक नहीं रहता है। यद्यपि वहाँ भी अनन्तकाल है तथापि सीमित है। सम्यक्ती शीघ्र ही निर्वाण का भागी हो जाता है।

सम्यक्त के बिना यह जीव नरक के भावों में दस हजार वर्ष की आयु से लेकर तेतीस सागर तक, तिर्यंचगति के भावों में एक अंतर्मुहूर्त से लेकर तीन पल्य की आयु तक, मनुष्यगति के भावों में एक अन्तर्मुहूर्त से लेकर तीन पल्य की आयु तक, देवगति के भावों में दस हजार वर्ष की आयु से लेकर नौमें ग्रैवेयिक के इकतीस सागर की आयु तक के सर्व जन्म बार-बार धारण कर चुका है। नौ ग्रैवेयिक से ऊपर नौ अनुदिश व पाँच अनुत्तरों में व मोक्ष में सम्यग्दृष्टी ही जाता है। संसार भ्रमण की योनियाँ चौरासी लाख हैं। जहाँ संसारी जीव उत्पन्न होते हैं उसको योनि कहते हैं, वे मूल में नौ हैं।

श्री गोम्मटसार जीवकांड में कहा है—

सामण्णें य एवं णव जोणीओ हवंति वित्थारे।
लक्खाण चतुरसीदी जोणीओ होंति णियमेण ॥८८॥
णिच्चिदरधादुसत्त य तरुदस वियलिंदियेसु छच्चेव।
सुरणिरयतिरियचउरो चोद्दस मणुए सदसहस्सा ॥८९॥

भावार्थ—मूल भेद योनियों के गुणों के सामान्य से नौ होते हैं—सचित्त, अचित्त, मिश्र तीन; शीत, उष्ण, मिश्र तीन; संवृत (ढकी), विवृत (खुली), व मिश्र तीन। हर एक योनि में तीनों में से एक एक गुण रहेगा। जैसे सचित्त, शीत व संवृत हो या अचित्त शीत संवृत हो इत्यादि। इसी के ८४ लाख भेद गुणों की तरतमता की अपेक्षा से हैं। वे इस प्रकार हैं—

१. नित्य निगोद साधारण वनस्पति जीवों की	७	लाख	योनियाँ
२. चतुर्गति या इतर निगोद साधा० वन०	७	"	"
३. पृथ्वीकायिक जीवों की	७	"	"
४. जलकायिक जीवों की	७	"	"
५. अग्निकायिक जीवों की	७	"	"
६. वायुकायिक जीवों की	७	"	"
७. प्रत्येक वनस्पति जीवों की	१०	"	"
८. द्वेन्द्रिय जीवो की	२	"	"
९. तेन्द्रिय जीवों की	२	"	"
१०. चौन्द्रिय जीवों की	२	"	"
११. देवों की	४	"	"
१२. नारकियों की	४	"	"
१३. पंचेन्द्रिय तिर्यंचों की	४	"	"
१४. मनुष्यों की	१४	"	"
कुल	८४	लाख	योनियाँ

श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार में सम्यक्त की महिमा बताई है—

न सम्यक्त्वसमं किञ्चित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ।
श्रेयोऽश्रेश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ॥३४॥
सम्यग्दर्शनशुद्धानारकतिर्यङ्नपुसकस्त्रीत्वानि ।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यवृतिकाः ॥३५॥

भावार्थ—तीन लोक में व तीन काल में सम्यग्दर्शन के समान जीव का कोई भी हितकारी नही है तथा मिथ्यादर्शन के समान जीव का कोई भी बुरा करने वाला नहीं है। सम्यग्दर्शन को शुद्ध पालने वाले जीव पाँच अहिंसादि व्रतों से रहित होने पर भी मरकर के नारकी, पशु व नपुंसक व स्त्री, नीच कुल वाले, अंग रहित, अल्प आयुधारी व दरिद्री नही होते हैं। यदि सम्यक्त के पहले नरक, तिर्यंच या अल्प आयु बाँधी हो तो पहले नर्क मे, व भोगभूमि में जाएँगे।

साधारण नियम है कि देव व नारकी सम्यक्ती मरके मनुष्य होंगे व मनुष्य व पशु सम्यक्ती मर के स्वर्गवासी देव होंगे, मनुष्यणी

व देवी नहीं होंगे। आत्म दर्शन सम्यक्ती को हो जाता है, यही निर्वाण पहुंचा देता है।
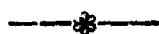
शुद्ध आत्मा का मनन ही मोक्ष मार्ग है

सुद्धु सचेयणु बुद्धु जिणु केवलणाणसहाउ।
सो अप्पा अणुदिणु मुणहु जइ चाहउ सिवलाहु ॥२६॥

शुद्धातम ही शिव चहै, तो कर अनुभव आप।
स्वातम जाने होयगा, मुक्त मिटे सन्ताप ॥२६॥

अन्वयार्थ—(**जइ सिवलाहु चाहउ**) यदि मोक्ष का लाभ चाहते हो तो (**अणुदिणु सो अप्पा मुणहु**) रात दिन उस आत्मा का मनन करो जो (**सुद्धु**) शुद्ध वीतराग निरञ्जन कर्म रहित है (**सचेयणु**) चेतना गुणधारी है या ज्ञान चेतनामय है (**बुद्धु**) जो स्वयं बुद्ध है (**जिणु**) जो संसार-विजयी जिनेन्द्र है (**केवलणाणसहाउ**) व जो केवल-ज्ञान या पूर्ण निरावरण ज्ञान स्वभाव का धारी है।

भावार्थ—यहाँ निर्वाण को शिव कहा है। क्योंकि निर्वाणपद परम कल्याणरूप व परमानन्दमय है। एक दफे आत्मा शुद्ध हो जाता है, फिर अशुद्ध नहीं होता है। जैसे चना भूना हुआ फिर उगता नहीं है। ऐसे शिव पद के लाभ का उपाय रात-दिन अपने आत्मा के स्वभाव का मनन है। आत्मा स्वयं मोक्ष रूप है। आत्मा स्वयं पर-मात्मा है। अपने शरीररूपी मन्दिर में अपने आत्मादेव को देखना ही चाहिये कि यह शरीरप्रमाण है तथा यह शुद्ध है। इसमें कार्मण, तैजस, औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, पाँचों पुद्गल रचित शरीरों का संबंध नहीं है, न इसमें कोई संकल्प विकल्परूप मन है न पुद्गल रचित वचन है। इसमें कोई कर्म के उदयजनित भाव राग, द्वेष, मोह आदि नहीं है, यह परम वीतराग है। इसमें कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण ये छः कारक के विकल्प नहीं हैं न इसमें गुण

गुणों के भेद हैं। यह एक अखण्ड अभेद सामान्य पदार्थ है। यह ज्ञान स्वभाव है, सहज सामायिक ज्ञान का भण्डार है। इसमें कोई अज्ञान नहीं है। इसका स्वभाव निर्मल दर्पण के समान स्वपर प्रकाशक है। सर्व जानने योग्य को झलकाने वाला, एक समय में खण्डरहित सर्व को विषय करने वाला यह अद्भुत ज्ञान है। बिना प्रयास ही ज्ञान में ज्ञेय झलकते हैं।

यह आत्मा निरन्तर ज्ञानचेतनामय है। अपने शुद्ध ज्ञान स्वभाव का ही स्वाद लेने वाला है, निरन्तर स्वानुभवरूप है। यह पुण्य-पाप कर्म करने के प्रपंच से व सांसारिक सुख दुःख भोगने के विकल्प से दूर है। कर्मचेतना और कर्मफल चेतना दोनों चेतनाएँ अज्ञान चेतना है। आत्मा ज्ञानचेतनामय है। यही सत्य बुद्धदेव है। आप से ही आपको जानने वाला स्वयं बुद्ध है और कोई बौद्धों का देवता बुद्ध नहीं है। सच्चा बुद्धदेव यह आत्मा ही है, यही सच्चा जिन है। सर्व आत्मा के रागादि व कर्मादि शत्रुओं को जीतने वाला है। और कोई समवसरणादि लक्ष्मी सहित जिन है। सो व्यवहार जिन है। वहाँ भी निश्चय जिन जिनराज का आत्मा ही है।

इस तरह निज आत्मा को परम शुद्ध एकाकी मनन करना चाहिये तब कोई लौकिक कामना नहीं रखना चाहिए कि कोई चमत्कार सिद्ध हो व कोई ऋद्धिसिद्धि हो व लोक में मान्यता हो व प्रसिद्धि हो। केवल एक अपने आत्मा के विकास की भावना रखके आत्मा को ध्याना चाहिये। ध्यान की शक्ति बढ़ने से स्वयं कर्मों की निर्जरा होती जायगी, नवीन कर्मों का संवर होता जायगा और यह आत्मा स्वयं शुद्ध होता हुआ शिवरूप हो जायगा।

समयसार कलश में कहा है—

चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयं।
अतोऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि भावाः पौद्गलिका अमी॥३-२॥
सकलमपि विहायाह्नाय चिच्छक्तिरिक्तं,
स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रं।

इममुपरि चरन्तं चारु विश्वस्य साक्षात्,
कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनन्तम् ॥४-२॥

भावार्थ—यह जीव चैतन्य शक्ति से सर्वाङ्ग पूर्ण है। इसके सिवाय सर्व ही रागादि भाव पुद्गल की रचना है। वर्तमान में चैतन्य शक्ति के सिवाय सर्व ही पापों को छोड़कर व चैतन्य शक्तिमात्र भाव के भीतर भले प्रकार प्रवेश करके सर्व जगत के ऊपर भले प्रकार साक्षात् प्रकाशमान अपने ही आत्मा को जो अनन्त है, अनन्तगुणों का भण्डार है, अपने ही भीतर आत्मारूप होकर आत्मा को अनुभव करना योग्य है। आपसे ही आपको ध्याना चाहिये।

मोक्षपाहुड में कहा है—

अप्पा चरित्तवंतो दंसणणाणेण संजुदो अप्पा।
सो झायव्वो णिच्चं णाऊणं गुरुपसाएण ॥६४॥

भावार्थ—यह आत्मा दर्शन ज्ञान सहित है, वीतराग चारित्रवान है, इसको गुरु के प्रसाद से जानकर सदा ध्याना चाहिये।

निर्मल आत्माकी भावना करके ही मोक्ष होगा

जाव ण भावहु जीव तुहुं णिम्मलअप्पसहाउ।
ताव ण लब्भइ सिवगमणु जहिं भावहु तहिं जाउ ॥२७॥

जब तक आतम ज्ञान ना, मिथ्या क्रिया कलाप।
भटकों तीनों लोक में, शिवसुख लहों न आप ॥२७॥

अन्वयार्थ—(जीव) हे जीव ! (जाव तुहुं णिम्मल अप्प सहाउ ण भावहु) जब तक तू निर्मल आत्मा के स्वभाव की भावना नहीं करता (ताव सिवगमणु ण लब्भइ) तब तक तू मोक्ष नहीं पा सकता (जहिं भावहु तहिं जाउ) जहाँ चाहे वहाँ तू जा।

भावार्थ—यहाँ फिर भी दृढ़ किया है कि शुद्ध आत्मा के स्वभाव की भावना ही एक संसार-सागर से पार करने वाली नौका

है। यह निश्चय रत्नत्रय स्वरूप है, शुद्धात्मानुभव स्वरूप है। यही भाव संवर व निर्जरातत्व है। इस भाव की प्राप्ति के लिये जो जो साधन किये जाते हैं, उसको व्यवहार धर्म या निमित्त कारण कहते हैं। कोई अज्ञानी व्यवहार धर्म ही में उलझ जावे, निश्चय धर्म का लक्ष्य छोड़ दे तो वह एक पग भी मोक्ष पथ पर नहीं चल सकता।

निश्चय धर्म तो अपने ही भीतर है बाहर नहीं, परन्तु उसको जागृत करने के लिये गृहस्थों को यह उपदेश है कि श्री जिन मन्दिर में जाकर देव का दर्शन व पूजन करो, गुरु महाराज की सेवा में जाकर वैयावृत्य करो। शास्त्रभवन में जाकर स्वाध्याय करो, सम्मेद-शिखर, गिरिनार, पावापुर, बाहुबली, माँगीतुगी, मुक्तागिरि आदि तीर्थ स्थानों की यात्रा करो, सामायिक करने के लिये एकान्त स्थान उपवन, नदी-तट, पर्वत आदि मे बैठो। प्रोषधशाला में बैठकर उप-वास करो। ये सब कार्य निमित्त मात्र है। कोई अज्ञानी केवल निमित्त मिलाने को ही मोक्षमार्ग समझ ले तो यह उसकी भूल है। मन्दिरादि व तीर्थादि व प्रतिमादि के आलम्बन से अपने भीतर आत्मा का दर्शन व पूजन या आत्मारूपी तीर्थ की यात्रा की जावे तब ही निमित्तों का मिलाना सफल है।

इसी तरह साधुओं को उपदेश है कि एकान्त वन, पर्वत, गुफा, नदी, तट, ऊजड़, मकान, पर्वत का शिखर व अत्यन्त ही शून्य स्थल में बैठकर व आसन लगाकर ध्यान का अभ्यास करो, काम को पुष्ट न करो, इन्द्रिय दमन करो, चातुर्मास के सिवाय नगर के बाहर पाँच दिन व ग्राम के बाहर एक दिन से अधिक न ठहरो, गृहस्थ के घर भिक्षा लेकर तुरत वन में लौट जाओ, नग्न रहकर शीत, उष्ण, डाँस, मच्छर, नग्नता, स्त्री आदिकी बाईस परीषह सहन करो, मौन रहो, मन, वचन, काय, गुप्ति को पालो, मार्ग को निरखकर चलो। मुनियों की संगति में रहो, शास्त्रपाठ करो, तत्वोंका मनन करो, तीर्थयात्रा करो।

ये सब निमित्त हैं। इनको मिलाकर साधु को शुद्धात्मा का अनु-भव करना चाहिये। कोई अज्ञानी साधु इन बाहरी क्रियाओं को ही

मोक्षमार्ग मानकर सन्तोषी हो जावे और आत्मा के शुद्ध स्वभाव का दर्शन मनन व अनुभव न करे तो वह मोक्षमार्गी नहीं है, वह संसार-पुण्य बांधकर भव में भ्रमण करने वाला है।

वास्तव में अपने आत्मा की निर्मल भूमि में चलना ही चारित्र है, यही मोक्षमार्ग है, ऐसा दृढ़ निश्चय रखके साधक को इसी तत्व के लाभ का उपाय करना योग्य है। **समाधिशतक** में कहा है—

ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा निवासोऽनात्मदर्शिनाम्।
दृष्टात्मनां निवासस्तु विविक्तात्मैव निश्चलः ॥७३॥

भावार्थ—जो आत्मा को न देखने वाले बहिरात्मा हैं उनको यह दो प्रकार का विकल्प होता है कि ग्राम में न रहो वन में ही रहो, वन में रहने से ही हित होगा। वे वन निवास से ही सन्तोषी हो जाते हैं। परन्तु आत्मा के देखने वालों का निवास परभावों से भिन्न निश्चल एक अपना शुद्धात्मा ही है, वे निमित्त कारण मात्र से संतुष्ट नहीं होते हैं। आत्मा में निवास को ही अपना सच्चा आसन जानते हैं।

मोक्षपाहुड में कहा है—

जो इच्छइ णिस्सरिदु संसारमहण्णवाउ रुद्दाओ।
कम्मिंधणाण डहण सो झायइ अप्पयं सुद्धं ॥२६॥

भावार्थ—जो कोई इस भयानक ससार सागर से पार होना चाहे व कर्म-इधन को जलाना चाहे तो उसे अपने शुद्ध आत्मा का ध्यान करना चाहिए। आत्मा का ध्यान ही मोक्ष मार्ग है। जो आत्म-रसिक है वही मोक्ष-मार्गी है।

———❀———

त्रिलोक पूज्य जिन आत्मा ही है

जो तइलोयहं झेउ जिणु सो अप्पा णिरु वुत्तु ।
णिच्छयणइ एमइ भणिउ एहउ जाणि णिभंतु ॥२८॥

ध्यावन योग्य त्रिलोक में, जिनसो आतम जान ।
निश्चयनय जिनवर कहै, या में भ्रान्ति न ठाम ॥२८॥

अन्वयार्थ—(**जो तइलोयहं झेउ जिणु**) जो तीन लोकके प्राणियों के द्वारा ध्यान करने योग्य जिन है (**सो अप्पा णिरु वुत्तु**) वह यह आत्मा ही निश्चय से कहा गया है (**णिच्छयणइ एमइ भणिउ**) निश्चय-नय ऐसा ही कहतो है (**एहउ णिभंतु जाणि**) इस बात को सन्देह रहित जान ।

भावार्थ—यहाँ यह बताया है कि यह आत्मा ही वास्तव में श्री जिनेन्द्र परमात्मा है जिसको तीन लोक के भक्तजन ध्याते हैं, पूजते हैं, मानते हैं सो इन्द्र प्रसिद्ध हैं जैसा इस गाथा में कहा है । ये सब अरहंत परमात्मा को नमन करते हैं ।

भवणालय चालीसा विंतर देवाण होंति बत्तीसा ।
कप्पामर चौबीसा चन्दो सूरो णरो तिरिओ ॥

भावार्थ—भवनवासी देव, असुर कुमार, नागकुमार, विद्युत-कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधि-कुमार, द्वीपकुमार, दिक्कुकुमार, ऐसे दश जाति के होते हैं । हरएक में दो-दो इन्द्र, दो-दो प्रत्येन्द्र, होते हैं । इस तरह चालीस इन्द्र हुए । व्यंतर देव आठ प्रकार के होते हैं—किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गंधर्व, यक्ष, राक्षस भूत, पिशाच । इनमें भी दो-दो इन्द्र दो-दो प्रत्येन्द्र इस तरह बत्तीस इन्द्र हुए । सोलह स्वर्ग में प्रथम चार में चार, मध्य आठ में चार, अन्त चार में चार ऐसे बारह इन्द्र, बारह प्रत्येन्द्र २४ हुए । ज्योतिषी देवों में चन्द्रमा इन्द्र, सूर्य प्रत्येन्द्र, मनुष्यों में इन्द्र चक्रवर्ती, पशुओं में इन्द्र अष्टापद, सब १०० इन्द्र नमस्कार करते हैं ।

नमस्कार दो प्रकार का होता है—व्यवहार नमस्कार, निश्चय नमस्कार। जहाँ शरीरादि बाहरीपदार्थों की प्रशंसा के द्वारा स्तुति हो, वह व्यवहार नमस्कार है। जहाँ आत्मा के गुणों की स्तुति हो वह निश्चय नमस्कार है। जैसे अरहंत के शरीर की शोभा कहना कि वे परम देदीप्यमान हैं, १००८ लक्षणों के धारी हैं, निरक्षरी वाणी प्रगट करते हैं, समवसरण सहित हैं, बारह सभा में बैठे प्राणियों को उपदेश देते हैं। यह सब व्यवहार स्तुति है।

भगवान अरहंत अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य के धारी हैं, परम वीतराग हैं, परमानन्दमय हैं, असंख्यातप्रदेशी हैं, अमूर्तीक हैं इत्यादि। आत्माश्रित स्तुति सो निश्चय स्तुति या नमस्कार है। अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु पाँच परमेष्ठी की आत्मा की स्तुति सो हर एक आत्मा की स्तुति है। क्योंकि निश्चय से हर एक आत्मा आत्मीक गुणों का भण्डार है। जगत की सब आत्माएँ निश्चयनय से समान शुद्ध है अतएव तीन लोक के प्राणी जिसको ध्याते हैं, पूजते हैं वंदते हैं वही परमात्मा या आत्मा है वही मैं हूँ। मैं ही त्रिलोकपूज्य परमात्मा जिनेन्द्र हूँ ऐसा भ्रान्ति रहित निश्चय से जानना चाहिए। अब और किसी दूसरे परमात्मा की ओर दृष्टि न रखकर दो भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में ध्याता व ध्येय की कल्पना करके आप ही को ध्याता व ध्येय मान के अद्वैत एक ही भाव में तल्लीन हो यही मोक्षमार्ग है। समयसार में कहा है—

ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो व कदावि एकट्ठो ॥३०॥
इणमण्ण जीवादो देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी।
मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं ॥३३॥
तं णिच्छयेण जुज्जदि ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो।
केवलिगुणो थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि ॥३४॥
जो मोहं तु जिणित्ता, णाण सहावाधियं मुणदि आदं।
तं जिद मोहं साहुं, परमट्ठवियाणया बेंति ॥३७॥

भावार्थ—व्यवहारनय से ऐसा कहते हैं कि शरीर और आत्मा एक है परन्तु निश्चयनय से आत्मा व शरीर एक पदार्थ नहीं है। मुनि-गण केवली भगवान के पुद्गलमय शरीर की स्तुति व्यवहारनय से करके मानते यही हैं कि हमने केवली भगवान की ही स्तुति या वंदना की। परन्तु निश्चयनय से यह स्तुति ठीक नहीं है। क्योंकि शरीर के गुण केवली भगवान की आत्मा के गुण नहीं हैं, निश्चय से जो केवली भगवान की आत्मा की स्तुति है वही केवली की यथार्थ स्तुति है। जैसे कहना कि जो मोह को जानकर ज्ञान स्वभाव से पूर्ण आत्मा का अनुभव करता है वह जितमोह है ऐसा परमार्थ के ज्ञाता कहते हैं। निश्चय स्तुति आत्मा पर लक्ष्य दिलाती है इसलिए यथार्थ है।

मिथ्यादृष्टी के व्रतादि मोक्षमार्ग नहीं

वयतवसंजममूलगुण मूढह मोक्ख णिवुत्तु।
जाम ण जाणइ इक्क परु सुद्धउभाउपवित्तु ॥२९॥

व्रत तप संयम मूलगुण, मूढ कहे शिव हेतु।
पर स्वात्म अनुभव बिना, पवै न शिवपद लेतु ॥२९॥

अन्वयार्थ—(**जाम इक्क परु सुद्धउपवित्तु भाउ ण जाणइ**) जब तक एक परम शुद्ध व पवित्र भाव का अनुभव नही होता (**मूढह वयतवसंजम मूलगुण मोक्ख णिवुत्तु**) तब तक मिथ्यादृष्टी अज्ञानी जीव के द्वारा किये गये व्रत, तप, संयम व मूलगुण पालन को मोक्ष का उपाय नही कहा जा सकता।

भावार्थ—निश्चय से शुद्ध आत्मा का भाव ही मोक्ष का मार्ग है शुद्धोपयोग की भावना को न भाकर या शुद्ध तत्व का अनुभव न करते हुए जो कुछ व्यवहार चारित्र है वह मोक्षमार्ग नहीं है ससार मार्ग है, पुण्यबध का कारक है। मिथ्यादृष्टी आत्मज्ञान शून्य बहिरात्मा बाहर में मुनिभेष धर करके यदि पाँच महाव्रत पाले, बारह तप तपे,

इन्द्रिय व प्राण संयम को साधे, नीचे लिखे प्रमाण अट्ठाईस मूलगुण पाले तौ भी वह संवर व निर्जरा तत्व को न पाकर कर्मों से मुक्ति नहीं पा सकता। ऐसा द्रव्यलिंगी साधु पुण्य बांधकर नौवें ग्रैवेयिक तक जाकर अहमिंद्र हो सकता है परन्तु संसार से पार करने वाले सम्यग्-दर्शन के बिना अनन्त संसार में ही भ्रमण करता है। व्यवहार चारित्र को निमित्त मात्र व बाहरी आलम्बन मात्र मान के व निश्चय चारित्र को उपादान कारण मान के जो स्वानुभव का अभ्यास करे तो निर्वाण का मार्ग तय कर सके। **प्रवचनसार** में श्री **कुन्दकुन्दाचार्य** अट्ठाईस मूलगुण कहते हैं—

वदसमिदिदयरोधो लोचावस्सयमचेल ।ण्हाणं ।
खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयण मेगभत्तं च ॥८॥
एदे खलु मूलगुणा समणाण जिणवरेहि पण्णत्ता ।
तेसु पमत्तो समणो छेदो वट्ठावगो होदि ॥९॥

भावार्थ—**पाँच महाव्रत**-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, परि-ग्रह, त्याग।

पाँच समिति—ईर्या (देखकर चलना), भाषा, एषणा, (शुद्ध आहार) आदाननिक्षेपण, व्युसर्ग (मल मूत्र देखकर करना)।

पाँच इन्द्रिय—विषय निरोध-**छः आवश्यक नित्यकर्म**—सामा-यिक, प्रतिक्रमण (पिछले दोषों का निराकरण), प्रत्याख्यान (त्याग की भावना), स्तुति, वन्दना, कायोत्सर्ग। **सात अन्य**—१. केशों का लोंच, २. नग्नपना, ३. स्नान न करना, ४. भूमि पर शयन, ५. दन्तवन न करना, ६. खड़े होकर हाथ में भोजन लेना, ७. दिन-रात में एक दफे भिक्षा लेना ये २८ मूलगुण साधुओं के हैं ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है उनमें प्रमाद हो जाने पर छेदोपस्थापन व प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध होना चाहिए। **समयसार** में कहा है—

वदसमिदीगुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहि पण्णत्तं ।
कुव्वंतोवि अभविओ अण्णाणी मिच्छदिट्ठीय ॥२९१॥
मोक्ख असद्दहन्तो अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज ।
पाठो ण करेदि गुणं असद्दहन्तस्स णाणं तु ॥२९२॥

भावार्थ—जिनेन्द्रों ने कहा है कि अभव्य जीव व्रत, समिति, गुप्ति, शील तप को पालते हुये भी आत्मज्ञान के बिना अज्ञानी व मिथ्यादृष्टी ही रहता है। मोक्ष के स्वरूप की श्रद्धा न रखता हुआ अभव्य जीव कितना भी शास्त्र पढ़े, उसका पाठ गुणकारी नहीं होता है; क्योंकि उसको आत्मा के सम्यग्ज्ञान की तरफ विश्वास नहीं आता है। भावपाहुड में कहा है कि भाव में आत्मज्ञानी ही सच्चा साधु है—

देहादिसंगरहिओ माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो।
अप्पा अप्पम्मि रओ स भावलिंगी हवे साहू ॥५६॥

भावार्थ—जो शरीरादि की ममतारहित हो व मान कषाय से बिलकुल अलग हो व आत्मा को आत्मा में लीन रक्खे वही भावलिंगी साधु होता है।

——卐——

व्रती को निर्मल आत्मा का अनुभव करना योग्य है।

जो णिम्मल अप्पा मुणइ वयसंजमुसंजुत्तु।
तो लहु पावइ सिद्ध सुहु इउ जिणणाहह वुत्तु ॥३०॥

जो शुद्धातम अनुभवे, व्रत संयम संयुक्त।
कहे जिनेश्वर जीव सो, निश्चय पावे मुक्त ॥३०॥

अन्वयार्थ—(**जो वयसंजमुसंजुत्तु णिम्मल मुणइ**) जो व्रत, संयम सहित निर्मल आत्मा का अनुभव करे (**तो सिद्धसुहु लहु पावइ**) तो सिद्ध या मुक्ति का सुख शीघ्र ही पावे (**इउ जिणणाहह वुत्तु**) ऐसा जिनेन्द्र का कथन है।

भावार्थ—हरएक कार्य की सिद्धि उपादान व निमित्त कारण से होती है। उपादान कारण तो अवस्था को पलट कर अवस्थांतर हो जाता है। मूल द्रव्य बना रहता है। निमित्त कारण दूर ही रह जाते

मिट्टी का घड़ा बना है। घड़े रूपी कार्य का उपादान कारण मिट्टी है। मिट्टी का पिण्ड ही घड़े की दशा में पलटा है। निमित्त कारण चाक व कुम्हारादि घड़े बनने तक सहायक हैं। घड़ा बन जाने पर वे सब दूर रह जाते हैं।

इसी तरह निर्वाण रूपी कार्य के लिए उपादान कारण अपने ही शुद्ध आत्मा का ध्यान है। निमित्त कारण व्यवहार व्रत संयम तप आदि है। व्रत संयम तप आदि के निमित्त से व आलंबन से जब आत्मा का ध्यान होगा व भावों में शुद्धता बढ़ेगी तब ही संवर व निर्जरा तत्व होगा। इसलिए यहाँ कहा है कि व्रत संयम सहित होकर निर्मल आत्मा का ध्यान सिद्ध सुख का साधन है। व्यवहार चारित्र की इसलिये आवश्यकता है कि मन, वचन, काय को वश रखने,की जरूरत है। जब तक ये तीनों चंचल रहेंगे तब तक आत्मा का ध्यान नहीं हो सकता।

आत्मा के ध्यान के लिये एकान्त स्थान में ठहर कर शरीर को निश्चल रखना होगा, वचनों का त्याग करना होगा, जगत के प्राणियों से वार्तालाप छोडना होगा, पाठ पढ़ना छोड़ना होगा, जप करना छोड़ना होगा, बिलकुल मौन में रहना होगा, मन का चिन्तवन छोड़ना होगा, यहाँ तक कि आत्मा के गुणों का विचार भी छोड़ना होगा। जब उपयोग मन, वचन, काय से हट करके केवल अपने ही शुद्धात्मा के भीतर श्रुतज्ञान के बल से या शुद्ध निश्चय के प्रताप से रमेगा तब ही मोक्ष का साधन बनेगा, तब ही स्वानुभव होगा, तब ही वीतरागता होगी, तब ही आत्मा कर्ममल से रहित होगा। ध्यान के समय मन के भीतर बहुत से विचार आ जाते हैं।

उनमें जो गृहस्थ सम्बन्धी बातों के विचार हैं वे महान् बाधक हैं। हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह की चिन्ता, ध्यान में हानिकारक हैं। इसलिये साधुजन पाँचों पापों को पूर्णपने त्याग देते हैं, गृहस्थ का व्यापारादि कुछ नहीं करते हैं। साधु केवल धार्मिक व्यवहार करते हैं। जैसे—शास्त्र पठन, उपदेश, विहार, शिष्यों को शिक्षा, सन्तोष-पूर्वक आहार। ध्यान के समय ये शुभ कामों के विचार आ

सकते हैं। ये विचार ध्यान के जमाने के लिये कभी निमित्त (साधक) हो जाते हैं, परंतु इन विचारों के भी बन्द हुये बिना ध्यान नहीं होगा।

यदि कोई व्यवहार चारित्र को नहीं पाले, लौकिक व्यवहार में लगा रहे तो आत्मा के भीतर उपयोग स्थिर नहीं हो सकेगा। इसी कारण परिग्रह त्यागी निर्ग्रन्थ मुनि ही उत्तम धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान कर सकते हैं। गृहस्थ को भी मन, वचन, काय की क्रिया को स्थिर करने के लिये बारह व्रतों का संयम जरूरी होता है। जितना परिग्रह कम होगा उतनी मन में चिन्ता कम होगी। केवल व्यवहार चारित्र से, मुनि व श्रावक के भेष से, मोक्ष का कुछ भी साधन नही होगा। मोक्ष तो आत्मा का पूर्ण स्वभाव है। तब उसका साधन उसी स्वभाव की भावना है, आत्मदर्शन है, निश्चय रत्नत्रय है, स्वानुभव है। स्वानुभव के लाभ के लिये निमित्त व्यवहार चारित्र है।

समयसार में कहा है—

णवि एस मोक्खमग्गो पाखंडी गिहमयाणि लिंगाणि।
दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा विंति ॥४३२॥
जह्मा जहित्त लिंगे सागारणगारि एहिं वा गहिदे।
दंसणणाणचरित्ते अप्पाणं जुज मोक्खपहे ॥४३३॥

भावार्थ—साधु के व गृहस्थ के भेष व व्यवहार चारित्र मोक्षमार्ग नही हैं, सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र मोक्षमार्ग है, ऐसा जिनेन्द्र कहते हैं। इसलिये गृहस्थ के व साधु के भेष में या व्यवहार चारित्र में ममता त्यागकर अपने को निश्चय रत्नत्रयमयी मोक्षमार्ग में जोड़ दे।

समयसार कलश में कहा है—

व्यवहारविमूढदृष्टय. परमार्थं कलयन्ति नो जनाः।
तुषबोधविमुग्धबुद्धयः कलयन्तीह तुषं न तन्दुलम् ॥४८-१०॥

भावार्थ—जो मानव व्यवहार चारित्र में ही मूढ़ हैं उसही से मोक्ष मानते हैं और परमार्थ या निश्चय रत्नत्रय या स्वानुभव को मोक्षमार्ग नहीं समझते हैं, वे पुरुष वैसेही मूढ हैं जैसे जो तुषको तंदुल समझ कर तुष को चावलों के लिये कूटें। वे कभी चावल का लाभ नहीं कर

सकेंगे। व्यवहार चारित्र तुष है निश्चय चारित्र तंदुल है। तंदुल बिना तुष वृथा हैं, निश्चय चारित्र बिना व्यवहार चारित्र वृथा है।

अकेला व्यवहार चारित्र वृथा है

वयतवसंजमुसीलु जिय ए सव्वे अकइच्छु।
जाव ण जाणइ इक्क परु सुद्धउ भाउ पवित्तु ॥३१॥

लहै पुण्य से स्वर्ग सुख, नर्क पड़े कर पाप।
पुण्य पाप तज आप में, रमे लहै शिव आप ॥३१॥

अन्वयार्थ—(**जिय**) हे जीव ! (**जाव इक्क परु सुद्धउ पवित्तु भाउ ण जाणइ**) जब तक एक उत्कृष्ट शुद्ध वीतराग भावका अनुभव न करे (**वय तव संजमु सीलु ए सव्वे अकइच्छु**) तब तक व्रत, तप, संयम, शील ये सर्व पालना वृथा है, मोक्ष के लिये नहीं है। पुण्य बाँधकर संसार बढ़ाने वाले हैं।

भावार्थ—व्यवहार चारित्र निश्चय चारित्र के बिना निर्वाण के लिये व्यर्थ है। निर्वाण कर्मों के क्षय से होता है उसका उपाय वीतराग भाव है जो शुद्धात्मानुभव में प्राप्त होता है। निश्चय चारित्र स्वसमय रूप है, आत्मा ही का एक निर्मल भाव है। जहाँ इस भाव पर लक्ष्य नहीं है वहाँ मोक्षमार्ग नहीं है।

व्यवहार व्रतादि पालन में मन, वचन, काय की शुभ प्रवृत्ति होती है। शुभोपयोग या मन्द कषाय है। सम्यग्दर्शन के बिना मन्द कषाय को भी वास्तव में शुभोपयोग नहीं कह सकते है तो भी जहाँ मन्द कषाय से शुभ प्रवृत्ति है, दयाभाव से वर्तन है, परोपकार भाव है, शास्त्रों का विचार जीवादि तत्वों का मनन है, वहाँ अशुभ भाव न होकर शुभ है जो पुण्यबन्ध का कारक है।

द्रव्यसंग्रह में कहा है—

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणया दु जिण भणियं ॥४५॥

भावार्थ—अशुभ से छूटकर शुभ में प्रवृत्ति करना व्यवहारनय से जिनेन्द्र ने चारित्र कहा है—वह पांच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्तिरूप है। व्यवहार पराश्रित है। मन, वचन, काय के आश्रित है इसलिये वहाँ उपयोग पर-मुखाकार है, अपने आत्मा से दूर है इसलिये बन्ध का कारक है। निश्चय स्वाश्रय है, आत्मा ही पर उपयोग सम्मुख है वही शुद्ध भावना है जो निर्वाण का कारण है। यदि कोई सम्यग्दृष्टी नहीं है और वह केवल व्यवहार चारित्र से मोक्षमार्ग मान ले तो यह उसकी भूल है, यह संसार का ही मार्ग है।

बाहरी आलम्बन को या निमित्त को उपादान मानना मिथ्यात्व है। करोड़ों जन्मों में यदि कोई व्यवहार चारित्र पाले तब भी वह मोक्ष के मार्ग पर नही है। शुद्धात्मानुभव के प्रताप से अनादि का मिथ्यादृष्टी जीव सम्यक्ती व संयमी होकर उसी भव से निर्वाण का भागी हो सकता है। **समयसार कलश** में कहा है—

> वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा।
> एक द्रव्यस्वभावात्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत् ॥७॥
> वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि।
> द्रव्यान्तरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ॥८-४॥

भावार्थ—आत्मा का ज्ञान स्वभाव से वर्तना, सदा आत्मीक ज्ञान में रहना है, यही मोक्ष का साधन है। क्योंकि यहाँ उपयोग एक ही आत्मा द्रव्य के स्वभाव मे तन्मय है। शुभ क्रियाकांड में वर्तना आत्मा के ज्ञान मे परिणमन नही है, यह मोक्ष का कारण नहीं है। क्योंकि अन्य द्रव्य के स्वभाव पर यहाँ लक्ष्य है, आत्मा पर ध्यान नही है। **मोक्षपाहुड** में कहा है—

> जो पुण परदव्वरओ मिच्छादिट्ठी हवेइ सो साहू।
> मिच्छत्तपरिणदो उण बज्झदि दुट्ठट्ठकम्मेहिं ॥१५॥

भावार्थ—जो कोई आत्मा को छोड़कर परद्रव्य में रति करता है वह मिथ्यादृष्टी है। मिथ्या श्रद्धान से परिणमता हुआ दुष्ट आठों कर्मों को बाँधता रहता है।

पुण्य पाप दोनों संसार हैं

पुण्णि पावइ सग्गं जिउ पावइ णरयणिवासु ।
बे छंडिवि अप्पा मुणइ तउ लब्भइ सिववासु ॥३२॥

व्रत तप संयम शील जिय, शिव कारण व्यवहार ।
निश्चय कारण मोक्ष को, आतम अनुभवसार ॥३२॥

अन्वयार्थ—(**जिउ पुण्णि सग्गं पावइ**) यह जीव पुण्य से स्वर्ग पाता है (**पावइ णरयणिवासु**) पाप से नरक में जाता है (**बे छंडिवि अप्पा मुण**) पुण्य पाप दोनों से ममता छोड़कर जो अपने आत्मा का मनन करे (**तउ सिववासु लब्भइ**) तो शिव महल में वास पा जावे।

भावार्थ—पुण्य व पाप दोनों ही कर्म संसार-भ्रमण के कारण हैं। दोनों ही प्रकार के कर्मों के बन्ध के कारण कषाय भाव है। मन्द-कषाय से पुण्य कर्म का बन्ध होता है, तीव्र कषाय से पाप का बन्ध होता है। पुण्य कर्म सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम, उच्च गोत्र है। इनका बन्ध प्राणी मात्र पर दयाभाव, आहार, औषधि, अभय व विद्या चार प्रकार दान, श्रावक व मुनि का व्यवहार चारित्र, क्षमा-भाव, सन्तोष, सन्तोषपूर्वक आरम्भ, अल्प ममत्व, कोमलता, समभाव से कष्ट सहन, मन, वचन, काय का सरल कपट रहित बर्तन, परगुण प्रशंसा, आत्मदोष निन्दा, निरभिमानता आदि शुभ भावों से होता है। असातावेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम, नीच गोत्र व ज्ञानावरणादि चार घातीय कर्म पाप कर्म हैं। उनका बन्ध ज्ञान के साधन में विघ्न करने से, दुखित, शोकित होने से, रुदन करने से, परको कष्ट देने से, परका घात करने से, सच्चे गुरुदेव धर्म की निंदा करने से, तीव्र कषाय करने से, अन्याय पूर्वक आरम्भ करने से, बहुत मूर्च्छा रखने से, कपट से वर्तन करने से, मन, वचन, काय को वक्र रखने से, झगड़ा करने से, परनिन्दा व आत्म प्रशंसा से, अभिमान करने से, दानादि में विघ्न करने से, अन्य का बुरा चितवन से, कठोर व असत्य वचन से, पाँच पापों में वर्तन से होता है।

दोनों के फल से देव, मनुष्य, तिर्यंच, नरक गतियों में जाकर सांसारिक सुख व दुःख का भोग करना पड़ता है। व्रत, तप, शील, संयम के पालन में शुभ राग होता है, पुण्य का बन्ध होता है। उससे कर्म का क्षय नहीं हो सकता है। इसलिए यहाँ कहा है कि पुण्य व पाप दोनों ही प्रकार के कर्मों को बेडी समझ कर दोनों ही के कारण भावों से राग छोड़कर एक शुद्ध आत्मीक भाव का अनुभव करना योग्य है।

मोक्ष का कारण एक **शुद्धोपयोग** है पाप व पुण्य दोनों के बन्ध का कारण एक कषाय भाव है। दोनों का स्वभाव पुद्गल कर्म है। दोनों का फल सुख दु.ख है जो आत्मीक सुख का विरोधी है। दोनों ही बन्ध मार्ग हैं। ऐसा समझकर ज्ञानी को सर्व ही पुण्य पाप से पूर्ण वैराग्य रखना चाहिये। केवल एक अपने शुद्ध आत्मा का ही दर्शन करना चाहिये। परिणामों की थिरता न होने से यदि कदाचित् व्यवहार चारित्र पालना पड़े तो उससे मोक्ष होगी, ऐसा मानना नही चाहिये।

व्यवहार चारित्र को बन्ध का कारण जानकर उसको त्यागने योग्य समझना चाहिये। जैसे कोई सीढ़ी पर चढ़ता है उसे त्यागने योग्य समझ कर छोडता ही जाता है। निश्चय चारित्र पर पहुंच कर व्यवहार का स्मरण भी नही रहता है। जैसे कोठे के ऊपर पहुंच कर फिर सीढ़ी को कौन याद करता है ? सीढ़ी तो ऊपर आने के निमित्त थी। इसी तरह व्यवहार चारित्र का निमित्त निश्चय का साधक है। निश्चय प्राप्त होने पर वह स्वयं भावों से छूट जाता है व्यवहार चारित्र का राग नहीं रहता है। **समयसार** में कहा है—

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाण सुहसीलं।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि ॥१५२॥
सोवण्णियह्मि णियलं बंधदि कालायसं च जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं ॥१५३॥
तह्मा दु कुसीलेहि य रायं माकाहि मा व संसग्गं।
साहीणो हि विणासो कुसीलसंसग्गरायेहिं ॥१५४॥

भावार्थ—अशुभ कर्म कुशील है, शुभ कर्म सुशील है, अच्छा है ऐसा व्यवहारी लोग कहते हैं। आचार्य कहते हैं कि शुभ कर्म को सुशील हम नहीं कह सकते। क्योंकि यह संसार में भ्रमण कराता है। जैसे लोहे की बेड़ी पुरुष को बाँधती है वैसे ही सोने की बेड़ी बाँधती है। उसी तरह शुभ व अशुभ दोनों ही किये गये काम जीवको बांधते ही हैं।

इसलिये पुण्य पाप दोनों को कुशील व खोटे समझ कर उनसे राग व उनकी संगति करना योग्य नहीं है। क्योंकि कुशीलों की संगति से व राग से आत्मा की स्वाधीनता का नाश होता है।

समयसार कलश में कहा है—

हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां सदाप्यभेदान्न हि कर्मभेदः।
तद्बन्धमार्गाश्रितमेकमिष्टं स्वयं समस्तं खलु बन्धहेतुः ॥३-४॥

भावार्थ—पुण्य व पाप दोनों का हेतु, स्वभाव, फल व आस्रव एक रूप ही है, कुछ भेद नहीं है। दोनों ही बन्ध के मार्ग हैं, दोनों को (सर्व को) बंध का कारण जानना चाहिए।

निश्चय चरित्र ही मोक्ष का कारण है

वउतउसंजमुसील जिय इय सव्वइ ववहारु।
मोक्खह कारण एक्कु मुणि जो तइलोयहु सारु ॥३३॥

परख ग्रहे निज भाव को, त्याग करे परभाव।
सो शिव पावे जिन कहे, वृथा जु अन्य उपाव ॥३३॥

अन्वयार्थ—(जिय) हे जीव ! (**वउतउसंजमुसील इय सव्वइ ववहारु**) व्रत, तप, संयम, शील ये सब व्यवहार चारित्र हैं (**मोक्खह कारण एक्कु मुणि**) मोक्ष का कारण एक निश्चय चारित्र को जानो (**जो तइलोयहु सारु**) जो तीन लोक में सार वस्तु है।

भावार्थ—तीन लोक में सार वस्तु मोक्ष है, जहां आत्मा अपना स्वभाव पूर्णपने प्रगट कर लेता है, कर्मबन्ध से मुक्त हो जाता है। परमानन्द का नित्य भोग करता है। क्या मोक्ष का उपाय भी तीन

लोक में सार है। वह उपाय भी अपने ही शुद्धात्मा का सम्यक्त श्रद्धान, ज्ञान व उसी में आचरण है। निश्चय रत्नत्रयरूप स्वसमय, स्वरूप संवेदन या आत्मानुभव है। यही एक ऐसा नियमरूप उपाय है। जैसा कार्य या साध्य होता है वैसा ही उसका कारण या साधन होता है। इस आत्मानुभव के लिये जो बाहरी साधन व्रत, तप आदि व्यवहार चारित्र किया जाता है वह मात्र व्यवहार है, निमित्त है। यदि कोई व्यवहार ही चरित्र पाले तो भ्रम है वह निर्वाण का साधन नहीं करता है।

आचार्य बार बार इसी बात की प्रेरणा करते हैं कि योगी ! तू मन, वचन, काय की क्रिया को मोक्ष का उपाय मत जान। जहाँ किंचित् भी विकल्प है या कुछ भी परपदार्थ पर दृष्टि है। वहाँ शुभ राग है, वह बन्ध का कारण है, कर्म की निर्जरा का कारण नहीं है। इसलिये तू सर्व प्रपंच जाल व चिता छोडकर निश्चय होकर एक अपने ही आत्मा की तरफ लौ लगा, उसी को ध्याय, उसी का मनन कर, उसी में सन्तोष मान, एक शुद्ध आत्मा के अनुभव से उत्पन्न आनन्दामृत का पान कर।

व्यवहारचारित्र को व्यवहार मात्र समझ। बिना निश्चयचारित्र के उसका कोई लाभ मोक्षमार्ग में नही है। व्यवहार मुनि या श्रावक का संयम ठीक-ठीक शास्त्रानुसार पालकर भी यह अहंकार मत कर कि मैं मुनि हूँ, मैं क्षुल्लक श्रावक हूँ, मैं ब्रह्मचारी हूँ, मैं धर्मात्मा गृहस्थ हूँ। ऐसा करने से उसके भेष मे व व्यवहार में ही मुनिपना या गृहस्थपना मान लिया सो ठीक नही है। शुद्धात्मानुभव ही मुनिपना है। वही श्रावकपना है, वही जिन धर्म है, ऐसा समझकर ज्ञानी को शरीराश्रित क्रिया में अहंकार न करना चाहिये। जो निश्चयनय की प्रधानता से अपने को सिद्ध भगवान के समान शुद्ध तीन काल के सर्व कर्म रहित, विकल्प रहित, मतिज्ञानादि भेद रहित, एक सहज ज्ञान या आनन्द का समूह मानकर सर्व अन्य भावों से उदास हो जायगा, वही निर्वाण मार्ग पर आरूढ़ समझा जायगा।

भावपाहुड में कहा है—

जीवियमुक्को सवओ दंसणमुक्को य होइ चलसवओ।
सवओ लोयअपुज्जो लोउत्तरयम्मि चलसवओ ॥१४३॥

जह तारयाण चंदो मयराओ मयउलाण सव्वाणं ।
अहिओ तह सम्मत्तो रिसिसावयदुविहधम्माणं ॥१४॥

भावार्थ—जीव रहित मुर्दा होता है आत्मदर्शन रूप सम्यक्त के बिना प्राणी चलता हुआ मुर्दा है । मुर्दा लोक में माननीय नहीं होता, जला दिया जाता है । चलने वाला व्यवहार चारित्रवान मुर्दा परमार्थ में अपूज्य है । जैसे नक्षत्रों में चन्द्रमा शोभता है, पशुओं में सिंह शोभता है वैसे मुनि व श्रावक दोनों के धर्म में सम्यग्दर्शन शोभता है। इस आत्मानुभव के बिना सर्व व्यवहार मलीन ही है ।

सारसमुच्चय में कहा है—

ज्ञानभावनया जीवो लभते हितमात्मनः ।
विनयाचारसम्पन्नो विषयेषु पराङ्मुखः ॥४॥

भावार्थ—जो जीव पाँचों इन्द्रियों के विषयों से उदास होकर धर्म की विनय व धर्म के आचार से युक्त होकर आत्मज्ञान की भावना करता है, वही अपने आत्मा का हित कर सकता है ।

आपसे आपको ध्याओ

अप्पा अप्पइ जो मुणइ जो परभाव चएइ ।
सो पावइ सिवपुरिगमणु जिणवर एउ भणेइ ॥३४॥

एक सचेतन जीव सब, और अचेतन जान ।
सो चेतन ध्याओ सदा, लहो तुरत शिव थान ॥३४॥

अन्वयार्थ—(जो परभाव चएइ) जो परभाव को छोड़ देता है (जो अप्पइ अप्पा मुणइ) व जो अपने से ही अपने आत्मा का अनुभव करता है (सो सिवपुरिगमणु पावइ) वही मोक्षनगर में पहुंच जाता है (जिणवर एउ भणेइ) श्री जिनेन्द्र ने यह कहा है ।

भावार्थ—आत्मा को आत्मा के द्वारा ग्रहण कर जो निश्चल होकर आत्मा का अनुभव करता है वही आत्मा का दर्शन करता हुआ कर्म की निर्जरा करता है व मोक्षनगर में शीघ्र ही पहुंच जाता है ।

जब आत्मा अपने मूल स्वभाव को लक्ष्य में लेकर ग्रहण करता है तब सर्व ही पर भावों का सर्व त्याग हो जाता है। जैसे कोई स्त्री पर के घरों में जाया करती थी। जब वह अपने ही घर में बैठ गई, तब पर घरों का गमन स्वयं बन्द हो गया।

जितना कुछ प्रपंच या विकल्प परद्रव्यों के सम्बन्ध से होता है यह सब पर भाव हैं। कर्मों के उदय से जो भावकर्म रागादि शुभ या अशुभ होता है व नो कर्म शरीरादि होते हैं वे सब परभाव हैं। चौदह गुणस्थान व चौदह मार्गणाओं के भेद तब ही संभव है जब कर्म सहित आत्मा को देखा जावे। अकेले कर्म रहित आत्मा में इन सबका दर्शन नहीं होता है। अपने आत्मा के सिबाय अन्य आत्माएँ संसारी व सिद्ध तथा सर्व ही पुद्गल परमाणु या स्कंध तथा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्ति-काय, कालाणु व आकाश ये सब परभाव हैं। मन के भीतर होने वाले मानसिक विकल्प भी परभाव हैं। आत्मा निर्विकल्प है, अभेद है, असंग है, निर्लेप है, निर्विकल्प भाव में ही ग्रहण होता है।

भूत, भविष्यत, वर्तमान तीन काल सम्बन्धी सर्व कर्मों से व विकल्पों से आत्मा को न्यारा देखना चाहिये। यद्यपि आत्मा अनतगुण व पर्यायों का समुदाय हैं तो भी ध्यान के समय उसके गुण गुणी भेदों का विचार भी बन्द कर देना चाहिये। आत्मा के स्वाद लेने में एकाग्र हो जाना चाहिये। बाहरी निमित्त इसीलिए मिलाये जाते हैं कि मन की चंचलता मिटे, मन क्षोभित न हो। मन में चिन्ताएँ घर न करें। निर्ग्रन्थ साधु को ही शुद्धोपयोग की भले प्रकार प्राप्ति होती है, क्योंकि उसका मन परिग्रह की चिंता से व आरम्भ के झंझट से अलग है। बिल-कुल एकान्त सेवन, निरोग शरीर, शीत उष्ण दंशमशक की बाधा का सहन, ये सब निमित्त कारण ध्यान में उपयोगी हैं। अभ्यास प्रारम्भ करने वालों को परीषह न आवे इस सम्हाल के साथ ध्यान करना होता है। जब अभ्यास बढ़ जाता है तब परीषहों के होने पर निश्चल रह सकता है। साधक को पूर्णपने अपने ही भीतर स्मरण करना चाहिए, यही निर्वाण मार्ग है। समाधिशतक मे कहा है—

यदग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नापि मुञ्चति ।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥२०॥

येनात्मनाऽनुभूयेऽहमात्मनैवात्मनात्मनि ।
सोऽहं न तन्न सा नासौ नैको न द्वौ न वा बहु ॥२३॥

यदभावे सुषुप्तोऽहं यद्भावे व्युत्थितः पुनः ।
अतीन्द्रियमनिर्देश्यं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥२४॥

क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्यास्तत्त्वतो मां प्रपश्यतः ।
बोधात्मानं ततः कश्चिन्न मे शत्रुर्न च प्रियः ॥२५॥

भावार्थ—जो न ग्रहण करने योग्य परभाव हैं या परद्रव्य है उनको ग्रहण नही करता है व जो अपने गुण का स्वभाव है जिनको सदा ग्रहण किये हुये हैं उनका कभी त्याग नही करता है, किन्तु जो सर्व प्रकार से सर्व को जानता है वही मैं अपने से आप अनुभव करने योग्य हूँ। जिस आत्मीक स्वरूप से मैं अपने आत्मा को आत्माके भीतर आत्मा के द्वारा आत्मारूप ही अनुभव करता हूँ वही मैं हूँ। न मैं पुरुष हूँ, न स्त्री हूँ, न नपुसक हूँ, न एक हूँ, न दो हूँ।

जिस स्वरूप को न जानकर मैं अनादि से सो रहा था व जिसको जानकर मैं अब जाग उठा वह मैं अतीन्द्रिय, नाम रहित, केवल स्व-संवेदन योग्य हूँ। जब मैं यथार्थ तत्वदृष्टि से अपने को ज्ञान स्वभाव देखता हूँ तो वही सर्व रागादि क्षय हो जाते है, तब मेरा कोई शत्रु या मित्र नहीं होता है, समभाव छा जाता है।

———※———

व्यवहार में नौ पदार्थों का ज्ञान आवश्यक है

छहदव्वह जे जिण कहिया णव पयत्थ जे तत्त ।
ववहारे जिणउत्तिया ते जाणियहि पयत्त ॥३५॥

सप्त तत्त्व षट् द्रव्य नव, पदार्थ पंच है काय ।
सो यथार्थ व्यवहार युत, ठीक करो मन लाय ॥३५॥

अन्वयार्थ—(**जिण जे छहदव्वह णव पयत्थ जे तत्त कहिया**) जिनेन्द्र ने जो छः द्रव्य नौ पदार्थ और सात तत्त्व कहे हैं (**ववहारे जिणउत्तिया**) वे सब व्यवहारनय से कहे हैं (**पयत्त ते जाणियहि**) प्रयत्न करके उनको जानना योग्य है।

भावार्थ—निर्वाण का उपाय निश्चय से एक आत्मा के दर्शन या आत्मानुभव को बताया है। परन्तु उपाय तब ही किया जाता है जब यह निश्चय हो कि उपाय करने की क्या आवश्यकता है? इसलिये साधक को यह भले प्रकार जानना चाहिये कि वह निश्चयनय से शुद्ध है तथापि वह अनादि से कर्मबंध के कारण अशुद्ध हो रहा है।

यह अशुद्धता कैसे होती है व कैसे मिट सकती है, इस बात का विस्तार से कथन व्यवहारनय से जिनेन्द्र ने बताया है। क्योंकि पर के आश्रय को लेकर आत्मा का कथन व्यवहारनय से ही किया जाता है तब छः द्रव्यों को, सात तत्त्वों को व नौ पदार्थों को भले प्रकार जानना चाहिए। इसलिए साधक को अध्यात्म शास्त्र में प्रवेश करने के पहले श्री तत्वार्थसूत्र व उनकी टीकाएँ सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोक-वार्तिक, गोम्मटसार आदि व्यवहार-प्रधान ग्रन्थों को जानना जरूरी है। इनके श्रद्धान को ही व्यवहार सम्यक्त कहा गया है, जो आत्मा प्रतीतिरूप निश्चय सम्यक्त के लिए निमित्त कारण है।

गोम्मटसार जीवकाण्ड में कहा है—

छप्पंचणवविहाणं अत्थाणं जिणवरोवइट्ठाणं ।
आणाए अहिगमेण य सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥५६०॥

भावार्थ—जिनेन्द्र भगवान के उपदेश अनुसार छः द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, नव पदार्थों का श्रद्धान आज्ञा मात्र से या शास्त्रों के पठन-पाठन व न्याय की युक्ति से समझकर करना व्यवहारनय से सम्यक्त है।

उवओगो वण्णचऊ लक्खणमिह जीवपोग्गलाणं तु ।
गदिठाणोग्गहवत्तणकिरियुवयारो दु धम्मचऊ ।।५६४।।

भावार्थ—उपयोग ज्ञान दर्शन लक्षण का धारी जीव द्रव्य है। स्पर्श रस गंध वर्ण लक्षणधारी पुद्गल द्रव्य है। जीव पुद्गल के गमन में उदासीन रूप से सहकारी धर्मद्रव्य है। जीव द्रव्य को ठहरने में सहकारी अधर्म द्रव्य है। सर्व द्रव्यों को स्थान देने वाला आकाश द्रव्य है। द्रव्यों के पलटने में निमित्त कारण काल द्रव्य है। इस तरह छः द्रव्यों का भरा यह लोक है। जो सत् हो, सदा ही रहे उसको द्रव्य कहते हैं। जीव द्रव्य उपयोग सहित है, ज्ञाता दृष्टा है, यह बात प्रगट है—

शरीरादि पुद्गल रचित है, उनकी सत्ता भी प्रत्यक्ष प्रगट है। शेष चार द्रव्य अमूर्तीक हैं, इनकी सत्ता अनुमान से प्रगट है। जीव पुद्गल चार कार्य करते हैं, उनमें उपादान कारण वे स्वयं हैं, निमित्त कारण शेष चार द्रव्य हैं। गमन में सहकारी लोकाकाश व्यापी धर्मद्रव्य है। ठहरने में सहकारी लोकाकाश व्यापी अधर्मद्रव्य है। अवकाश देने वाला आकाश है। परिवर्तन कराने वाला कालाणु द्रव्य है जो असंख्यात है। एक-एक आकाश के प्रदेश पर एक-एक कालाणु है। जीव अनंत हैं, पुद्गल अनंत हैं, अनंत आकाश के मध्य लोक है। लोक में सर्वत्र शेष पाँच द्रव्य हैं। सूक्ष्म पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति सर्वत्र है। बादर एकेन्द्रियादि कहीं-कहीं हैं। परमाणु व स्कंध रूप पुद्गल सर्वत्र है।

इन छः द्रव्यों का अस्तित्व कभी मिट नहीं सकता है, उनके भीतर संसारी जीव कर्मबंध सहित अशुद्ध हैं। उनको भी जब शुद्ध निश्चय नय की दृष्टि से देखा जावे तो वे शुद्ध ही झलकते हैं। इस दृष्टि से पुद्गल द्रव्य भी परमाणुरूप शुद्ध दिखता है। समताभाव लाने के लिये इन छहों द्रव्यों को मूल स्वभाव से शुद्ध अलग-अलग देखना चाहिये। तब राग-द्वेष नहीं रहेंगे।

समाधिशतक में कहा है—

यस्य सस्पन्दमाभाति निःस्पन्देन समं जगत् ।
अप्रज्ञमक्रियाभोगं स शमं याति नेतरः ॥६७॥

भावार्थ—यह चलता फिरता जगत भी जिसकी दृष्टि में शुद्ध निश्चयनय के बल से चलन रहित थिर, विकल्प रहित निर्विकल्प, क्रिया व भोग रहित निर्विकल्प दिखता है वह समभाव को प्राप्त करता है। मोक्षमार्ग पर चलने वाले के छः द्रव्यों की सत्ता का पक्का निश्चय होना चाहिये, तब भ्रम रहित ज्ञान होगा, तब परद्रव्य व परभावों से उदास होकर स्वद्रव्य में प्रवृत्ति हो सकेगी।

सात तत्व हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष। जीव तत्व मे सब अनन्त जीव आगये। अजीव तत्व में शेष पाँच द्रव्य आ गये। कालाणु एक-एक प्रदेश पर होने से कायरहित हैं। शेष पाँच द्रव्य बहुप्रदेशी हैं। परमाणु में मिलने की शक्ति है, इसलिए काल को छोड़कर शेष पाँच द्रव्यों को अस्तिकाय कहते हैं।

कर्म वर्गणाओके आनेको आस्रव कहते है व कार्मण शरीर के साथ बंधने को बंध कहते है। ये दोनों आस्रव व बंध एक साथ एक समय में होते हैं। इसलिये दोनों के कारण भाव एक ही हैं। मिथ्यादर्शन पाँच प्रकार, अविरति हिंसादि पाँच प्रकार या पाँच इन्द्रिय व मन को वश न रखना तथा छः काय की दया न पालना इस तरह बारह प्रकार, कषाय पच्चीस प्रकार, योग पद्रह प्रकार, सब सत्तावन आस्रव व बंध के कारण भाव है।

संक्षेप मे **योग व कषाय** से आस्रव व बन्ध होते है। मन, वचन, काय की प्रवृत्ति से जब आत्मा के प्रदेश सकम्प होते है तब योगशक्ति से कर्मवर्गणाएँ खिचकर आती है बन्ध जाती है। ज्ञानावरणादि प्रकृतिरूप बन्धन प्रकृतिबन्ध है। कितनी संख्या बन्धी सो प्रदेश बन्ध है। इन दो प्रकार बन्ध का हेतु योग है। कर्मों में स्थिति पड़ना स्थिति बन्ध है। फलदान शक्ति पड़ना अनुभाग बन्ध है। ये दोनों बंध कषाय से होते हैं।

कर्मों के आस्रव के रोकने को संवर कहते हैं। उनका उपाय

आस्रव विरोधी भावों का लाभ है। सम्यग्दर्शन, अहिंसादि पाँच व्रत, कषायरहित वीतराग भाव व योगों का स्थिर होना संवर भाव है।

पूर्व बाँधे हुये कर्मों का एक देश गिरना निर्जरा है। फल देकर गिरना सविपाक निर्जरा है। बिना फल दिये समय से पूर्व झड़ना अविपाक निर्जरा है। उसका उपाय तप या ध्यान है। संवर व निर्जरा के द्वारा सर्व कर्मों से रहित हो जाना मोक्ष है। इन सात तत्वों में पुण्य पाप मिलने से नौ पदार्थ हो जाते हैं। पुण्य पाप आस्रव व बंध तत्वों में गर्भित हैं। व्यवहार नय से इन नौ पदार्थों में जीव, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये चार ही ग्रहण करने योग्य हैं, शेष पाँच त्यागने योग्य हैं। निश्चयनय से एक अपना शुद्ध जीव ही ग्रहण करने योग्य है।

समयसार में कहा है—

भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्यपावं च।
आसवसंवरणिज्जरबन्धो मोक्खो य सम्मत्तं ॥१५॥

भावार्थ—निश्चयनय से जाने हुये ये नौ पदार्थ सम्यक्त होते हैं अर्थात् ये नौ पदार्थ जीव अजीव के संयोग से हैं। आस्रवादि सात पदार्थ जीव व कर्मवर्गणा के संयोग से होते है। इनमें एक जीव कर्म-रहित ग्रहण करने योग्य है, ऐसा श्रद्धान निश्चय से सम्यक्त है।

सब पदार्थों में चेतने वाला एक जीव ही है

सव्व अचेयण जाणि जिय एक्क सचेयण सारु।
जो जाणेविणु परममुणि लहु पावइ भवपारु ॥३६॥

जो शुद्धात्म अनुभवे, त्याग उपाधिक भाव।
शीघ्र मुक्तिपद सो लहे, यों जिनवर दर्शाय ॥३६॥

अन्वयार्थ—(**सव्व अचेयण जाणि**) पुद्गलादि सर्व पाँचों द्रव्यों को उनसे बने पदार्थों को अचेतन या जड़ जानो (**एक्क जिय सचेयण सारु**) एक अकेला जीव ही सचेतन है व सारभूत परम पदार्थ है (**परम

मुणि जो जाणेविणु लहु भवपारु पावइ) परम मुनि जिस जीव तत्त्व को अनुभव करके शीघ्र ही संसार से पार हो जाते हैं।

भावार्थ—छः द्रव्यों में एक आत्मा ही सचेतन है, जो अपने को भी जानता है व सर्व जानने योग्य ज्ञेय पदार्थों को भी जानता है। पाँच पुद्गलादि द्रव्य चेतना रहित जड़ हैं। नौ पदार्थों में भी यदि शुद्ध निश्चयनय से देखा जावे तो एक आत्मा भिन्न ही दीख पड़ता है। जैसे शक्कर को अन्न के साथ मिलकर नौ मिठाइयाँ बनाई जावें तो भी उनमें शक्कर को देखने वाला शक्कर को जुदा देखता है।

ज्ञानी को उचित है कि वह अपने आत्मा को सर्व परद्रव्यों से भिन्न देखे। आठ कर्म भी जड है, शरीर भी जड़ है, कर्म के निमित्त से होने वाले औपाधिक विकारी भाव भी आत्मा का स्वभाव नहीं। मति-ज्ञानादि खण्ड व क्रमवर्ती ज्ञान भी कर्म के संयोग से होते हैं, ये भी आत्मा का स्वभाव नही। आत्मा द्रव्य को मात्र द्रव्यरूप अखंड सिद्ध भगवान के समान शुद्ध देखना चाहिए व ऐसा ही अनुभव करना चाहिए। परम मुनि ही शुद्धात्मा के ध्यान से शीघ्र ही भवसागर से पार हो जाते है।

मोक्ष के कारण कलाप में वज्रवृषभनाराच संहनन का होना जरूरी है। बिना इसके ऐसा वीर्य नहीप्रगट होता कि क्षपकश्रेणी पर चढ़ सके व घातीयकर्म का क्षय करके केवल ज्ञानी हो सके। परिग्रह-त्यागी निर्ग्रंथ मुनि ही मोक्ष के योग्य ध्यान कर सके हैं। इसलिये २४ प्रकार के परिग्रह का होना निषेध है। क्षेत्र, घर, धन, धान्य, चाँदी, सुवर्ण, दासी, दास, कपड़े, वर्तन ये दश प्रकार बाहरी परिग्रह है। ये बिलकुल पर है इनको त्यागा जा सकता है, तब बाहरी परिग्रह की चिंता मन को नहीं सतायेगी। अन्तरंग परिग्रह चौदह प्रकार है। मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुवेद, नपुसकवेद। इनकी ममता बुद्धिपूर्वक छोड़ी जाती है।

कर्मोदय से यदि कोई विकार होता है तो उसको ग्रहण योग्य

मानके त्यागी साधु स्वागत नहीं करते हैं, यही परिग्रह का त्याग है। बालक के समान नग्न रहकर जो साधु अप्रमत्त गुणस्थान के सातिशय भाव को प्राप्त होकर व क्षायिक सम्यक्त से विभूषित होकर क्षपकश्रेणी चढ़कर शुक्लध्यान ध्याते हैं वे ही उसी भव से निर्वाण लाभ कर लेते हैं। बाहरी चारित्र निमित्त है, शुद्ध अनुभव रूप परम सामायिक या यथाख्यात चारित्र उपादान कारण है। निमित्त के होने पर उपादान उन्नति करता है। परन्तु साधककी दृष्टि अपनेही उपादान रूप आत्मीक भाव ही पर रहती है। तात्पर्य यह है कि व्यवहार सम्यक्त के कारणों में भी एक सारभूत अपने ही शुद्धात्मा का ग्रहण कार्यकारी है। **समय-सारकलश** में कहा है।

चिरमिति नवतत्त्वच्छन्नमुन्नीयमानं,
कनकमिव निमग्नं वर्णमालाकलापे।
अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं,
प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम् ॥८-१॥

भावार्थ—जैसे सोने की माला में सोना भिन्न झलकता है वैसे ही जीवों को उचित है कि वह अनादिकाल से पदार्थों के भीतर छिपी हुई अपनी आत्मज्योति को अलग निकाल सदा ही पर से भिन्न व एक रूप प्रकाशमान हरएक पद में देखे—शुद्धात्मा का ही अपने भीतर दर्शन करे।

मोक्षपाहुड में कहा है—

होऊण दिढचरित्तो दिढसम्मत्तेण भावियमईओ।
झायंतो अप्पाणं परमपयं पावए जोई ॥४९॥
चरणं हवइ सधम्मो धम्मो सो हवइ अप्पसमभावो।
सो रागरोसरहिओ जीवस्स अणण्णपरिणामो ॥५०॥

भावार्थ योगी चारित्र में पक्का होकर पक्के निर्मल सम्यग्-की भावना करता हुआ जब अपने आत्मा को ध्याता है तो परम पद मोक्ष पाता है। आत्मा का धर्म या स्वभाव ही चारित्र है आत्मा का धर्म आत्मा का समभाव है। वह समभाव राग-द्वेष रहित जीव का अपना ही भाव है। इस भाव से ही मोक्ष होता है।

—:०:—

व्यवहार का मोह त्यागना जरूरी है

जइ णिम्मलु अप्पा मुणहि छंडवि सहु ववहारु ।
जिण-सामिउ एमइ भणइ लहु पावहु भवपारु ॥३७॥

जाने जीव अजीव जो, भेद विज्ञान विचार ।
कहो कहत जिन मुनि सदा, सो पावे भवपार ॥३७॥

अन्वयार्थ—(**जिणसामी एहउ भणइ**) जिनेन्द्र भगवान ऐसा कहते है (**जइ सहुववहारु छंडवि णिम्मलु अप्पा मुणहि**) यदि तू सर्व व्यवहार छोडकर निर्मल आत्मा का अनुभव करेगा (**लहु भवपारु पावहु**) तो शीघ्र भव से पार होगा ।

भावार्थ—यहाँ जिनेन्द्र भगवान की यही आज्ञा है व यही उपदेश बताया है कि निर्मल आत्मा का अनुभव करो । यह अनुभव तब ही होगा जब सर्व पर के आस्रव व्यवहार का मोह त्यागा जायगा, पर पदार्थ का परमाणु मात्र हितकारी नहीं है । व्यवहार धर्म, व्यवहार सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र का जितना विषय है वह सब त्यागने योग्य है । सम्यग्दृष्टी चाहे गृहस्थ हो या साधु, केवल अपने शुद्ध आत्मा को ही अपना हितकारी जानता है । शेष सर्व को त्यागने योग्य परिग्रह जानता है ।

यद्यपि वह मन के लगने को व ज्ञान की निर्मलता के लिए सात तत्वों का विचार करता है, जिन वाणी का पठन-पाठन मनन उपदेश करता है, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रहत्याग पांच व्रतों को एक देश या सर्व देश पालता है, मन्त्रों का जप करता है, उपवास करता है, रस त्याग करता है तो भी इन सब कार्यों को व्यवहार धर्म जानके छोड़ने योग्य समझता है, क्योंकि व्यवहार के साथ राग करना कर्मबंध का कारण है केवल अपनी आत्मा की विभूति—ज्ञानानन्द सम्पदा को अपनी मान के ग्रहण किये रहता है । सर्व चेतन, अचेतन व मिश्र परिग्रह को त्यागने योग्य समझता है । सिद्धों का ध्यान करता है तो भी सिद्धों को पर मान के उनके ध्यान को भी त्यागने योग्य जानता है ।

क्योंकि वहां भी शुभ का अंश है। और तो क्या, गुणगुणी भेद का विचार भी परिग्रह है, व्यवहार है, त्यागने योग्य है, क्योंकि इस विचार में विकल्प है, जहाँ विकल्प है वहाँ शुद्ध भाव नहीं। यद्यपि इस विचार का आलंबन दूसरे शुक्ल ध्यान तक है तथापि सम्यग्दृष्टी इस आलंबन को भी त्यागने योग्य जानता है।

सम्यक्ती का देव, गुरु, शास्त्र, घर, उपवन, सब कुछ एक अपना ही शुद्धात्मा है, वही आसन है, वही शिला है, वही पर्वत की गुफा है, वही सिंहासन है, वही शय्या है, ऐसा असंगभाव व शुद्ध श्रद्धान जिसको होता है वही सम्यग्दृष्टी ज्ञानी है, वही उस नौका पर आरूढ़ है जो संसार सागर से पार करने वाली है। व्यवहार के मोह से कर्म का क्षय नहीं होगा। जो अहंकार करे कि मैं मुनि, मैं तपस्वी वह व्यवहार का मोही मोक्षमार्गी नहीं है। यद्यपि मुनि का नग्न भेष व श्रावक का सवस्त्र भेष निमित्त कारण है तथापि मोक्षमार्ग कारक रत्नत्रय धर्म ही है। **समयसार** में कहा है—

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारे ण विदुसा पवट्टन्ति।
परमट्ठमस्सिदाणं दु जदीण कम्मक्खओ होदि ॥१६३॥

भावार्थ - ज्ञानी जन निश्चय पदार्थ को छोड़कर व्यवहार के भीतर नही प्रवर्तते हैं। व्यवहार से मोह नहीं रखते हैं। क्योंकि जो साधु परमार्थ का या अपने शुद्धात्मा का आश्रय करते हैं। उन्हीं के कर्मों का क्षय होता है।

पाखंडियलिंगेसु व गिहलिंगेसु व बहुप्पयारेसु।
कुव्वंति जे ममत्ति तेहिं ण णादं समयसारं ॥४३५॥

भावार्थ—जो कोई साधु के भेष में या व्यवहार चारित्र में या नाना प्रकार के श्रावक के भेष में या व्यवहार चारित्र में ममता भाव करते हैं उन्होंने समयसार जो शुद्धात्मा उसको नहीं जाना है।

मोक्षपाहुड में कहा है—

बाहिरलिंगेण जुदो अब्भंतरलिंगरहियपरियम्मो।
सो सगचरित्तभट्ठो मोक्खपहविणासगो साहू ॥६१॥

भावार्थ—जो बाहरी भेष व चारित्र सहित है परन्तु भीतरी आत्मानुभवरूप चारित्र से रहित है वह स्वचारित्र से भ्रष्ट होता हुआ मोक्षमार्ग का विनाशक है।

जीव अजीव का भेद जानो

जीवाजीवहँ भेउ सो जाणइ ति जाणियउ।
मोक्खहँ कारण एउ भणइ जोइ जोईहिं भणिउ ॥३८

चेतन ही सर्वज्ञ है, अन्य अजीव न कोय।
कहा कहत जिन मुनि यहा, निश्चय जानो सोइ ॥३८॥

अन्वयार्थ—(**जोइ**) हे योगी ! (**जोईहिं भणिउ**) योगियों ने कहा है (**जीवाजीवहँ भेउ जोजाणइ**) जो कोई जीव तथा अजीव का भेद जानता है (**ति मोक्खहँ कारण जाणियउ**) उसी ने मोक्ष का मार्ग जाना है (**एउ भणइ**) ऐसा कहा गया है।

भावार्थ—बन्ध व मोक्ष का व्यवहार तब ही संभव है जब दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हों, वे बंधती खुलती हों। गाय रस्सी से बंधी है, रस्सी छूट गई। यदि अकेली गाय हो या अकेली रस्सी हो तो गाय का बंधना व छूटना हो नही सकता, उसी तरह यदि लोकमें जीव ही अकेला होता अजीव न होता तो जीव कभी बंधता व खुलता नही।

संसार दशा में जीव अजीव का बंध है तब मोक्ष दशा में जीव का अजीव से छूटना होता है। दो प्रकार के भिन्न-भिन्न द्रव्य यदि लोक में नहीं होते तो संसार व मोक्ष का होना संभव नहीं था। यह लोक छः द्रव्यों का समुदाय है। उनमें जीव चेतन है, शेष पाँच अचेतन या अजीव हैं। इनमें चार द्रव्य तो बंध रहित शुद्ध दशा में सदा मिलते हैं।

धर्म द्रव्य, अधर्मद्रव्य, काल व आकाश इनके सदा स्वभाव परिणमन होता है। जीव व पुद्गल में ही विभाव परिणमन की शक्ति है। जीव व पुद्गल के बन्ध में जीव विभाव में होते हैं। जीव के

विभाव के निमित्त से पुद्गल में विभाव परिणमन होता है। पुद्गल स्वयं भी स्कन्ध बनकर विभाव परिणमन करते हैं। हर एक संसारी जीव पुद्गल से गाढ़ बन्धन रूप हो रहा है। तैजस व कार्माण का सूक्ष्म शरीर अनादि से सदा ही साथ रहता है। इनके सिवाय औदारिक शरीर, वैक्रियक शरीर व आहारक शरीर व भाषा व मन के पुद्गलों का संयोग होता रहता है।

यह जीव पुद्गल की संगति में ऐसा एकमेक हो रहा है कि यह अपने को भूल ही गया है। कर्मों के उदय के निमित्त से जो रागादि भाव कर्म व शरीरादि नो कर्म होते हैं उन रूप ही अपने को मानता रहता है। पुद्गल के मोह में उन्मत्त हो रहा है। इसी से कर्म का बंध करके बंधन को बढ़ाता है व कर्मों के उदय से नाना प्रकार के फल भोगता है। सुख तो रंचमात्र है, दु:ख बहुत है।

जन्म, मरण, जरा, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग का अपार कष्ट है, तृष्णा की दाह का अपार दु:ख है। जब श्री गुरु के प्रसाद से या शास्त्र के प्रवचन से इसको यह भेदविज्ञान हो कि मैं तो द्रव्य हूँ मेरा स्वभाव परम शुद्ध, निरञ्जन, निर्विकार, अमूर्तीक, पूर्ण ज्ञान दर्शन-मई व आनन्दमई है, मेरे साथ पुद्गल का संयोग मेरा रूप नहीं है, मैं निश्चय से पुद्गल से व पुद्गल कृत सर्व रागादि विकारों से बाहर हूँ, पुद्गल का सम्बन्ध दूर करना योग्य है, मोक्ष प्राप्त करना योग्य है, इस तरह जब भेदविज्ञान हो व पुद्गल से पक्का वैराग्य हो, तब मोक्ष का उपाय हो सकता है। तब यह दृढ़ बुद्धि हो कि कर्मों के आस्रव व बन्ध दु:ख के मूल हैं। इनको छोड़ना चाहिये व मोक्ष के कारण, संवर व निर्जरा हैं, इनका उपाय करना चाहिये। ऐसी प्रतीति होने पर ही मोक्ष का उपाय हो सकेगा। जो यह पक्का जाने कि मैं रोगी हूँ, रोग का कारण यह है, वही रोग के कारणों से बचेगा व विद्यमान रोग के निवारण के लिए औषधि का सेवन करेगा। इस-लिये मूल सूत्र में कहा है कि जीव व अजीव के भेद का ज्ञान मोक्ष का कारण है।

तत्वानुशासन में कहा है—

तापत्रयोपतप्तेभ्यो भवेभ्य: शिवशर्मणे।
तत्त्वं हेयमुपादेयमिति द्वेधाभ्यधादसौ ॥३॥
बंधो निबंधनं चास्य हेयमित्युपदर्शितं।
हेयं स्याद्दुःखसुखयोर्यस्माद्वीजमिदं द्वयं ॥४॥
मोक्षस्तत्कारण चैतदुपादेयमुदाहृतं।
उपादेयं सुख यस्मादस्मादाविर्भविष्यति ॥५॥

भावार्थ—जन्म, जरा, मरण तीन प्रकार के सन्ताप से दुःखी होकर भव्य जीवों को परमानन्दमय मोक्ष सुख का लाभ हो इसलिए सर्वज्ञ देव ने हेय या उपादेय दो प्रकार तत्व कहा है। बन्ध व उसके कारण मिथ्यात्वादि आस्रव भाव त्यागने योग्य हैं, क्योंकि ये ही त्यागने योग्य सासारिक दुःख सुख के बीज है। मोक्ष व उसके कारण संवर व निर्जराभाव ग्रहण योग्य है सो प्रगट होगा। **समयसार कलश** में कहा है—

जीवादजीवमिति लक्षणतो विभिन्न,
ज्ञानी जनोऽनुभवति स्वयमुल्लसन्त।
अज्ञानिनो निरवधिप्रविजृम्भितोऽयं,
मोहस्तु तत्कथमहो बत नानटीति ॥११-२॥

भावार्थ—जीव से अजीव लक्षण से ही भिन्न है इसलिये ज्ञानी जीव अपने को सर्व रागादि से व शरीरादि से भिन्न ज्ञानमय प्रकाशमान एक रूप अनुभव करता है। आश्चर्य व खेद है कि अज्ञानी जीव में अनादिकाल से यह मोहभाव क्यो नाच रहा है जिससे यह अजीव को अपना तत्व मान रहा है। दो द्रव्यों को न्यारे न्यारे नही देखता है इसी से संसार है।

——:०:——

आत्मा केवलज्ञान स्वभाव धारी है

केवल-णाण-सहाउ सो अप्पा मुणि जीव तुहुं ।
जइ चाहहि सिव-लाहु भणइ जोइ जोइहि भणिउँ ॥३६॥

केहि साधो अर्थो ठगों, करी वैर बा प्रीति ।
प्रगट गुप्त सब ठां लखों, समगुण चेतन मीत ॥३६॥

अन्वयार्थ—(**जोइ**) हे योगी ! (**जोइहिं भणिउं**) योगियों ने कहा है (**तुहुं केवल णाण-सहाउ सो अप्पा जीव मुणि**) तू केवल ज्ञान स्वभावी जो आत्मा है उसे ही जीव जान (**जइ सिव-लाहु चाहहिं**) यदि तू मोक्ष का लाभ चाहता है (**भणइ**) ऐसा कहा गया है।

भावार्थ—हर एक आत्मा को जब निश्चयनय से या पुद्गल के स्वभाव से देखा जावे तब देखने वाले के सामने अकेला एक आत्मा सर्व पर के संयोग रहित खड़ा हो जायगा। तब वहाँ न तो आठों कर्म दीखेंगे न शरीरादि नो कर्म दीखेंगे, न राग द्वेषादि भाव कर्म दीखेंगे। सिद्ध परमात्मा के समान हर एक आत्मा दीखेगा। यह आत्मा वास्तव में अनुभव से परे है तथापि समझने के लिये कुछ विशेष गुणों के द्वारा अचेतन द्रव्यों से जुदा करके बताया गया है। छः विशेष गुण ध्यान देने योग्य है।

१. **ज्ञान**—जिस गुण के द्वारा यह आत्मदीपक के समान आप को व सर्व जानने योग्य द्रव्यों की गुणपर्यायों को एक साथ क्रम रहित जानता है, इसीको केवलज्ञान—स्वभाव कहते हैं, इन्द्रियों की व मन की सहायता बिना सकल प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान आवरण रहित सूर्य की भाँति प्रकाशता है। उसके द्वारा अन्य गुणों का प्रतिभास होता है। इसी को सर्वज्ञपना कहते है। हर एक आत्मा स्वभाव से सर्वज्ञ है।

२. **दर्शन**—जिस गुण के द्वारा सर्व पदार्थों के सामान्य स्वभाव को एक साथ देखा जा सके वह केवलदर्शन स्वभाव है। वस्तु सामान्य

विशेषरूप है। सामान्य अंश को ग्रहण करने वाला दर्शन है, विशेष को ग्रहण करने वाला ज्ञान है।

३. सुख—जिस गुण के द्वारा परम निराकुल अद्वितीय आनन्दामृत का निरन्तर स्वाद लिया जावे। हर एक आत्मा अनन्त सुख का सागर है, वहाँ कोई सांसारिक नाशवन्त पर के द्वारा होने वाला सुख व ज्ञान नहीं है। जैसे लवण की डली खार रस से व मिश्री की डली मिष्टरस से पूर्ण है वैसे ही हर एक आत्मा परमानन्द से पूर्ण है।

४. वीर्य—जिस शक्ति से अपने गुणों का अनन्तकाल तक भोग या उपभोग करते हुये खेद व थकावट न हो, निरन्तर सहज ही शान्त-रस में परिणमन हो, अपने भीतर किसी बाधक का प्रवेश न हो। हर एक आत्मा अनन्तवीर्य का धनी है। पुद्गल में भी वीर्य है, परन्तु आत्मा का वीर्य उससे अनन्तगुणा है। क्योंकि कर्मों का क्षय करके परमात्मा पद आत्म वीर्य से ही होता है।

५. चैतनत्व—चेतनपना, अनुभवपना "चैतन्यं अनुभवनं" (आलापपद्धति) अपने ज्ञान स्वभाव का निरन्तर अनुभव करना, कर्म का व कर्मफल का अनुभव नहीं करना। संसारी आत्मा रागी, द्वेषी होते हैं अतएव राग-द्वेषपूर्वक शुभ व अशुभ काम करने में तन्मय रहते हैं या कर्म के फलो को भोगते हुये सुख दुःख में तन्मय हो जाते हैं। कर्म रहित शुद्ध आत्मा में मात्र एक ज्ञानचेतना है, ज्ञानानन्द का ही अनुभव है।

६. अमूर्तत्व—यह आत्मा यद्यपि असंख्यात प्रदेशी एक अखण्ड द्रव्य है तथापि यह स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण से रहित अमूर्तीक है। इंद्रियों के द्वारा देखा नहीं जा सकता है। आकाश के समान निर्मल आकार-धारी ज्ञानाकार है। इन छः विशेष गुणों से यह आत्मा पुद्गल धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, कालाणु व आकाश, इन पाँच अचेतन द्रव्यों से भिन्न झलकता है। हर एक आत्मा स्वभाव से परम वीतराग शांत निर्विकार है, अपनी ही परिणति का कर्ता व भोक्ता है, पर का कर्ता व भोक्ता नहीं। हर एक आत्मा परम शुद्ध परमात्मा परम सम-दर्शी है।

इस तरह जो अपने आत्मा को या पर की आत्माओं को अर्थात् विश्व की सर्व आत्माओं को देखता है वहाँ पूर्ण स्वाभाविक समभाव झलकता है। यही समभाव चारित्र है, ध्यान है, भावसंवर है, भाव-निर्जरा है, यही कर्म क्षयकारी भाव है, यही निर्जरा का उपाय है। योगियों ने, परम ऋषियों ने व अरहंतों ने स्वयं अनुभव करके यही बताया है। मुमुक्षु को सदा ही अपने आत्मा का ऐसा शुद्ध ज्ञान रखना चाहिये। समयसार कलश में कहा है—

अनाद्यनन्तमचलं स्वसंवेद्यमबाधितम्।
जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते ॥६-२॥

भावार्थ—यह जीव अनादि से अनन्तकाल तक रहने वाला है, चचलता रहित निश्चल है, स्वय चेतनामई है, स्वानुभवगोचर है, सदा ही चमकने वाला है। तत्वानुशासन में कहा है—

स्वरूपं सर्वजीवानां स्वपरस्य च प्रकाशनं।
भानुमंडलवत्तेषां परस्मादप्रकाशनं ॥२३५॥
न मुह्यति न संशेते स्वार्थानध्यवस्यति।
न रज्यते न च द्वेष्टि किंतु स्वस्थः प्रतिक्षणं ॥२३७॥

भावार्थ—सर्व जीवों का स्वभाव आत्मा का व परपदार्थों का सूर्यमण्डल की तरह बिना किसी दूसरे की सहायता से प्रकाश करना है। हर एक आत्मा स्वभाव से संशयवान नहीं होता है, अनध्यवसाय या ज्ञान के आलस्य भाव को नहीं रखता है, न मोह या विपरीत भाव को रखता है, संशय, विमोह, अनध्यवसाय रहित है, न तो राग करता है, न द्वेष करता है। किंतु प्रति समय अपने ही भीतर मगन रहता है।

ज्ञानी को हर जगह आत्मा ही दिखता है

को सुसमाहि करउ को अंचउ, छोपु-अछोपु करिवि को वंचउ।
हल सहि कलहु केण समाणउ, जहिंकहि जोवउ तहिं अप्पाणउ॥

जब तक भ्रमे कुतीर्थ जिय, करे धूर्तता ढंग।
जब तक सुगुरु मिले नहीं, पडो कुगुरु के संग॥४०॥

अन्वयार्थ—(**को सुसमाहि करउ**) कौन तो समाधि करे (**को अंचउ**) कौन अर्चा या पूजन करे (**छोपु-अछोपु करिवि**) कौन स्पर्श-अस्पर्श करके (**को वंचउ**) कौन वचना या मायाचार करे (**केण सहि हल कलहु समाणउ**) कौन किसके साथ मैत्री व कलह करे (**जहिं कहिं जोवउ तहिं अप्पाणउ**) जहाँ कही देखो वहाँ आत्मा ही आत्मा दृष्टि-गोचर होता है।

भावार्थ—इस चौपाई मे बताया है कि निश्चयनय से ज्ञानी जब देखता है तब उसे अपना आत्मा परम शुद्ध दीखता है, वैसे ही विश्वभर मे भरे सूक्ष्म व बादर शरीरधारी आत्माएँ भी सब परम शुद्ध दीखती है। इस दृष्टि मे नर नारक देव पशु के नाना प्रकार के भेद नही दिखते है, एक आत्मा ही आत्मा दिखता है। ऐसा उन ज्ञानी के भावों मे समभाव झलक गया है। एक अद्वैत आत्मा का ही अनुभव आ रहा है। अनुभव के समय तो आप मे ही लीन है।

अनुभव की माता भावना है। भावना के समय उसे शुद्ध दृष्टि से शुद्धात्मा ही दिखाता है। इसका अभिप्राय यह नही लेना कि पुद्गलादि पाँच द्रव्यो का अभाव हो जाता है। जगत छः द्रव्यों का समुदाय है। वे द्रव्य सत् पदार्थ है, उनका कभी लोप नही हो सकता। तथापि आत्मदर्शन का लक्ष्यविन्दु एक आत्मा ही आत्मा है। इसलिये आत्मा ही आत्मा दिखता है। जैसे कोई खेत मे जावे और दृष्टि देखने वाले की चने के दाने की तरफ हो तो वह चने के खेत में चनों को ही देखता है, वृक्ष के पत्ते, शाखा, मूलादि को नही देखता है और कहता है कि इस खेत मे पाँच मन चना निकलेगा।

बहुत से सुवर्ण के गहने मणिजड़ित हैं, जौहरी के पास बिकने को ले जाओ तब वह केवल मणियों को देखता है, सुवर्ण को नहीं ध्यान में लेता, मणियों की ही कीमत करता है। उसी ही गहने को सर्राफ के पास ले जाओ तो वह मात्र सुवर्ण को ही देखकर सुवर्ण की कीमत लगाता है। इसी तरह आत्मज्ञानी को हर जगह आत्मा ही आत्मा दीखता है, यही भाव सामायिक चारित्र है, यही श्रावक का सामायिक शिक्षाव्रत है।

जब आप परम शांत समभावी हो गए, तब आक्षात् कर्म के क्षय का कारण उपाय बन गया। फिर वहाँ और कल्पनाओं का स्थान नही रहा, न यह चिंता रही कि समाधिभाव प्राप्त करना है, न यह चिन्ता रही कि पूजन पाठ करना है, न वह विचार ही कि शुद्ध भोजन करना है अशुद्ध नहीं करना है, अमुक के हाथ का स्पर्शित करना है, अमुक के हाथ का स्पर्शित नही करना है। राग द्वेष रूप भाव व्यवहार से करना पड़ता है। यह व्यवहार निश्चय की अपेक्षा असत्य है, माया रूप है, मिथ्याभिमान है।

जब सर्व जीवों को समान देख लिया, तब किसके साथ मैत्री करे व किसके साथ कलह करे। रागद्वेष तो नाना भेद रूप दृष्टि में ही हो सकते हैं। सर्व को शुद्ध एकाकार देख लिया, तब शत्रु व मित्र की कल्पना ही न रही। सर्व व्यवहार धर्म कर्म से दूर हो गया। व्यवहार निमित्त साधन के द्वारा जो भाव प्राप्त करना था सो प्राप्त कर लिया समभाव ही चारित्र है, समभाव ही धर्म है, समभाव ही परम तत्व है सो मिल गया। वह भव्यजीव कृतार्थ हो गया, बन्ध की परिपाटी से छूट गया, निर्जरा के मार्ग में आरूढ़ हो गया **सर्वार्थसिद्धि** में कहा है—

एकत्वेन प्रथमं गमनं समयः, समय एव सामयिकं, समये प्रवर्तमानमस्येति वापिगृह्य सामयिकं ॥अ० ७ सू० २१॥

भावार्थ—आत्मा के साथ एकमेक हो जाना, आत्मामई हो जाना सामायिक है। **सारसमुच्चय** में कहा है—

समता सर्वभूतेषु यः करोति सुमानसः।
ममत्वभावनिर्मुक्तो यात्यसौ पदमव्ययम् ॥२१३॥

भावार्थ—जो सुबुद्धि सर्व प्राणी मात्र से समभाव रखता है व ममता से छूट जाता है, वही अविनाशी पद को पाता है।

समाधि शतक में कहा है —

दृश्यमानमिदं मूढस्त्रिलिंगमवबुध्यते।
इदमित्यवबुद्धस्तु निष्पन्नं शब्दवर्जितम् ॥४४॥

भावार्थ—मूर्ख अज्ञानी इस दिखने वाले जगत को स्त्री, पुरुष, नपुसक रूप तीन लिंगमय देखता है। ज्ञानी इस जगत को शब्द रहित परम शांत देखता है।

—:०:—

अनात्मज्ञानी कुतीर्थों में भ्रमता है

ताम कुतित्थिइं परिभमइ धुत्तिम ताम करेइ।
गुरुहु पसाएं जाम णवि अप्पा-देउ मुणेइ ॥४१॥

तीर्थ शिवालय देखना, वेद शिवालय वेद।
जिनवाणी गुरु यों कहे, निश्चय जानो एव ॥४१॥

अन्वयार्थ—(**गुरुहु पसाएं जाम अप्पा-देउ णवि मुणेइ**) गुरु महाराज के प्रसाद से जब एक अपने आत्मरूपी देव को नहीं पहचानता है (**ताम कुतित्थइं परिभमइ**) तब तक मिथ्या तीर्थों में घूमता है (**ताम धुत्तिम करेइ**) तब ही तक धूर्तता करता है।

भावार्थ—जब तक यह जीव अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टी है, संसारासक्त है, तब तक इसको इष्ट इन्द्रियों की प्राप्ति की कामना रहती है व बाधक कारणों के मिटाने की लालसा रहती है। मिथ्या मार्ग के उपदेशकों के द्वारा जिस किसी की भक्ति व पूजा से व जहाँ कहीं जाने से विषयों के लाभ में मदद होनी जानता है, उसकी भक्ति व पूजा करता है व उन स्थानों में जाता है। मिथ्या देवों की, मिथ्या

गुरुओं की, मिथ्या धर्मों की, मिथ्या तीर्थों की खूब भक्ति करता है। नदी व सागर में स्नान से पाप नाश कर इष्टलाभ मान लेता है। खेल तमाशों में फँसा रहता है। जैसा श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है—

आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम् ।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते ॥२२॥

भावार्थ—नदी व सागर में स्नान करने से, बालू व पत्थरों के ढेर लगाने से, पर्वत से गिरने से, आग में जलकर मरने से भला होना मानना, पाप क्षय, पुण्य लाभ या मुक्ति मानना लोक मूढता है।

वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसाः ।
देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते ॥२३॥

भावार्थ—लौकिक फल की इच्छा से आशावान होकर जो राग द्वेष से मलीन देवताओं को पूजना सो देव मूढता है।

सग्रन्थारम्भहिंसानां संसारावर्तवर्तिनाम् ।
पाखण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाखंडिमोहनम् ॥२४॥

भावार्थ—परिग्रहधारी, आरम्भ व हिंसा करने वाले, संसार रूपी चक्र में वर्तन व वर्ताने वाले साधुओं का आदर सत्कार करना सो पाखण्ड मूढता है।

लौकिक जन इन तीन प्रकार की मूढताओं से ठगे गये संसारासक्त बने रहते हैं। इनके लिये तन, मन, धन अर्पण करके बड़ी भक्ति करते हैं। धन, स्त्री, निरोगता आदि लाभ के लोभ से पशु बलि तक देवी देवताओं के नाम पर करते हैं। धूर्तता व खोटे पाप बन्धक नदी सागरादि तीर्थों में भ्रमण तब तक यह अज्ञानी करता रहता है, जब तक इसको सम्यग्दर्शन का प्रकाश नहीं है।

अपने ही आत्मा को परमात्मा देव मानना व परमानन्द का प्रेमी होना, संसार के विषयों से वैराग्य होना, इन्द्र चक्रवर्ती आदि लौकिक पदों को पर समझ कर इन से उदास होना, आत्मानुभव को ही निश्चय धर्म मानना सम्यग्दर्शन है। सम्यक्ती मुख्यता से अपने आत्मा देव की आराधना करता है जब राग के उदय से

आत्मशक्ति नहीं हो सकती है तब वीतरागता के ही उद्देश्य से अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु इन पाँच परमेष्ठिओं की भक्ति करता है, शास्त्र का मनन करता है, वैराग्य दायक व आत्मज्ञान जागृत करने वाले उत्तम तीर्थों की यात्रा करता है।

संसार से पार होने वाले मार्ग को तीर्थ व पार होने का मार्ग बताने वालों को तीर्थंकर कहते है ये तीर्थंकर या उन ही के समान अन्य मोक्षगामी महात्मा जहाँ जन्मते है, तप करते है, केवल ज्ञान उपजाते हैं व निर्वाण जाते है वे सब पवित्र स्थान आत्मधर्म रूपी तीर्थ को स्मरण कराने के निमित्त होने से तीर्थ कहलाते है। जैसे अयोध्या, हस्तिनापुर, कापिल्या, बनारस, सम्मेदशिखर, गिरनार, राजगृह, पावापुर इत्यादि। जहाँ कही विशेष ध्यानाकार प्राचीन प्रतिमा होती है वह भी वैराग्य के निमित्त होने से तीर्थ माना जाता है जैसे श्रवणबेलगोला के श्री गोम्मट स्वामी, चांदन गाँव के महावीरजी, सजोत के श्री शीतलनाथ जी आदि।

आत्मज्ञानी ऐसे तीर्थो का निमित्त मिलाकर आत्मानुभव की शक्ति बढ़ाता है। निश्चय तीर्थ तो अपना आत्मा ही है, व्यवहार तीर्थ पवित्र क्षेत्र है।

——:o:——

निज शरीर ही निश्चय से तीर्थ व मंदिर है

तित्थहिं देवलि देउ णवि इम सुइकेवलि वुत्तु।
देहादेवलि देउ जिणु एहउ जाणि णिरुत्तु ॥४१॥

तन मन्दिर में जीव जिन, मन्दिर मूर्ति न देव।
सिद्ध बने भिक्षहिं भ्रमे, सन्मुख हाँसी एव ॥४२॥

अन्वयार्थ—(सुइकेवलि इम वुत्तु) श्रुत केवली ने ऐसा कहा है कि **(तित्थहिं देवलि देउ णवि)** तीर्थ क्षेत्रों में व मंदिर में परमात्मा देव नहीं है **(णिरुत्तु एहउ जाणि)** निश्चय से ऐसा जान कि **(देहादेवलि जिणु देउ)** शरीर रूपी देवालय में जिन देव है।

भावार्थ—निश्चयसे या वास्तवमें यदि कोई परमात्मा श्रीजिनेंद्र का दर्शन या साक्षात्कार करना चाहे तो उसको अपने शरीर के भीतर ही अपने ही आत्माको शुद्ध ज्ञान दृष्टिसे शुद्ध स्वभावी सर्व भाव कर्म, द्रव्य कर्म, नोकर्म रहित देखना होगा। कोई भी इस जगत में परमात्मा को अपनी चर्म चक्षु से कहीं भी नहीं देख सकता है। न मंदिर में, न तीर्थ क्षेत्र में, न गुफा में, न पर्वत पर, न नदी तीर पर, न किसी गुरु के पास, न किसी शास्त्र के वाक्यों में। अब तक जिसने परमात्मा को देखा है अपने ही भीतर देखा है। वर्तमान में परमात्मा का दर्शन करने वाले भी अपनी देह के भीतर ही देखते हैं, भविष्य में भी जो कोई परमात्मा को देखेगा वह अपने शरीर रूपी मंदिर में ही देखेंगे।

जब ऐसा निश्चय सिद्धांत है तब फिर मन्दिर में जाकर प्रतिमा का दर्शन क्यों करते हैं व तीर्थ क्षेत्रों पर जाकर पवित्र स्थान पर क्यों मस्तक नमाते है? इसका समाधान यह है कि ये सब निमित्त कारण हैं, जिनकी भक्ति करके अपने ही भीतर आत्मा देव को स्मरण किया जाता है। जो उच्च स्थिति पर पहुच गए हों कि हर समय आत्मा का साक्षात्कार हो वे तो सातवें से आठवें नौमें दसवें आदि गुणस्थानों में अन्तर्मुहूर्त में चढ़कर केवल ज्ञानी हो जाते हैं। जो सविकल्प नीची अवस्था में है, जिनके भीतर प्रमाद जनक कषाय का तीव्र उदय संभव है, ऐसे देश संयम गुणस्थान तक श्रावक गृहस्थ तथा प्रमत्तविरत गुणस्थान धारी साधु—इन सब का मन चंचल हो जाता है, तब बाहरी निमित्तों के मिलने पर फिर स्वरूप की भावनाएँ दृढ़ हो जाती है। इनके लिए श्री जिन मन्दिर में प्रतिमा का दर्शन व तीर्थ क्षेत्रोंकी वंदना आत्मानुभव या आत्मीक भावना के लिए निमित्त हो जाते हैं।

यहाँ पर बताया है कि कोई मूढ़ ऐसा समझ ले कि प्रतिमा में ही परमात्मा है या तीर्थक्षेत्र में परमात्मा विराजमान है, उसके लिए यहां खुलासा किया है कि प्रतिमा में परमात्मा की स्थापना है या क्षेत्रों पर निर्वाणादि के पदों की स्थापना है। स्थापना साक्षात् पदार्थको नहीं बताती है किन्तु उसका स्मरण कराती है व उसके गुणों का भाव चित्र से झलकाती है जिसकी वह मूर्ति है। बुद्धिमान्न कोई यह नहीं मान

सकता कि ऋषभदेव की प्रतिमा में ऋषभदेव हैं या महावीर की प्रतिमा में महावीर हैं वह यही मानेगा कि वे प्रतिमाएँ ऋषभ या महावीर के ध्यानमय स्वरूप को झलकाती हैं, उनके वैराग्य की मूर्ति हैं।

इन मूर्तियों के द्वारा उनही का स्मरण होता है व मूर्तिको वंदना करने से, व पूजन करने से, जिसकी मूर्ति है उसी की वन्दना या पूजा समझी जाती है। क्योंकि भक्ति का लक्ष्य उन पर रहता है, जिनकी वह मूर्ति है। लौकिक मे भी बड़े पुरुषों के चित्र का आदर उनही का आदर व उन चित्रों का अनादर उनही का अपमान समझा जाता है जिनका वह चित्र है। दर्शक के परिणाम भी मूर्ति के निमित्त से बदल जाते हैं। वीतराग, तपदर्शक मूर्ति वैराग्य व रागवर्द्धक मूर्ति विभाव उत्पन्न कर देती है। छठे गुणस्थान तक के भव्यजीव प्रतिमाओं की व तीर्थक्षेत्र की भक्ति करते हैं। उनकी भक्ति के बहाने सहारे से अपने ही आत्मा की भक्ति पर पहुंच जाते हैं।

जो सम्यग्दृष्टी हैं—आत्मज्ञानी है, जो अपनी देह में अपने ही आत्मा को परमात्मा रूप देख सकते हैं, उनके लिए मन्दिर प्रतिमा, तीर्थक्षेत्र आत्माराधना में प्रेरक हो जाते है। जैसे ज्ञान की वृद्धि में शास्त्रों के वाक्य प्रेरक हो जाते हैं। ये सब बुद्धि पूर्वक प्रेरक नहीं हैं, किन्तु उदासीन प्रेरक निमित्त है।

तत्वार्थसार में स्थापना का स्वरूप है—

सोऽयमित्यक्षकाष्ठादे. सम्बन्धेनान्यवस्तुनि।
यद्यवस्थापनामात्र स्थापना साभिधीयते ॥११-१॥

भावार्थ लकड़ी की गोठ में अन्य वस्तु में किसी को मान लेना कि यह अमुक है सो स्थापना निक्षेप है। जिसकी स्थापना करनी हो उसके उस भाव को वैसा ही दिखाने वाली मूर्ति बनाना **तदाकार** स्थापना है। किसी भी चिह्न में किसी को मान लेना **अतदाकार** स्थापना है। जैसे चित्रपट में किसी लकीर को नदी, किसी बिन्दु को पर्वत, किसी घेरे को नगर आदि मान लेते हैं। स्थापना केवल संकेत करती है। कोई मूढ़ स्थापना को साक्षात् मानकर नदी की स्थापना रूप लकीर से पानी लेना चाहे तो पानी नहीं मिलेगा। क्योंकि लकीर में साक्षात् नदी नही है।

कोई साधु की मूर्ति को देखकर प्रश्न करना चाहे तो उत्तर नहीं मिल सकता। क्योंकि वहां साक्षात् साधु नहीं है, साधु का आकार प्रदर्शक चित्र है। तात्पर्य यह है कि मन्दिर व तीर्थ में साक्षात् परमात्मा का दर्शन नहीं होगा। परमात्मा जिनदेव का दर्शन तो अपने ही आत्मा को आत्मरूप यथार्थ देखने से होगा।

परमात्मप्रकाश में भी कहा है—

देहा देउलि जो वसइ, देव अणाइ अणंतु।
केवलणाण फुरंतु तणु सो परमप्पु अणंतु ॥३३॥

भावार्थ—देहरूपी देवालय में जो अनादि से अनंतकाल रहने वाला केवल ज्ञानमई प्रकाशमान शरीरधारी अपना आत्मा है वही निःसन्देह परमात्मा है।

अण्णुजि तित्थ म जाहि जिय, अण्णुजि गुरउ म सेवि।
अण्णुजि देव म चित तुहुं अप्पा विमल मुएवि ॥९५॥

भावार्थ—और तीर्थ में मत जा, और गुरु की सेवा न कर, अन्य देव की चिंता न कर, एक अपने निर्मल आत्मा का ही अनुभव कर, यही तीर्थ है, यही गुरु है, यही देव है, अन्य तीर्थ, गुरु व देव केवल व्यवहार निमित्त हैं।

देवालय में साक्षात् देव नहीं है

देहा-देवलि देउजिणु देव लिहिं णिएइ।
हासउ महु पडिहाइ इहु सिद्धे भिक्ख भमेइ ॥४२॥

मूढ़ दिवालय देखना, मूर्ति चित्र न देव।
तन मन्दिर में देव जिय, ज्ञानी जाने भेव ॥४३॥

अन्वयार्थ—जिणु देउ देहा देवलि) श्री जिनेन्द्रदेव देहरूपी देवालय में हैं (जणु देवलिहिं णिएइ) अज्ञानी मानव मन्दिरों में देखता फिरता है (महु हासउ पडिहाइ) मुझे हँसी आती है (इहु सिद्धे भिक्ख भमेइ) जैसे इस लोक में धनादि की सिद्धि होने पर भी कोई भीख मांगता फिरे।

भावार्थ—यहाँ इस बात पर भी लक्ष्य दिलाया है कि जो लोग केवल जिनमन्दिरों की बाहरी भक्ति से ही संतुष्ट होते हैं व अपने को धर्मात्मा समझते हैं, इस बात का बिलकुल विचार नही करते हैं कि यह मूर्ति क्या सिखाती है व हमारे दर्शन करने का व पूजन करने का क्या हेतु है, वे केवल कुछ शुभ भाव से पुण्य बांध लेते हैं, परन्तु उनको निर्वाण का मार्ग नही दीख सकता है। बाहरी चारित्र बिना अन्तरंग चारित्र के, बालू से तैल निकालने के समान प्रयोग है। सम्यग्दर्शन बिना सर्व ही शास्त्र का ज्ञान व सर्व ही चारित्र मिथ्याज्ञान व मिथ्या चारित्र है।

अपने आत्मा के सच्चे स्वभाव का विश्वास ही सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन के प्रकाश से अपने आत्मा को कर्मकृत विकारवश रागी, द्वेषी, संसारी मानने का अज्ञान अंधकार मिट जाता है तब ज्ञानी सम्यग्दृष्टि को अपने शरीर में व्यापक आत्मा का परमात्मा रूप ही श्रद्धान जम जाता है। वह सदा अपने शरीर रूपी मन्दिर में अपने आत्मरूपी देव का निवास मानता है तथा अपने आत्मा के द्वारा धन को ही सच्चा धर्म मानता है। वह सम्यक्ती कभी भ्रम में नही पडता है। वस्तुओं का यथार्थ स्वरूप जानता है। वह जिनमन्दिर में जिन प्रतिमा का दर्शन, पूजन अपने आत्मीक गुणो पर लक्ष्य पाने के लिए व अपने भीतर आत्मदर्शन करने के लिए ही करता है। वह जानता है कि मूर्ति जड है, केवल स्थापना रूप है। ध्यान का चित्र है उसमे साक्षात् जिनेन्द्र नही है। जो भूतकाल मे तीर्थंकर या अन्य अरहत हो गए हैं वे अब सिद्धक्षेत्र में है। वर्तमान मे इस भरत क्षेत्र मे इस पंचम काल में नहीं है। यदि होते भी व समवशरण या गधकुटी मे उनका दर्शन होता भी जो आंखों से तो केवल उनका शरीर ही दिखता, आत्मा नही दिखता। उनका आत्मा कैसा है इस बात के जानने के लिए तब भी अपने शरीर मे ही विराजित अपने आत्मा देव को ध्यान में लाना पड़ता है। वास्तव में जो अपने आत्मा के स्वभाव को पहचानता है वही जिनेश्वर की आत्मा को पहचानता है।

अपने आत्मा का आराधन ही उनका सच्चा आराधन है। जो

अपने आत्मा को नहीं समझते व बाहर आत्मा देव को ढूंढते हैं उनके लिए हास्य का भाव ग्रंथकार ने बताया है व यह मूर्खता प्रगट की है कि धन का स्वामी होकर भी कोई भीख मांगता फिरे।

एक मानव बहुत लोभी था, धन को गाड़कर रखता था, बाहर से दीन दिखता था। अपने पुत्र को भी धन का पता नहीं बताया। केवल उसका एक पुराना मित्र ही इस भेद को जानता था कि इसने प्रचुर धन अमुक स्थान में रक्खा है। कुछ काल पीछे वह मर जाता है। पुत्र अपने को निर्धन समझ कर दीनहीन वृत्ति करके पेट भरता हैं। एक दिन पुराने मित्र ने बता दिया कि क्यों दुःखी होते हो ? तेरे पास अटूट धन है। वह अमुक स्थान में गडा है। सुनकर प्रसन्न होता है। उस स्थान पर खोदकर धन का स्वामी हो जाता है। फिर भी यदि वह दीन वृत्ति करे तो हास्य का स्थान है। इसी तरह जिसने आत्मा देव का शरीर के भीतर पा लिया उसको फिर वाहरी क्रिया में मोह नही हो सकता। कारण वश अशुभ से बचने के लिए बाहरी क्रिया करता है तो भी उसे निर्वाण मार्ग नही मानता। निर्वाण मार्ग तो आत्मा के दर्शन को ही मानना है।

समयसार में कहा है—

परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।
संसारगमणहेदुं विमोक्खहेदुं अयाणंता ॥१६१॥

भावार्थ—जो परमार्थ से बाहर हैं, निश्चय धर्म को नहीं समझते व मोक्ष के मार्ग को नहीं जानते हुए अज्ञान से संसार-भ्रमण के कारण पुण्य को ही चाहते हैं, पुण्य कर्म बंध कारक क्रिया को निर्वाण का कारण मान लेता है। **समयसारकलश** में कहा है—

क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्म्मभिः,
क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरं।
साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं,
ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते न हि ॥७-७॥

भावार्थ—कोई बहुत कठिन मोक्षमार्ग से विरुद्ध असत्य व्यवहार रूप क्रियाओं को करके कष्ट भोगो तो भोगो अथवा कोई चिर-

काल जैनों के महाव्रत व तप के भार से पीड़ित होते हुए कष्ट भोगो तो भोगो, परन्तु मोक्ष नहीं होगा। क्योंकि मोक्ष एक निराकुल पद है, ज्ञानमय है, स्वयं अनुभव गोचर है, ऐसा मोक्ष बिना आत्मज्ञान के और किसी भी तरह प्राप्त नहीं किया जा सकता।

—: o :—

समभावरूप चित्तसे अपने देहमें जिनदेव को देख

मूढा देवलि देउ णवि सिलि लिप्पइ चित्ति।
देहा-देवलि देउ जिणु सो बुज्झहि समचित्ति ॥४४॥

तीर्थ देवालय देव जिन, यों भावे सब मूढ़।
तन मन्दिर जिन देव जिय, ज्ञानी जाने गूढ़ ॥४४॥

अन्वयार्थ--(**मूढा**) हे मूर्ख ! (**देउ देवलि णवि**) देव किसी मन्दिर में नहीं है (**सिलि लिप्पइ चित्ति णवि**) न देव किसी पाषाण लेप या चित्र में है (**जिणु देउ देहा-देवलि**) जिनेन्द्रदेव परमात्मा शरीर रूपी देवालय में हैं (**समचित्ति सो बुज्झहि**) उस देव को समभाव से पहचान या उसका साक्षात्कार कर।

भावार्थ—यहाँ फिर भी दृढ़ किया है कि परमात्मा देव ईंट व पाषाण के बने हुए मन्दिर में नहीं मिलेगा, परमात्मा का दर्शन किसी पाषाण या धातु की या मिट्टी की मूर्ति में होगा न किसी चित्र में होगा। अपना आत्मा ही स्वभाव से परमात्मा जिनदेव है। उसका दर्शन यह ज्ञानी प्राय: अपने भीतर कर सकता है। यदि यह रागद्वेष को छोड़ दे, शुभ या अशुभ राग त्याग दे, वीतरागी होकर अपने को आठ कर्म रहित, शरीर रहित, रागादि विकार रहित देखे।

मन्दिरों का निर्माण निराकुल स्थान में इसलिए किया जाता है कि गृहस्थी या अभ्यासी साधु वहां बैठकर सांसारिक निमित्तों से बचें, चित्त को बुरी वासनाओं से रोक सकें व मन्दिर में निराकुल हो आत्मा

का ही दर्शन सामायिक द्वारा, आध्यात्मिक शास्त्र पठन या मनन द्वारा, ध्यानमय मूर्ति के दर्शन द्वारा किया जा सके। इसी तरह पाषाण या धातु की प्रतिमा का निर्माण ध्यानमय व वैराग्यपूर्ण भाव का स्मरण कराने के लिए किया जाता है। आत्मा का दर्शक अपना शरीर है।

शरीर में आत्मदेव विराजमान हैं जिसको इस बात का पक्का श्रद्धान है कि उसकी धारणा को जगाने के लिए ध्यानमय मूर्ति का दर्शन व उसके सामने गुणानुवाद रूप पूजन निमित्त कारण है। निमित्त उपादान को जगाने में प्रबल कारण होते हैं। रागकारी निमित्त रागभाव व वीतरागी निमित्त वीतराग भाव जागृत कर देते हैं। अध्यात्मी साधक को सदा ही भावों की निर्मलता के लिए निर्मल निमित्त मिलाने चाहिए, बाधक निमित्तों से बचना चाहिए।

तत्त्वानुशासन में कहा है—

संगत्यागः कषायाणां निग्रहो व्रतधारणं।
मनोऽक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यानजन्मने ॥७५॥

भावार्थ—परिग्रह का त्याग, कषायों का निरोध, अहिंसादि व्रतों का धारण, मन व इन्द्रियों का विजय, ये चार बातें ध्यान की उत्पत्ति के लिए सामग्री हैं।

स्वाध्यायाद्ध्यानमध्यास्तां ध्यानात्स्वाध्यायमामनेत्।
ध्यानस्वाध्यायसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥८१॥

भावार्थ—शास्त्र का मनन करते-करते ध्यान में चढ़ जाओ। ध्यान में मन न लगे तो स्वाध्याय में आ जाओ। ध्यान और स्वाध्याय के लाभ के द्वारा परमात्मा का प्रकाश होता है।

शून्यागारे गुहायां वा दिवा वा यदि वा निशि।
स्त्रीपशुक्लीवजीवानां क्षुद्राणामप्यगोचरे ॥९०॥
अन्यत्र वा क्वचिद्देशे प्रशस्ते प्रासुके समे।
चेतनाचेतनाशेषध्यानविघ्नविवर्जिते ॥९१॥
भूतले वा शिलापट्टे सुखासीनः स्थितोऽथवा।
सममृज्वायतं गात्रं निःकंपावयवं दधत् ॥९२॥

नासाग्रन्यस्तनिष्पंदलोचनो मंदमुच्छ्वसन् ।
द्वात्रिंशद्दोषनिर्मुक्तकायोत्सर्गव्यवस्थित: ॥६३॥

प्रत्याहृत्याक्षलुंटाकांस्तदर्थेभ्य: प्रयत्नत: ।
चिंतां चाकृष्य सर्वेभ्यो निरुध्य ध्येयवस्तुनि ॥६४॥

निरस्तनिद्रो निर्भीतिर्निरालस्यो निरन्तरं ।
स्वरूपं पररूपं वा ध्यायेदंतर्विशुद्धये ॥६५॥

भावार्थ—दिन हो या रात, सूने स्थान में, गुफा में, स्त्री, पशु, नपुंसक जीवों के व क्षुद्र जन्तुओं के अगोचर स्थान में या किसी शुभ जीव रहित, समतल स्थान में, जहाँ चेतन व अचेतन सर्व प्रकार के बिघ्नों का नाश हो, भूमि में या शिला पर सुखासन से बैठकर या खड़े होकर सीधा निष्कम्प समतौल रूप शरीर को धारण करके निश्चल बने, नासाग्र दृष्टि मन्द मन्द श्वास लेता हुआ बत्तीस कायोत्सर्ग के दोषों से रहित होकर व प्रयत्न करके इन्द्रिय रूपी लुटेरों को विषयों से रोक कर व चित्त को सब भावों से रोककर ध्येयवस्तु को जोड़कर, निद्रा को जीतता हुआ, भय रहित हो, आलस्य रहित हो निरंतर अपने ही आत्मा के शुद्ध स्वरूप को या पर सिद्धों के स्वरूप को अन्तरंग की शुद्धि के लिये ध्यावे । **समाधिशतक** मे कहा है—

रागद्वेषादिकल्लोलैरलोल यन्मनोजलम् ।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्व स तत्त्व नेतरो जन ॥३५॥

भावार्थ—जिस ध्यानी का अनुराग द्वेषादि की लहरों से चंचल नही होता है वही आत्मा के स्वभाव को अनुभव करता है, रागी, द्वेषी अनुभव नही कर सकता है ।

—: o :—

ज्ञानी ही शरीर मंदिर में परमात्मा को देखता है

तित्थइ देउलि देउ जिणु सव्वु वि कोइ भणेइ ।
देहा-देउलि जो मुणइ सो बुहु को वि हवेइ ॥४५॥

तीर्थ जिनालय देव जिन, यों भाषे सब मूढ़ ।
तन मन्दिर जिन देव जिय, ज्ञानी जाने गूढ़ ॥४५॥

अन्वयार्थ—(**सव्वु वि कोइ भणेइ**) सब कोई कहते हैं (**तित्थइ देउलि देउ जिणु**) कि तीर्थ में या मन्दिर में जिन देव है (**जो देहा-देउलि मुणइ**) जो कोई देह रूपी मन्दिर में जिनदेव को देखता है या मानता है (**सो को वि बुहु हवेइ**) सो कोई ज्ञानी ही देखता है ।

भावार्थ—जगत में व्यवहार को ही सत्य मानने वाले बहुत हैं । सब कोई यही कहते हैं कि घड़े को कुम्हार ने बनाया । घड़ा मिट्टी का बना है, ऐसा कोई नहीं कहता है । असल में घड़े में मिट्टी की ही शकल है, मिट्टी का डेला ही घड़े के रूप में बदला है । कुम्हार के योग व उपयोग मात्र निमित्त हैं इसी तरह तीर्थ स्वरूप जिन प्रतिमाएँ केवल निमित्त हैं, उनके द्वारा अपने शुद्ध आत्मा के सदृश परमात्मा अरहंत या सिद्ध का स्मरण हो जाता है । वास्तव में वे क्षेत्र व प्रतिमा व मन्दिर सब अचेतन जड़ हैं । तौ भी चेतन के स्मरण कराने के लिए प्रबल निमित्त हैं, इसीलिए उनकी भक्ति के द्वारा परमात्मा की भक्ति की जाती है । मिथ्यादृष्टी अज्ञानी विचार नहीं करता है कि असली बात क्या है । वह मन्दिर व मूर्ति को ही देव मान के पूजता है इससे आगे विचार नहीं करता है कि प्रतिमा तो अरहंत व सिद्धपद के ध्यान-मय भाव का चित्र है । उस भाव की स्थापना है । साक्षात् देव वह नहीं है ।

तथा भक्ति करते हुए भी वह भक्त उन्हीं के गुणानुवाद करता है जिनकी वह मूर्ति है । वह कभी भी पाषाण की या धातु की प्रशंसा

नहीं करता है तो भी अन्तरंग में विचार यही करता कि जिसकी स्तुति कर रहा हूँ वह देव कहाँ है ! यह इस रहस्य को नहीं पहुंचता है कि उसी का आत्मा ही स्वभाव से परमात्मा है। तीन शरीरों के भीतर यही साक्षात् देव विराजमान हैं। मैं ही परमात्मा हूँ।- यह ज्ञान यह श्रद्धान व ऐसाही परिणमन विचारे मिथ्यादृष्टी जीव को नहीं होता है।

भावार्थ - सम्यग्दृष्टि सदा ही जानता है व सदा ही अनुभव करता है कि जब मैं अपने भीतर शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से देखता हूँ तो मुझे मेरा आत्मा ही परमात्मा जिनदेव दीखता है। मुझे अपने ही भीतर आपको आप से ही देखना चाहिए। यही आत्मदर्शन निर्वाण का उपाय है। कोई सिंह की मूर्ति को साक्षात् सिंह मान के पूजन करे कि यह सिंह मुझे खा जायगा तो उसको अज्ञानी ही कहा जायगा। ज्ञानी जानता है कि सिंह की मूर्ति सिंह का आकार व उसकी क्रूरता व भयंकरता दिखाने के लिए एक मात्र साधन है, साक्षात् सिंह नहीं है। इससे भय करने की जरूरत नही है। जहाँ साक्षात् सिंह का लाभ नहीं है वहाँ सिंह का स्वरूप दिखाने को सिंह की मूर्ति परम सहायक है। शिष्यों को जो सिंह के आकार से व उसकी भयंकरता से अनभिज्ञ हैं, सिंह की मूर्ति सिंह का ज्ञान कराने के लिए प्रयोजनवान है।

इसी तरह जब तक व जिस समय अपने भीतर परमात्मा का दर्शन न हो तब तक यह जिन मूर्ति परमात्मा का दर्शन कराने के लिए निमित्त कारण है। मूर्ति को मूर्ति मानना, परमात्मा न मानना ही यथार्थ ज्ञान है। व्यवहार के भीतर जो मगन रहते हैं वे मूल तत्व को नही पहचानते है। यहाँ पर आचार्य ने मूलतत्व पर ध्यान दिलाया है कि—हे योगी भीतर देख, निश्चिंत होकर भीतर ध्यान लगा। तुझे राग द्वेष के अभाव होने पर व समभाव की स्थिति प्राप्त होने पर परमात्मा का लाभ होगा। व्यवहार वास्तव में अभूतार्थ व असत्यार्थ है जैसा मूल पदार्थ है वैसा इसे नही कहता है।

व्यवहार में जीव नारकी पशु मनुष्य देव कहलाता है। निश्चय से यह कहना असत्य है। आत्मा न तो नारकी है न पशु है न मनुष्य है

न जैन हैं। शरीर के संयोग से व्यवहारनय के [illegible] भेद कर दिये हैं। जैसे तलवार लोहे की होती है। सोने की म्यान में हो तो सोने की तलवार, चांदी के म्यान में चांदी की तलवार, पीतल की म्यान में पीतल की तलवार कहलाती है। यह कहना सत्य नहीं है। सब तलवारें एक ही हैं। उनमें भेद करने के लिए सोना, चांदी व पीतल की तलवार ऐसा कहना पड़ता है, जो भेदरूप वचन सुन करके भी तलवार को एक रूप ही देखता हैं। सोना, चांदी व पीतल को नहीं देखता हैं। सोना चांदी पीतल की म्यान देखता है वही ज्ञानी है। इसी तरह जो अपने देह मन्दिर में विराजित परमात्मा देव को ही आप देखता है, आपको मानव रूप नहीं देखता है। मानव तो शरीर है आत्मा नहीं है वही ज्ञानी है।

पुरुषार्थसिद्धयुपाय में कहा है—

> निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्।
> भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः ॥५॥
> माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य।
> व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ॥७॥

भावार्थ—निश्चयनय यथार्थ वस्तु को कहता है, व्यवहारनय वस्तु को यथार्थ नहीं कहता है, इसलिए सर्वज्ञदेव निश्चय को भूतार्थ व व्यवहार को अभूतार्थ कहते हैं। बहुधा सर्व ही संसारी इस भूतार्थ निश्चय के ज्ञान से दूर हैं। जिस बालक ने सिंह नहीं जाना है वह बिलाव को ही सिंह जान लेता है, क्योंकि बिलाव दिखाकर उसे सिंह कहा गया था, उसी तरह जो निश्चयतत्व को नहीं जानता है वह व्यवहार ही को निश्चय मान लेता है। वह कभी भी सत्य को नहीं पाता है।

———

धर्म रसायन को पीने से अमर होता है

जइ जर-मरण-करालियउ तो जिय धम्म करेहि ।
धम्म-रसायणु पियहि तुहुं जिम अजरामर होहि ॥४६॥

जन्म मरण रुज से डरे, धर्म महोषधि पीव ।
अविनाशी तन ज्ञानमय, पाय सुखी हो जीव ॥४६॥

अन्वयार्थ—(**जिय**) हे जीव ! (**जइ जरमरणकरालियउ**) यदि जरा व मरण के दुःखों से भयभीत है (**तो धम्म करेहि**) तो धर्म कर (**तुहुं धम्मरसायणु पियहि**) तू धर्म रसायन को पी (**जिम अजरामर होहि**) जिससे तू अजर अमर हो जावे ।

भावार्थ—मनुष्य गति को लक्ष्य में लेकर कहा है कि यहाँ जरा व मरण के भयानक दुःख हैं । जब जरा आ जाती है, शरीर शिथिल हो जाता है अपने शरीर की सेवा स्वयं करने को असमर्थ हो जाता है, इन्द्रियों में शक्ति घट जाती है, आँख की ज्योति कम हो जाती है, कानों की सुनने की शक्ति कम हो जाती है, दाँत गिर जाते हैं, कमर टेढ़ी हो जाती है, हाथ-पाँव हिलने लगते हैं, खाने-पीने में कष्ट पाता है, चलने बैठने में पीड़ा पाता है ।

इच्छानुसार समय पर भोजन पान नहीं मिलता है । अपने कुटुम्बी जन भी आज्ञा उल्लंघन करने लग जाते हैं । शरीर में विषयों के भोग करने की शक्ति घट जाती है, परन्तु भोग की तृष्णा बढ़ जाती है । तब चाह की दाह से जलता है, गमन नहीं कर पाता है, रात दिन मरण की भावना भाता है । जरा महान् दुःखदायी मरण की दूती है, शरीर की दशा क्षणभंगुर है, युवावय थोड़ा काल रहती है फिर यकायक बुढ़ापा आ घेरता है तब एक-एक दिन वर्ष के बराबर बीतता है ।

मरण का दुःख भी भयानक होता है । मरण के पहले महान कष्टदाई रोग हो जाता है तब महान वेदना भोगता है । असमर्थ होकर कुछ भी कह सुन नहीं सकता है । जब तक शरीर का ग्रहण है तब तक

जन्म जरा मरण के भयानक दुःखों को सहना पड़ेगा। मानव जन्म के दुःखों से पशुगति के महान् दुःख हैं जहाँ सबलों के द्वारा निर्बल वध किये जाते हैं। पराधीनपने एकेन्द्रियादि जन्तुओं को महान् शारीरिक पीड़ा सहनी पड़ती है।

आगम के द्वारा नरक के असहनीय कष्ट तो विदित ही हैं। देव गति में मानसिक कष्ट महान् है, ईर्षाभाव बहुत है, देवियों की आयु बहुत अल्प होती है तब देवों को वियोग का घोर कष्ट सहना पड़ता है। विषयभोग करते हुए तृष्णा की दाह बढ़ाकर रात दिन आकुलित रहते हैं, चारों ही गतियों में कर्म का उदय है। इन गतियों के भ्रमण से रहित होने के लिए कर्म क्षय करने की जरूरत है। विवेकी मानव को भले प्रकार निश्चय कर लेना चाहिए कि संसार-सागर भयानक दुःखरूपी खारे पानी से भरा है; उससे पार होना ही उचित है। पंचम-गति मोक्ष प्राप्त करना ही उचित है, अजर-अमर ही उचित है, इस श्रद्धान के होने पर ही मुमुक्षु जीव संसार के क्षय के लिए धर्म का साधन करता है।

धर्म उसे ही कहते हैं जो संसार के दुःखों से उबारकर मोक्ष के परम पद में धारण करे। वह धर्म रत्नत्रय स्वरूप है। रत्नत्रय के भाव से ही नवीन कर्मों का संवर होता है व पुरातन कर्मों की अविपाक निर्जरा होती है। यह रत्नत्रय निश्चय से एक आत्मीक शुद्धभाव है, आत्मतल्लीनता है, स्वसंवेदन है, स्वानुभव है, जहाँ अपने ही आत्मा के शुद्ध स्वभाव का श्रद्धान है, ज्ञान है व उसमें थिरता है। इसको आत्म-दर्शन कहते हैं, यही एक धर्म रसायन है, अमृतरस का पान है, जिसके पीने से स्वाधीनपने परमानन्द का लाभ होता है, कर्म कटते हैं और यह शीघ्र ही कर्म से मुक्त हो, शुद्ध व पवित्र व निर्मल व पूर्ण, निज स्व-भावमय होकर सदा ही वीतरागभाव में मगन रहता है, फिर रागद्वेष मोह के न होने से पाप पुण्य का बंध नहीं होता है, इससे फिर चार गति में से किसी भी गति में नहीं जाता है, सदा के लिए अजर अमर हो जाता है।

शुद्धोपयोग धर्म है। कषाय के उदय सहित शुभोपयोग धर्म नहीं है। अशुभ से बचने के लिए शुभोपयोग करना पड़ता है तथापि उसे बन्ध का कारण मानना चाहिए। मोक्ष का उपाय एक मात्र स्वानुभव रूप शुद्धोपयोग है। कषाय की कणिका मात्र भी बन्ध की कारक है।

बृहत् सामायिक पाठ में कहा है—

पापाऽनोकुहसंकुले भववने दुःखादिभिर्दुर्गमे,
यैरज्ञानवशः कषायविषयैस्त्वं पीडितोऽनेकधा।
रे तान् ज्ञानमुपेत्य पूतमधुना विध्वंसयाऽशेषतो,
विद्वांसो न परित्यजंति समये शत्रूनऽहत्वा स्फुटं ॥६५॥

भावार्थ—यह संसार वन दुःखों से भरा है, उनका पार पाना कठिन है। पाप के वृक्षों से पूर्ण है। यहाँ कषाय विषयों से तू अज्ञानी अनेक प्रकार से पीड़ित किया जा रहा है, अब तू शुद्ध ज्ञान आत्मज्ञान पाकर उन कषाय विषयों को पूर्णपने नाश कर डाल। विद्वान लोग अवसर पाकर शत्रुओं को बिना मारे नहीं छोड़ते है।

श्री पद्मनन्दि धम्मरसायण में कहते हैं—

बुहजणमणोहिरामं जाइजरामरणदुक्खणासयरं।
इहपरलोयहिज (द)त्थं त धम्मरसायणं वोच्छं ॥२॥

भावार्थ—मैं उस धर्म रसायण को बताऊँगा जिसके पीने से ज्ञानी जीवों के मन में आनन्द होगा व जन्म, जरा, मरण के दुःखों का क्षय होगा व इस लोक में और परलोक में दोनों में हित होगा यह जब तक जीवेगा परमानन्द भोगेगा, परलोक में शीघ्र ही सिद्ध होकर सदा सुखी रहेगा।

———

बाहरी क्रिया में धर्म नहीं है

धम्मु ण पढियइँ होइ धम्मु ण पोत्था-पिच्छियइँ ।
धम्मु ण मढिय-पएसि धम्मु ण मत्था-लुंचियइँ ॥४७॥

शास्त्र पढ़े बांचे, बसे, मठ में लुन्चे केश ।
पिछी कमंडल को रखे, ज्ञान न तो वृष लेश ॥४७॥

अन्वयार्थ—(**पढियइँ धम्मु ण होइ**) शास्त्रों के पढ़ने मात्र से धर्म नहीं हो जाता (**पोत्था-पिच्छियइँ धम्मु ण**) पुस्तक व पीछी रखने मात्र से धर्म नहीं होता (**मढिय-पएसि धम्मु ण**) किसी मठ में रहने से धर्म नहीं होता (**मत्था-लुंचियइँ धम्मु ण**) केशलोंच करने से भी धर्म नहीं होता ।

भावार्थ—जिस धर्म से जन्म, जरा, मरण के दुःख मिटें, कर्मों का क्षय हो यह जीव स्वाभाविक दशा को पाकर अजर-अमर हो जावे वह धर्म आत्मा का निज स्वभाव है। जो सर्व परपदार्थों से वैराग्यवान होकर अपने आत्मा के शुद्ध स्वभाव की श्रद्धा व उसका ज्ञान रखकर उसी के ध्यान में एकाग्र होगा वही निश्चय रत्नत्रयमई धर्म को या स्वानुभव को या शुद्धोपयोग की भूमिका को प्राप्त करेगा।

जो कोई उस तत्व को ठीक-ठीक न समझ करके बाहरी क्रिया मात्र व्यवहार को ही करे व माने कि मैं धर्म का साधन कर रहा हूँ उसको समझाने के लिए यहाँ कहा है कि ग्रन्थों के पढ़ने से ही धर्म न होगा। ग्रन्थों का पठन पाठन इसीलिए उपयोगी है कि जगत के पदार्थों का जीव व अजीव तत्व का ठीक-ठीक ज्ञान हो जावे तथा भेदविज्ञान की प्राप्ति से अपने भीतर शुद्ध तत्व की पहचान हो जावे।

इस कार्य के लिए शब्दों का मनन आवश्यक है। यदि शुद्धात्मा का लाभ न करे केवल शास्त्रों का पाठी महान विद्वान व वक्ता होकर धर्मात्मा होने का अभिमान करे तो यह सब मिथ्या है। इसी तरह कोई बहुत पुस्तकों का संग्रह करे या पीछी रखकर साधु या क्षुल्लक

श्रावक हो जावे या केशों का लोंच करे या एकांत मठ में या गुफा में बैठे परन्तु शुद्धात्मा की भावना न करे, बाहरी मुनि या श्रावक के भेष को ही धर्म मान ले तो यह मानना मिथ्या है। शरीर के आश्रय भेष केवल निमित्त हैं, व्यवहार है, धर्म नहीं है।

व्यवहार क्रियाकांड से या चारित्र से रागभाव शुभ भाव होने से पुण्यबंध का हेतु है। परन्तु कर्म की निर्जरा व संवर का हेतु नहीं है। जहाँ तक भावों में शुद्ध परिणमन नही होता है वहाँ तक धर्म का लाभ नही है। मुमुक्षु जीव को यह बात दृढ़ता से श्रद्धान में रखनी चाहिए कि भाव की शुद्धि ही मुनि या श्रावक धर्म है। बाहरी त्याग या वर्तन या अशुभ भावो से व हिंसादि पाँच पापों से बचने के लिए है व मन को चिंता से रहित निराकुल करने के लिए है।

अतएव कितना भी ऊँचा बाहरी चारित्र कोई पाले व कितना भी अधिक शास्त्र का ज्ञान किसी को हो तौ भी वह निश्चय धर्म के विना सार रहित है, चावल रहित तुषमात्र है, पुण्यबंध करा कर ससार भ्रमण बढ़ाने वाला है। जितना अश वीतराग विज्ञानमई भावका लाभ हो उतना ही धर्म हुआ तथा यथार्थ समझना चाहिए। बाहरी मन, वचन, काय की क्रिया से सन्तोष मान के धर्मात्मापने का अहंकार न करना चाहिए। **समयसारकलश** मे कहा है—

एव ज्ञानस्य शुद्धस्य देह एव न विद्यते।
ततो देहमयं ज्ञातुर्न लिङ्गं मोक्षकारणम् ॥४५-१०॥
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा तत्त्वमात्मन ।
एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा ॥४६-१०॥

भावार्थ—शुद्ध ज्ञान आत्मा का है, उसके यह पुद्‌गलमय देह नही है, इसलिए ज्ञाता पुरुष का देह के आश्रय भेष व्यवहार चारित्र मोक्ष का कारण नही है। इसलिए मोक्ष के अर्थी को सदा ही एक स्वरूप मोक्षमार्ग निश्चयरत्नत्रयमई आत्मा का तत्व है।

बृहत् सामयिक पाठ मे कहते हैं—

शूरोऽहं शुभधीरहं पटुरहं सर्वाऽधिकश्रीरहं,
मान्योऽहं गुणवानहं विभुरहं पुसामहमग्रणीः।

इत्याद्यल्पमपहाय दुष्कृतकरीं त्वं सर्वथा कल्पनां,

शश्वद्ध्याय तदात्मतत्त्वममलं नैःश्रेयसी श्रीर्यतः ॥६२॥

भावार्थ—हे आत्मन् ! तू इस पाप बंधकारक कल्पना को छोड़, यह अहंकार न कर कि मैं शूर हूँ, बुद्धिमान हूँ, चतुर हूँ, सर्वसे अधिक लक्ष्मीवान हूँ, माननीय हूँ, गुणवान हूँ, समर्थ हूँ या सर्व मानवों से अग्र हूँ, मुनिराज हूँ, निरन्तर निर्मल आत्मतत्व का ही ध्यान कर इसी से अनुपम मोक्ष लक्ष्मी का लाभ होगा।

रागद्वेष त्याग आत्मस्थ होना धर्म है

राय-रोस बे परिहरिवि जो अप्पाणि वसेइ ।
सो धम्मु वि जिण-उत्तियउ जो पंचम गइ णेइ ॥४८॥

राग द्वेष परिग्रह तजे, करे स्वपर पहिचान ।
जो उपरोक्त क्रिया करे, हो निश्चय निर्वाण ॥४८॥

अन्वयार्थ—(**राय-रोस बे परिहरिवि**) रागद्वेष दोनों को छोड़ कर, वीतराग होकर ((**जो अप्पाणि वसेइ**) जो अपने भीतर आत्मा में वास करता है, आत्मा में विश्राम करता है (**सो धम्मु जिण वि उत्तियउ**) उसी को जिनेन्द्र ने धर्म कहा है (**जो पंचम गइ णेइ**) यही धर्म पंचमगति मोक्ष में ले जाता है।

भावार्थ—धर्म आत्मा का निज स्वभाव है। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य मय आत्मा का यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान तथा उसी में थिरता अर्थात् एक स्वात्मानुभव धर्म है। रागद्वेष की पवनों से जब उपयोग चंचल होता है तब स्वभाव विकारी हो जाता है।

इसलिए यहाँ यह उपदेश है कि रागद्वेष को त्यागकर अपने ही आत्मा के भीतर विश्राम करो, आत्मा में ही मगन रहो, आत्मा के ही उपवन में रमण करो तब वहाँ बंध नाशक, परमानन्द दायक, मोक्ष-कारक धर्म स्वयं मिल जायगा। धर्म अपने ही पास है, कहीं बाहर नहीं

है जहाँ से इसे ग्रहण किया जावे। अतएव पर से उदासीन होकर, वीतराग होकर, समभावी होकर आपकी आत्मा में ही इसे देखना चाहिए।

रागद्वेष के मिटाने का एक उपाय तो यह है कि जगत को व्यवहार दृष्टि से देखना बंद कर निश्चय दृष्टि से जगत को देखना चाहिए तब जीवादि छहों द्रव्य सब अपने-अपने स्वभाव में दीखेंगे, निश्चल दीखेंगे, सर्व ही जीव एक समान शुद्ध दीखेंगे। तब किसी जीव में राग व किसी में द्वेष करने का कारण ही मिट जायगा। व्यवहार दृष्टि में शरीर सहित अशुद्ध आत्माएँ विचित्र प्रकार की दीखती हैं तब मोही जीव जिनसे अपने विषय कषाय पुष्ट होते हैं उनको राग भाव से व जिनसे विषय कषायों के पोषने में बाधा होती है उनको द्वेषभाव से देखता है परन्तु जब आप भी वीतरागी व सर्व पर आत्माएँ भी वीतरागी दीखती हों तब समभाव स्वयं आ जाता है।

पुद्गल की रचना को जब व्यवहार से देखा जावे तब नगर ग्राम, मकान, वस्त्र, आभूषण आदि नाना प्रकार के दीख पड़ेंगे परन्तु जब निश्चयनय से पुद्गल को देखा जावे तो वे सब परमाणुरूप एकाकार दीखेंगे, तब वीतरागी देखने वाले के भीतर रागद्वेष के हेतु नहीं हो सकते। शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि रागद्वेष के विकार मेटने को परम सहायक है। इससे रागद्वेष मेटने का यह उपाय है कि व्यवहार रूप विचित्र जगत को साक्षीभूत होकर ज्ञातादृष्टा होकर देखा जावे।

सर्व ही द्रव्य अपने-अपने स्वभाव में परिणमन करते हैं। अशुद्ध आत्माएँ आठ कर्मों के उदय को भोगते हुए नाना प्रकार सुख या दुःखमय या नाना प्रकार रागद्वेषमय परिणमन करते हैं, कर्मचेतना व कर्मफल-चेतना मे उलझे दीखते है, तब उनको कर्म के उदय के आधीन देखकर रागद्वेष नही करना चाहिए। कर्मों के सयोग से अपनी भी विभाव दशा को देखकर विपाकविचय धर्म ध्यान करना चाहिए व अन्य संसारी जीवों की दशा देखकर वैसा ही कर्म का नाटक विचारना चाहिए। सुख व दुःख अपने में व दूसरों में देखकर हर्ष व विषाद न करना चाहिए। समभाव से कर्म के विचित्र नाटकरूप जगत को देखने का अभ्यास करना चाहिए।

दूसरा उपाय यह है कि सम्यग्दर्शन के प्रताप से विषयभोगों की कांक्षा या उनमें उपादेय बुद्धि मिटा देनी चाहिए। आत्मानन्द का प्रेमी होकर उसी के लिये अपने स्वरूप की भावना में लगे रहना चाहिये। कर्म के उदय से सुख दुःख आ जाने पर समभाव से या हेय बुद्धि से, अनासक्ति से भोग लेना चाहिये। सम्यग्ज्ञान ही रागद्वेष के विकार के मिटाने का उपाय है।

रागद्वेष कषाय के उदय से होते हैं, तब सत्ता में बंध प्राप्त कषाय की वर्गणाओं का अनुभाग सुखाने के लिये निरन्तर आत्मानुभव का व वैराग्यभाव का मनन करते रहना चाहिये तब उदय मन्द होता जायगा, रागद्वेष की कालिमा घट ही जायगी। इस तरह ज्ञानी को उचित है कि जिस तरह हो वीतराग होने का व समभाव पाने का उपाय करना चाहिये। तत्त्वसार में देवसेनाचार्य कहते हैं—

रायादिया विभावा बहिरंतरदुहवियप्प मुत्तूणं।
एयग्गमणो झायहि णिरञ्जणं णिययअप्पाणं ॥१८॥

भावार्थ—रागादिक विभावों को व बाहरी व भीतरी दोनों प्रकार के विकल्पों को त्यागकर एकाग्र मन हो, कर्ममल रहित निरंजन अपने ही आत्मा को ध्यावे।

आत्मानुशासन में कहा है—

मुहुः प्रसार्य्य सज्ज्ञानं पश्यन् भावान् यथास्थितान्।
प्रीत्यप्रीती निराकृत्य ध्यायेदध्यात्मविन्मुनिः ॥१७७॥
मोहबीजाद्रतिद्वेषौ बीजान् मूलांकुराविव।
तस्माज् ज्ञानाग्निना दाह्यं तदेतौ निर्दिधिक्षुणा ॥१८२॥

भावार्थ—सम्यग्ज्ञान का बार-बार विचारकर, पदार्थों को जैसे वे हैं वैसा ही उनको देखकर प्रीति व अप्रीति मिटाकर आत्मज्ञानी मुनि आत्मा को ध्यावै। जैसे बीज से मूल व अंकुर होते हैं वैसे मोह के बीज से रागद्वेष होते हैं। इसलिये जो रागद्वेष को जलाना चाहे उसे ज्ञान की अग्नि से इस मोह को जलाना चाहिए।

आशा तृष्णा ही संसार-भ्रमण का कारण है

आउ गलइ णवि मणु गलइ णवि आसा हु गलेइ ।
मोहु फुरइ णवि अप्प-हिउ इम संसार भमेइ ॥४९॥

आयु गले मन न गले, इच्छाशा न गलन्त ॥
तृष्णा मोह सदा बढ़े, या से भव भटकन्त ॥४९॥

अन्वयार्थ—(**आउ गलइ**) आयु गलती जाती है (**मणु णवि गलइ**) परन्तु मन नहीं गलता है (**आसा णवि गलेइ**) और न आशा तृष्णा ही गलती है (**मोहु फुरइ**) मोहभाव फैलता रहता है (**अप्पहिउ णवि**) किन्तु अपने आत्मा का हित करने का भाव नहीं होता है (**इम संसार भमेइ**) इस तरह यह जीव संसार में भ्रमण किया करता है।

भावार्थ—यहाँ आचार्य ने संसार-भ्रमण का कारण बताया है। वह मानव शरीर आयुकर्म के आधीन रहता है। जब से यह जीव इस मनुष्य गति में आता है तब से पूर्व बाँधा मनुष्य-आयुकर्म समय-समय झड़ता जाता है। सो जब सब झड़ जाता है तब जीव को मानव देह छोड़ना पडता है।

चारों गतियों में मानव गति बहुत उपयोगी है क्योंकि निर्वाण के योग्य संयम, तप, ध्यानादि इसी मानवगति से ही हो सकते हैं तो भी अज्ञानी मोही जीव आत्मा का भला नहीं करता है। यह प्राणी रात दिन शरीर के मोह में फंसा रहता है। सांसारिक सुख की चिन्ता में मन विचार करता रहता है। मैंने ऐसे ऐसे भोग भोगे थे, ऐसा भोग भोग रहा हूँ, ऐसे भोग भोगने है, इन्द्रियों के विषयों को इकट्ठा करने की, रक्षा करने की चिंता मन में सदा रहती है। इष्ट विषयों के वियोग से शोक होता है। जो स्त्री, पुत्र, मित्र हैं, विषयों के भोग हैं, सहायक है उनके बने रहने की व अपनी आज्ञा में चलाने की भावना भाता है। जो कोई विषयों के भोग के बाधक हैं उनके बिगाड़ने की मन में चिन्ता रहती है। रात दिन मन इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग,

पीड़ा, निदानजनित आर्त ध्यान में या हिंसानन्दी, मृषानन्दी, चौर्यानन्दी, परिग्रहानन्दी रौद्रध्यान में मगन रहता है।

मन को थिर करके मोही यह विचार नहीं करता है कि मेरा सच्चा हित क्या है। आशा तृष्णा का रोग विषयों के भोग करते रहने पर भी दिन पर दिन बढ़ता जाता है। बहुत से प्राणियों के पाप के उदय से इच्छित भोगों का लाभ नहीं होता है। इससे तृष्णा कभी नहीं मिटती। जिनको पुण्य के उदय से इच्छित भोगों का लाभ व भोग हो जाता है उनके भीतर कुछ देर सन्तोष मालूम होता है। शीघ्र ही चाह की मात्रा और अधिक हो जाती है।

चक्रवर्ती के समान संपदाधारी मानव भी नित्य इच्छित भोग भोगते हुए भी कभी सन्तोषी व तृप्त नहीं होता। जैसे-जैसे शरीर पुराना पड़ता जाता है वैसे वैसे तृष्णा बढ़ती जाती है। संसार का मोह सदा बना रहता है। परलोक में सुन्दर भोग मिलें, स्वर्ग में जाऊँ, मनोज्ञ देवियों के साथ कल्लोल करूँ ऐसी तृष्णा को धर के मोही मानव दान, पूजा, जप, तप, साधु का या श्रावक का चारित्र पालता है। मिथ्यात्व के विष को न त्यागता हुआ संसार का प्रेमी जीव मरकर पुण्य के उदय से देव, मानव पाप के उदय से तिर्यंच या नारकी हो जाता है। वहाँ फिर तृष्णा का प्रेरा हुआ राग, द्वेष, मोह करता है। आयु पूरी कर नवीन आयु बाँधी थी, उसके अनुसार फिर दूसरी गति को चला जाता है।

इस तरह अज्ञान व तृष्णा के कारण यह अनादि से चार गति-रूप संसार में भ्रमण करता आया है व जब तक आत्महित को नहीं पहचानेगा, जब तक सम्यग्दर्शन का लाभ नहीं करेगा, तब तक भ्रमण ही करता रहेगा। इसलिये बुद्धिमान मानव को अपने आत्मा के ऊपर करुणाभाव लाकर उसको जन्म, जरा, मरणादि दुःखों से बचाने के लिये धर्म का शरण धारण करना चाहिये। धर्म ही उद्धार करने वाला है, परम सुख को देने वाला है। स्वयंभूस्तोत्र में कहा है—

तृष्णार्चिषः परिदहन्ति न शान्तिरासा-
मिष्टेन्द्रियार्थविभवैःपरिवृद्धिरेव।

स्थित्यैव कायपरितापहरं निमित्त-

मित्यात्मवान्विषयसौख्यपराङ्मुखोऽभूत् ॥८२॥

भावार्थ—तृष्णा की ज्वालाएं जलती रहती हैं, इच्छित इंद्रियों के भोगों के भोगने पर भी उनकी शांति नहीं होती है, किंतु ज्वालाएं बढ़ती हैं। कुछ शरीर का ताप भोगने से उस समय मिटता है, परन्तु शीघ्र ही बढ़ जाता है। यों समझकर आत्मज्ञानी स्वामी कुन्थुनाथ भगवान् इंद्रियों के विषय सुख से विरक्त हो गये।

आत्मानुशासन में कहा है—

शरीरमपि पुष्णन्ति सेवन्ते विषयानपि।

नास्त्यहो दुष्करं नृणां विषाद्वाञ्छति जीवितम् ॥१९६॥

भावार्थ—मनुष्य सदा ही शरीर को पोषते हैं व विषय भोगों को भोगते रहते है। इससे बढ़कर और खोटा कृत्य क्या होगा। वे विष पीकर जीवन चाहते हैं। भव भव में कष्ट पाएंगे।

——*——

आत्मप्रेमी ही निर्वाण का पात्र है

जेहउ मणु विसयहं रमइ तिमु जइ अप्प मुणेइ।

जोइउ भणइ हो जोइयहु लहु णिव्वाणु लहेइ ॥५०॥

ज्यों मन विषयों में रमे, त्यों हो आत्म लीन।

क्षण में शिव सम्पत्ति वरे, क्यों भ्रम भवे नवीन ॥५०॥

अन्वयार्थ—**(जोइउ भणइ)** योगी महात्मा कहते हैं **(हो जइयहु)** हे योगीजनो! **(मणु जेहउ विसयहं रमइ)** मन जैसा विषयों में रमण करता है। **(जइ तिसु अप्प मुणेइ)** यदि वैसा यह मन आत्मा के ज्ञान में रमण करे तो **(लहु णिव्वाणु लहेइ)** शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त कर ले।

भावार्थ—योगीन्द्राचार्य योगीगणों को कहते हैं कि मन को गाढ भाव से अपने आत्मा के भीतर रमाना चाहिए। तब वीतरागता के प्रकाश से शीघ्र ही निर्वाण का लाभ होगा। आत्मवीर्य के प्रयोग

से ही हरएक काम का पुरुषार्थ होता है। अज्ञानी जीव पाँचों इन्द्रियों के विषयों के भीतर जिस आसक्ति से रमण करता है वैसी आसक्ति ज्ञानी जीव अपने आत्मा के रमण में करता है, विषयों के रमण से मन को बिल्कुल फेर लेता है।

स्पर्शनेन्द्रिय के वशीभूत हो हाथी उन्मत्त हो जाता है, पकड़ा जाता है, तो भी विषय की आसक्ति को नहीं छोड़ता है। रसनाइन्द्रिय के वश हो एक मत्स्य जाल में पकड़ लिया जाता है। घ्राणइन्द्रिय के वश हो एक भ्रमर कमल में बन्द होकर प्राण दे देता है। चक्षुइन्द्रिय के वशीभूत होकर पतंग दीपक की ज्योति में भस्म हो जाता है। कर्ण-इन्द्रिय के वश हो मृग जंगल में पकड़ लिया जाता है। जैसी आसक्ति इन जीवों को इन्द्रियों के भोगों में होती है वैसी आसक्ति ज्ञानी को आत्मा के रमण में रखनी चाहिए। दिन रात आत्मा का ही स्मरण करना चाहिए। आत्मा का ही स्वाद लेना चाहिए। विषय कषाय का स्वाद नहीं लेना चाहिए।

आत्मा के रस में ऐसा रसिक हो जाना चाहिये कि मान अपमान, लाभ अलाभ, काँच कंचन, स्त्री पुरुष, जीवन मरण, दुःख सुख में समान भाव रखना चाहिए। जैसे धतूरा खाने वाला हर स्थान में पीत रंग देखता है वैसे आत्म प्रेमी हर स्थान में आत्मा को ही देखता है। शुद्ध निश्चयनय से उसे जैसे अपना आत्मा परमात्मारूप शुद्ध दीखता है वैसे हर एक आत्मा परमात्मारूप शुद्ध दीखता है। उसकी तीक्ष्ण दृष्टि से भेद ज्ञान के प्रयत्न से पुद्गलादि पांच द्रव्यों का दर्शन छिप जाता है, केवल आत्मा ही लोक भर में दिखता है तब यह लोक एक शुद्ध आत्मीक सागर बन जाता है। उसी आत्म सागर का वह आत्मज्ञानी एक महामत्स्य हो जाता है। उसी आत्मसागर में वास करता है, उसी में कल्लोल करता है, उसी आत्मीक जल का पान करता है, उसी के आनन्द में मगन रहता है।

ज्ञानी जीव ऐसा आत्मरसिक हो जाता है कि तीन लोक की विषय सम्पदा इसको जीर्ण तृण के समान दीखती है। यही कारण है जो बड़े-बड़े सम्राट् राज्यविभूति व स्त्री पुत्रादि सब कुटुम्ब का त्याग

कर परिग्रह के संयोग से रहित हो, एकाकी वन में निवास करते हैं, और निर्मोही हो, बड़े प्रेम व उत्साह से आत्मीक रस के स्वाद में तन्मय हो जाते हैं, विषयों की तरफ से परम उदासीन हो जाते हैं। मन को सर्व ओर से रोक कर आत्मा के रस में ऐसा मगन कर देते हैं कि वह मन उसी तरह लोप हो जाता है जैसे पानी में डूब कर लवण की डली लोप हो जाती है, मन मर जाता है, केवल आत्मा ही आत्मा रह जाता है। ऐसा आत्मस्थ योग परिषहों के पडने पर भी विचलित नही होता है। शीघ्र ही क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो कर क्षपक श्रेणी पर चढ़ कर घातीय कर्मों का एक अन्तर्मुहुर्त में क्षय करके केवल ज्ञानी हो जाता है। उसी शरीर से शरीर रहित होकर सिद्ध पद का लाभ कर लेता है।

इष्टोपदेश में पूज्यपाद महाराज कहते है—

अविद्याभिर्दुरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत्
तत्प्रष्टव्य तदेष्टव्य तद्दृष्टव्यं मुमुक्षुभि ॥४६॥
सयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतसः।
आत्मानमात्मवान्ध्यायेदात्मनैवात्मनि स्थितं ॥२२॥
परीषहाद्यविज्ञानादास्रबस्य निरोधिनी।
जायतेऽध्यात्मयोगेन कर्मणामाशु निर्जरा ॥२४॥

भावार्थ – अज्ञान से रहित श्रेष्ठ ज्ञानमई महल ज्योति भीतर प्रकाशमान है। मोक्ष के अर्थी को उचित है कि उसी आत्म-ज्योति के संबन्ध में प्रयत्न करे, उसी की चाह करे व उसी का दर्शन करे। पांच इन्द्रियों के ग्रामों को सयम मे लाकर चित्त को एकाग्र कर आत्म ज्ञानी को उचित है कि वह आत्मा मे ही स्थित होकर आत्मा ही के द्वारा अपने आत्मा का ध्यान करे। जब अभ्यास करते-करते आत्मीक योग इतना बढ़ जाय कि क्षुधा तृषा, दशमशकादि परीषहों की तरफ लक्ष्य ही न रहे तब आस्रव का निरोध होकर शीघ्र ही कर्मों की निर्जरा होने लगती है और वह योगी कर्म रहित परम पुरुष हो जाता है।

शरीर को नाटक घर जानो

जेहउ जज्जरु णरय घरु तेहउ बुज्झि शरीरु ।

अप्पा भावहि णिम्मलउ लहु पावहि भवतीरु ॥५१॥

मलघट सम अतिमलिन, तन निर्मल आत्म हंस ।

कर ऐसा श्रद्धान तू, नशे कर्म को वंश ॥५१॥

अन्वयार्थ—(**जेहउ णरय-घरु जज्जरु**) जैसा नरक का वास आपत्तिओं से जर्जरित है-पूर्ण है (**तेहउ सरीरु बुज्झि**) तैसे ही शरीर के वास को समझ (**णिम्मलउ अप्पा भावहि**) निर्मल आत्मा की भावना कर (**लहु भवतीरु पावहि**) शीघ्र ही संसार से पार हो ।

भावार्थ—शरीर को नरक की उपमा दी है । जैसे नरक में सर्व अवस्था खराब व ग्लानिकारक होती है, मूत्र दुर्गंध मय, पानी खारी, हवा अंगछेदक, वृक्ष तलवार की धार के समान, वन विकराल, नारकी परस्पर दुःखदाई । नरक वास में क्षण मात्र भी साता नहीं । भूख प्यास की बाधा मिटती नहीं आकुलता का प्रवाह सदा बहुता है। नरक का वास किसी भी तरह सुखकारी नहीं है । नारकी हर समय नरक वास से निकलना चाहते हैं परन्तु वे असमर्थ हैं। कर्माधीनपने नरकवास मे आयु पर्यंत रहना पड़ता है, छेदन, मारन, पीड़न सहना पड़ता है ।

मानव का यह शरीर भी नरक के बराबर है। भीतर मांस, चरबी, खून, हड्डी, वीर्य, मलमूत्र से भरा है, अनेक कीड़े बिलबिला रहे हैं । शरीर के ऊपर से त्वचा को हटा दिया जावे तो स्वयं को ही इस शरीर से घृणा हो जावे, मक्खियों से व मांसाहारी जन्तुओं से यह वेष्ठित हो जावे । इस शरीर के भीतर से नवद्वारों के द्वारा मल ही निकलता है । करोड़ों रोम के छेदों से भी मल ही निकलता है । करोड़ों रोगों का स्थान है निरंतर भूख-प्यास से पीड़ित रहता है । भोजन-पानी मिलते हुये भी भूख-प्यास का रोग शमन नहीं होता है । शरीर ऐसा गन्दा व अशुचि है कि सुन्दर व पवित्र पुष्पमाला, वस्त्राभूषण, जलादि

शरीर की संगति पाते ही अशुचि हो जाते हैं। शरीर में पांच इन्द्रियां होती हैं उनको अपने-अपने विषय भोगने की भी बड़ी भारी तृष्णा होती है।

तृष्णा के अनुसार भोग मिलते नहीं। यदि मिलते हैं तो बराबर बने नहीं रहते हैं। उनके वियोग होने पर कष्ट होता है व नए-नए विषयों की चाहना पैदा होती रहती है। तृष्णा की ज्वाला बढ़ती ही रहती है। उसकी दाह से यह प्राणी निरन्तर कष्ट पाता है। कुटुम्बीजन व स्वार्थी मित्रगण सब अपना अपना ही मतलब साधना चाहते हैं। मतलब के बिना माता-पिता, भाई, पुत्र, पुत्री, बहन, भानजे आदि कुटुम्बीजनों का स्नेह नहीं होता है। सब एक दूसरे से सुख पाने की आशा रखते हैं। विषयों के भोग में परस्पर सहायता चाहते हैं। यदि उनका स्वार्थ सिद्ध नही होता है तो वे ही बाधक व घातक हो जाते हैं।

शरीर में बालकपन पराधीनपने बड़े ही कष्ट से बीतता है। युवापन में घोर तृष्णा को मिटाने के लिये धर्म की भी परवाह न करके उद्यम किया करता है। वृद्धावस्था में असमर्थ होकर घोर शारीरिक व मानसिक वेदना सहता है। इष्टवियोग व अनिष्ट संयोग के घोर कष्ट सहने पड़ते हैं। रात-दिन चिन्ताओं की चिता में जला करता है। नारकी के समान यह मानव इस शरीर में सदा क्षोभित व दुखी रहता है।

नरक में विषय भोग की सामग्री नही है। मानव गति में विषयों की सामग्री मिल जाती है। उनके भोग के क्षणिक सुख के लोभ में यह अज्ञानी मानव नरक के समान इस शरीर में रहना पसन्द करता है तथा ऐसा उद्यम नहीं करता है जो फिर यह शरीर ही प्राप्त न हो। परोपकारी आचार्य शिक्षा देते हैं कि इस नरकवास के समान शरीर निवास में मोह करना मूर्खता है।

इस नरदेह से ऐसा साधन हो सकता है जो फिर कहीं भी देह का धारण न हो। निर्वाणरूपी पद का लाभ जिस संयम व ध्यान से होता है वह संयम व ध्यान नर देह ही में हो सकता है। नारकी जीव

संयम का पालन नहीं कर सकते। इसलिये उचित है कि इस शरीर का मोह त्यागा जावे।

इस शरीर को चाकर की भाँति योग्य भोजन पान देकर अपने काम में सहायता होने योग्य बनाये रखना चाहिये और इसके द्वारा धर्म का साधन करना चाहिये। निज आत्मा को पहचानना चाहिये। उसके मूल स्वभाव का श्रद्धान करके उसीका निरंतर मनन करना चाहिये, तब यह कुछ ही काल में उसी भव में या कई भवों में मुक्त हो जायगा, शरीर रहित शुद्ध हो जाएगा। फिर कभी शरीर का संयोग नही होगा। **स्वयंभू स्तोत्र** में कहा है—

अजङ्गमं जंगमनेययन्त्रं यथा तथा जीवधृतं शरीरम्।
बीभत्सु पूति क्षयि तापकं च स्नेहो वृथात्रेति हितं त्वमाख्यः ॥२॥

भावार्थ—हे सुपार्श्वनाथ स्वामी! आपने यह हितकारी शिक्षा दी है कि यह शरीर जीव का चलाया चलता है, जैसे एक थिर यंत्र किसी मानव के द्वारा चलाने से चलता है। यह घृणा का स्थान भय-प्रद है, अशुचि है, नाशवन्त है, दुःखों के ताप को देखने वाला है। इस शरीर से स्नेह करना निरर्थक है, स्वयं आपत्तियों का सामना करना है। **आत्मानुशासन** में कहा है—

अस्थिस्थूलतुलाकलापघटितं नद्धं शिरास्नायुभि-
श्चर्मच्छादितमस्रसान्द्रपिशितैर्लिप्तं सुगुप्तं खलै।
कर्मारातिभिरायुरुच्चनिगलालग्नं शरीरालयं
कारागारमवेहि ते हतमते प्रीतिं वृथा मा कृथाः ॥५६॥

भावार्थ—हे मूर्ख! यह तेरा शरीर रूपी घर दुष्ट कर्म-शत्रुओं से बनाया हुआ एक कैदखाना है, इन्द्रियों के मोटे पिंजरों से गढ़ा गया है, नसों के जाल से बेढ़ा है, रुधिर व मांस से लिप्त है, चर्म से ढका हुआ गुप्त है, आयु-कर्म की बेड़ी से तू जकड़ा पड़ा है। ऐसे शरीर को कारागार जान वृथा ही प्रीति करके पराधीनता के कष्ट न उठा—इससे निकलने का यत्न कर।

———

जगत के धन्धों में उलझा प्राणी आत्मा को नहीं पहचानता

धंधइ पडियउ सयल जगि णवि अप्पा हु मुणंति ।
तहि कारणि ए जीव फुडु ण हु णिव्वाणु लहंति ॥५२॥

व्यवहारक धंधे फंसे, बहुधा जग के जीव ।
आत्महित की सुधि नहीं, यासे भ्रमत सदीव ॥५२॥

अन्वयार्थ—(**सयल जगि धंधइ पडियउ**) सब जग के प्राणी अपने अपने धन्धों मे, कार व्यवहार मे फंसे हुए हैं, तल्लीन हैं (**अप्पा हु णवि मुणंति**) इसलिए निश्चय से आत्मा को नही मानते हैं (**तहि कारणि ए जीव णिव्वाणु ण हु लहंति फुडु**) यही कारण है जिससे ये जीव निर्वाण को नही पाते ।

भावार्थ—सकल संसार, शरीर में प्राप्त इन्द्रियों के विषयों के तथा भूख-प्यास, रोग के शमन के आधीन होकर दिन-रात वर्तन किया करता है । अपने अपने शरीर की रक्षा के धन्धे में सब मगन हो रहे है । एकेन्द्रिय से चार इन्द्रिय प्राणी तक मन रहित होते है तो भी दिन रात आहार की खोज में रहते हैं, दूसरों से भयभीत रहते हैं, मैथुनभाव में वर्तते हैं, परिग्रह या मूर्छा अपने शरीर से रहती है । चार संज्ञायें आहार, भय, मैथुन, परिग्रह सर्व प्राणियों में पाई जाती हैं ।

मन रहित पंचेन्द्रिय के हित अहित के विचार करने की शक्ति नहीं है । इन्द्रियो की तृष्णा के प्रेरे हुये वे निरंतर वर्तते रहते हैं । मन सहित पंचेन्द्रियोंके भीतर आत्मा व अनात्माके विवेक होने की शक्ति है 'परन्तु ये सैनी प्राणी भी सासारिक धन्धों में इतने फंसे रहते हैं कि मैं कौन हूँ, मेरा क्या कर्तव्य है इस प्रश्न पर ध्यान ही नहीं देते हैं ।

नारकीय जीवों का यही धन्धा है कि मार खाना व दूसरों को मारना । वे परस्पर पीडा देने में ही लगे रहते हैं । देवगति वाले राग-भाव में ऐसे फंसे रहते हैं कि उन्हें नाच, गाना, बजाना, देवी के साथ

रमण, इन रागवर्द्धक धन्धों में फंसे रहने के कारण विचार का अव-काश नहीं मिलता है। पंचेन्द्रिय सैनी तिर्यंच भी असैनी की समान चार संज्ञाओं के भीतर लगे रहते हैं। पेट की ज्वाला शान्त करने का उद्यम किया करते हैं। मनुष्यों की दशा प्रत्यक्ष प्रगट है। वे असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प या विद्याकर्म, सेवाकर्म पशुपालन आदि अनेक धन्धों में लगकर अपने व अपने कुटुम्ब के लिये पैसा कमाते हैं। भोजन पान का प्रबन्ध करते है। स्त्री के साथ रमण करके सन्तानों को जन्म देते हैं फिर उनके पालन में, उनके पढ़ाने में, उनके विवाहों में, उनके रोगादि निवारण में लगे रहते हैं।

मान कषाय की तीव्रता से मनुष्यों को अपनी नामवरी करने की तीव्र चाह होती है। इसलिये धनादि को सग्रह करके नाना प्रकार के व्यवहार से अपना यश फैलाना चाहते हैं। मानवों में पाँचों इंद्रियों के भोग की तृष्णा बहुत प्रबल होती है। उनकी तृप्ति के लिये नित्य नये नये भोग चाहते है। उनके लिये अनेक कपट करके भी धन संग्रह करते हैं। धन की व परिग्रह की रक्षा में चिन्तित रहते हैं। स्त्री के सम्बन्ध होने से कुटुम्ब के सम्बन्ध बहुत बढ जाते हैं। सम्बन्धियों के जीवन मरण मे व विवाहादि कार्यों में लगे रहते हैं। इतने अधिक कार्यों की चिन्ता मनुष्यों को रहती है कि एक दिन के चौबीस घण्टे पूरे नही पडते हैं। दिन रात ोह के जाल में फँसे हुये व्याकुल रहते हैं। कभी भी मन को शान्त करके मैं कौन हूँ इस बात पर गम्भीरता से नहीं विचार करते हैं।

कोई परोपकारी गुरु आत्मा के हित की बात सुनाना चाहते है तो उनकी तरफ ध्यान नहीं देता है। त्याग की व वैराग्य की बात कटु भासती है। अर्थ व काम पुरुषार्थ में व इन्हीं के लिये पुण्य के लोभ से व्यवहार धर्म के करने में इतना तन्मय रहता है कि निश्चय धर्म की तरफ विचारने का एक मिनट के लिए अवकाश नही पाता है। इस तरह प्रायः सारा ही संसार बोखला होकर कर्मों को बाँध कर चारों गतियों में भ्रमण किया करता है। संसार से पार होने का उपाय जो **आत्मदर्शन** है उसका लाभ कभी नहीं कर पाता है।

आत्मानुशासन में कहा है—

बाल्ये वेत्ति न किञ्चिदप्यपरिपूर्णाङ्गो हितं वाहितं।
कामान्धः खलु कामिनीद्रुमघने भ्राम्यन्वने यौवने।
मध्ये वृद्धतृषार्ज्जितुं वसुपशुः क्लिश्नासि कृष्यादिभि—
र्वृद्धो वार्द्धमृतः क्व जन्मफलिते धर्मो भवेन्निर्मलः ॥८९॥

भावार्थ—बालवय में अंग ही पूरे नहीं बनते तब अज्ञानी होकर अपने हित व अहित का विचार नही कर सकता है। युवानी में काम से अन्धा होकर स्त्रीरूपी वृक्षों से भरे वन में भटकता रहता है। मध्य-काल में तृष्णा की वृद्धि करके अज्ञानी प्राणी खेती आदि धन्धों से धन को कमाने में कष्ट पाया करता है। इतने में बुढ़ापा आ जाता है तब अधमरा हो जाता है। भला हम मानव जन्म को सफल करने के लिये निर्मल धर्म को कहाँ करे? मानव अपना अमूल्य जीवन विषयोंके पीछे गमा देता है। आत्महित नही करके भव भ्रमण में ही दुःख उठाता है।

—:०:—

शास्त्रपाठ आत्मज्ञान बिना निष्फल है

सत्थ पढंतह ते वि जड अप्पा जे ण मुणंति।
तहिं कारणि ए जीव फुडु ण हु णिव्वाणु लहंति ॥५३॥

यद्यपि शास्त्र पढ़े कुधी, तदपि मूढ़ शिरताज।
चेत हिताहित का नहीं, लहे न शिवपुरराज ॥५३॥

अन्वयार्थ—(सत्थ पढंतह जे अप्पा ण मुणंति ते वि जड) शास्त्र को पढ़ते हुए जो आत्मा को नहीं पहचानते हैं वे भी अज्ञानी हैं (तहिं कारणि ए जीव फुडु ण हु णिव्वाणु लहंति) यही कारण है कि ऐसे शास्त्रपाठी जीव भी निर्वाण को नहीं पाते हैं, यह बात स्पष्ट है।

भावार्थ—कितने ही विद्वान या स्वाध्याय करने वाले व्याकरण, न्याय, काव्य, वैद्यक, ज्योतिष, धर्मशास्त्र आदि अनेक विषय के शास्त्र जानते हैं, परन्तु शुद्ध निश्चयनय के विषय पर लक्ष्य नहीं देते, अध्या-

स्वज्ञान से बाहर रहते हैं। आत्मा ही निश्चय से परमात्मा देव है ऐसा अनुभव उनको नहीं होता है अतएव वे भी जड़ ही के समान आत्मज्ञान रहित हैं। मोक्षमार्ग को पाकर निर्वाण का लाभ भी कर सकते हैं। जिनवाणी पढ़ने का फल निश्चय सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करने का प्रयास है। इसी के लिये चारों अनुयोगों के ग्रंथों को पढ़कर शास्त्रीय विषय को जानकर मुख्यता से यह जानना चाहिये कि यह जगत जीवादि छः द्रव्यों का समुदाय है। हरएक द्रव्य नित्य है तो भी पर्याय की पलटन की अपेक्षा अनित्य है।

जगत भी नित्य अनित्य स्वरूप अनादि अनंत हैं। इन छः द्रव्यों में से धर्म, अधर्म, आकाश, काल, सदा ही शुद्ध उदासीन व निश्चल रहते हैं। शुद्ध आत्माएँ भी निश्चल व उदासीन रहती हैं। संसारी आत्माएँ कर्म पुद्गलों से संयोग रखती हुई अशुद्ध हैं। कर्मों के उदय से ही औदारिक, वैक्रियिक आदि शरीर बनते हैं। यह जीव स्वयं ही मन, वचन या काय के वर्तन से कर्मों को ग्रहण करके कषायों के अनुसार बाँधता है।

आप ही अपनी राग द्वेष मोह की परिणति के निमित्त से एक तरफ बँधता रहता है, दूसरी तरफ कर्मों का फल भोगकर निर्जरा करता रहता है, इस तरह परम पुण्य के फल को भोगता हुआ संसार में जन्म, जरा, मरण, इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग के घोर कष्ट पाता है। इस कष्ट के छूटने का उपाय रत्नत्रय धर्म की प्राप्ति है जिससे संवर हो, नवीन कर्मों का आना रुके व पुरातन बँधे कर्मों की अविपाक निर्जरा हो। समय के पहले ही बिना फल दिये झड़ जावें जिससे यह आत्मा कर्म के संयोग से बिलकुल छूटकर मुक्त हो जावे। इस तरह व्यवहारनय से विस्तार रूप जीवादि सात तत्त्वों को भले प्रकार बुद्धि में निर्णय करके उनका स्वरूप श्रद्धा में लावे व यह मान कर दृढ़ करे कि मुझे शुद्ध होना है। फिर यह समझे कि निश्चय से या द्रव्यदृष्टि से यह मेरा आत्मा शुद्ध है, जल और दूध के समान कर्मों से एकमेक हो रहा है, तथापि जल दूध दोनों जैसे-जैसे भिन्न हैं वैसे आत्मा भी सर्व कर्मों से, शरीरों से व रागादि विभावों से भिन्न है।

भेद विज्ञान की कला को प्राप्त करके निश्चय सम्यग्दर्शन के लाभ के लिये नित्य भेदविज्ञान का मनन करे। एकान्त में बैठकर जगत को व अपने को द्रव्य दृष्टि से देखकर छहों द्रव्यों को अलग अलग शुद्ध देखे, वीतरागता बढ़ाने का उद्यम करे, समभाव लाने का उपाय करे, निरन्तर अध्यात्म का ही मनन करे। बहुत अभ्यास से यह जीव करण-लब्धि को पाकर अनन्तानुबन्धी चार कषाय व मिथ्यात्वादि तीन दर्शन मोहनीय को उपशम करके सम्यग्दृष्टी हो सकेगा। तब भीतर से आत्म का साक्षात्कार हो जायगा। आत्मानन्द का अनुभव होगा, तब ही मोक्ष मार्ग का पता चलेगा। सर्व शास्त्रों के पढ़ने का हेतु सम्यग्दर्शन का लाभ है। यदि इसे नहीं पाया तो, शास्त्रों का पढ़ना कार्यकारी नहीं होगा।

अनेक जीव व्यवहार शास्त्र मे कुशल होकर विद्या का मद करके उन्मत्त हो जाते हैं, कषाय की मलीनता को बढ़ा लेते हैं। ख्याति, पूजा या लाभ के प्रेमी होकर साँसारिक विषय कषाय की पुष्टि के लिए ही ज्ञान का उपयोग करते हैं, वे कभी आध्यात्मिक ग्रन्थों को नही पढ़ते है, न कभी वे आत्मा के शुद्ध स्वरूप का मनन करते हैं। उनके भीतर संसार का मोह कम हो की अपेक्षा अधिक होता जाता है। वे आत्म-ज्ञान के प्रकाश को न पाकर अज्ञान के अन्धकार में ही जीवन बिता-कर मानव जन्म का फल नहीं पाते है। शास्त्रो का ज्ञान उनके लिए संसारवर्द्धक हो जाता है, निर्वाण के मार्ग से उनको दूर ले जाता है।

इसलिये श्री योगीन्द्राचार्य उपदेश करते हैं कि शास्त्रो के पठन-पाठन द्वारा अपने आत्मा के शुद्ध स्वभाव की रुचि प्राप्त करो। शुद्धा-त्मानुभव मोक्षमार्ग है। उसका लाभ करो, जिससे इस जीवन में भी सच्चा सुख मिले व आगामी मोक्ष का मार्ग तय होता जावे व निर्वाण का लाभ हो सके। **सारसमुच्चय** में कहा है—

एतज्ज्ञानफलं नाम यच्चारित्रोद्यमः सदा।
क्रियते पापनिर्मुक्तैः साधुसेवापरायणैः ॥११॥
सर्वद्वन्द्वं परित्यज्य निभृतेनान्तरात्मना।
ज्ञानामृतं सदा पेयं चित्ताह्लादनमुत्तमम् ॥१२॥

भावार्थ शास्त्रों के ज्ञान का यही फल है जो पापों से बचकर व साधुओं की सेवा करके चारित्र पालने का सदा उद्यम करे। अंतरात्मा या सम्यग्दृष्टी आत्मज्ञानी होकर सर्व रागादि विकल्पों को छोड़कर निश्चिन्त होकर परमानन्दकारी आत्मज्ञान रूपी अमृत का पान सदा किया जावे।

इन्द्रिय व मनके निरोध से सहज ही आत्मानुभव होता है

मणु-इंदिहि वि छोडियइ बहु पुच्छियइ ण कोइ।
रायहँ पसरु णिवारियइ सहज उपज्जइ सोइ ॥५४॥

इन्द्रिय से मन भिन्न कर, मत बहु पूछे और।
रागादिक फैलाव तज, आप लाभ हो दौर ॥५४॥

अन्वयार्थ—(**बहु मणु इंदिहि वि छोडियइ**) यदि बुद्धिमान् मन व इन्द्रियों से छुटकारा पा जावे (**कोइ ण पुच्छियइ**) तब किसी से कुछ पूछने की जरूरत नहीं है (**रायहँ पसरु णिवारियइ**) जब राग का फैलाना दूर कर दिया जाता है (**सहज सोइ उपज्जइ**) तब वह आत्मज्ञान सहज ही पैदा हो जाता है।

भावार्थ—शास्त्रों के रहस्य के ज्ञाता को जो व्यवहार निश्चयनय से या द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय से छः द्रव्यों के स्वरूप को भले प्रकार जानता हो व जिसको अपने आत्मा में रमण करने की गाढ़ रुचि पैदा हो गई हो व जो कर्ममल से आत्मा को छुड़ाना चाहता हो, आत्माधीन निश्चय चारित्र के लाभ के लिए उपयोग को मन व इन्द्रिय से रोकना चाहिये।

इन्द्रियों के विषयों की चाह मिटानी चाहिए तथा इन्द्रियों के द्वारा स्पर्श करने, रस लेने, सूंघने, देखने व सुनने की बुद्धि पूर्वक क्रिया बंद करनी चाहिए। विषयभोग क्षणिक तृप्तकारी है व आगामी तृष्णा

के बाधक है, ऐसा जानकर सर्व इन्द्रियों के भोगों से पूर्ण विरक्त रहना चाहिये। अबुद्धि पूर्वक यदि वस्तु-स्वभाव से इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान में पदार्थ आ जावे तो वीतराग भाव से जान करके छोड़ देना चाहिये। उनका स्वागत नहीं करना चाहिए। ध्यान के समय तो उपयोग को इन्द्रियों के विषयों से दृढ़ता पूर्वक हटाना चाहिये।

मन को भी थिर करने की जरूरत है। मन द्वारा पिछले भोगों का स्वरूप व आत्मा की कांक्षा हो सकती है। वैराग्य द्वारा उसके इस संकल्प विकल्प को या चितवन को रोके। आत्मज्ञान में रमण का उपाय यह है कि पहले व्यवहार नय से बारह भावनाओं को चिंतवन करके मन को शांत करे, फिर निश्चयनय के द्वारा जगत के द्रव्यों को मूल स्वभाव में पृथक-पृथक देखे। समभाव लाने का प्रकाश करे, फिर अपने ही आत्मा के स्वरूप की शुद्ध भावना भावे।

भावना करते करते एक दम से मन का उपयोग आत्मरूप हो जायगा व आत्मा में रमण प्राप्त हो जायगा। अल्पज्ञानी छद्मस्थ का उपयोग अंतर्मुहूर्त के भीतर कुछ ही देर स्थिर रहेगा, फिर निश्चयनय के द्वारा आत्मा की भावना में आ जाना चाहिए। अपने आत्मज्ञान में रमण के लिये दूसरों से पूछताछ करने की जरूरत नही है। स्वयं पुरुषार्थी होकर राग के प्रसार को मिटाने की जरूरत है। तत्वज्ञानी छः द्रव्यों को मूल स्वभाव में देखकर वैरागी हो जाता है। वास्तव में जिसको अनुभव करना है वह आप ही है। जिसने अपने आत्मा के स्वरूप का भले प्रकार निश्चय सहित ज्ञान प्राप्त कर लिया है उसके भीतर आत्मा का दर्शन या अनुभव रागद्वेष के मिटते ही सहज में हो जाता है।

जैसे सरोवर का निर्मल पानी जब पवन के द्वारा डांवाडोल होता है तब उसमे अपना मुख नहीं दीखता है परंतु जब तरंग रहित निश्चल होता है तब अपना मुख दिख जाता है। इसी तरह राग-द्वेष की चंचलता मिटते ही अपना आत्मा आपको स्वयं दिख जाता है, आत्मा का अनुभव हो जाता है। उपयोग की चंचलता बाधक है। जब

उपयोग को वैराग्य की रज्जू से बांधकर स्थिर किया जाता है तब सहज ही आत्मा का प्रकाश हो जाता है।

समाधिशतक में कहा है—

यदा मोहात्प्रजायेते रागद्वेषौ तपस्विनः।
तदैव भावयेत्स्वस्थमात्मानं शाम्यतः क्षणात् ॥३९॥
यत्र काये मुनिः प्रेम ततः प्रच्याव्य देहिनम्।
बुद्ध्या तदुत्तमे काये योजयेत्प्रेम नश्यति ॥४०॥

भावार्थ—जब तपस्वी के मन में राग द्वेष उठ आवे तब वह शांत भाव से क्षणभर के लिए अपने आत्मा में स्थिर होकर आत्मा के शुद्ध स्वभाव की ही भावना करे। जिस शरीर में मुनि का राग हो जावे उस शरीर से अपने आत्मा के भाव को हटाकर अपने आत्मा के उत्तम ज्ञानमय शरीर में उस भाव को जोड़ देवे, तब राग का क्षय हो जायगा।

——※——

पुद्गल व जगत के व्यवहार से आत्मा को भिन्न जाने

पुग्गलु अण्णु जि अण्णु जिउ अण्णु वि सहु ववहारु।
चयहि वि पुग्गलु गहहि जिउ लहु पावहि भवपारु ॥५५॥

जीव अन्य तन अन्य है, अन्य सकल व्यवहार।
तज पर पुद्गल जीव ग्रहु, तो पावे भव पार ॥५५॥

अन्वयार्थ—(पुग्गलु अण्णु जि) पुद्गल मूर्तीक का स्वभाव जीव से अन्य है (जिउ अण्णु) जीव का स्वभाव पुद्गलादि से न्यारा है (सहु ववहारु अण्णु वि) तथा और सब जगत का व्यवहार प्रपंच भी अपने आत्मा से न्यारा है (पुग्गलु चयहि वि जिउ गहहि) पुद्गलादि को त्यागकर यदि अपने आत्मा को निराला ग्रहण करे (लहु भवपारु पावहि) तो शीघ्र ही संसार से पार हो जावे।

भावार्थ—संसार से पार होने का उपाय एक अपने ही आत्मा का सर्व परद्रव्यों से तथा परभावों से भिन्न ग्रहण करके उसी का अनुभव करना है। ज्ञानी यह विचारता है कि हरएक द्रव्य की सत्ता भिन्न भिन्न रहती है। मूल में एक द्रव्य दूसरे से मिलकर एक रूप नहीं होता, न एक द्रव्य के खण्ड हो करके दो या अनेक द्रव्य बनते हैं। सर्व ही द्रव्य अपने अनन्तगुणों को व पर्यायों को लिये हुए बने रहते हैं तब मेरे आत्मा का द्रव्य प्रगटपने अन्य सर्व संसारी तथा सिद्ध आत्माओं से भिन्न है।

अन्य आत्माओं का ज्ञान, सुख, वीर्य, चारित्र भिन्न है। मेरे आत्मा का ज्ञान, सुख, वीर्य, चारित्र भिन्न है। निश्चय से सर्व आत्मायें सदृश हैं, गुणों में समान है तथापि सत्ता सर्व की निराली है। अनुभव सबका अपना अपना है। तथा यह मेरा आत्मा सर्व जगत के अणु व स्कंधरूप पुद्गलों से निराला है। पुद्गल मूर्तीक अचेतन है, मैं अमूर्तीक चेतन हूँ। इसी तरह यह मेरा आत्मा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश व असख्यात कालाणुओं से भिन्न है क्योंकि ये चारों ही द्रव्य अमूर्तीक अचेतन हैं।

मेरे साथ जिनका अनादि से सम्बन्ध चला आ रहा है ऐसे तैजस व कार्मण शरीर मेरे से भिन्न हैं, क्योंकि वे पुद्गलमय तैजस और कार्मण वर्गणाओं से बने हैं। उनका स्वरूप अचेतन है, मेरा स्वरूप चेतन है। मैंने औदारिक व वैक्रियिक शरीर चारों गतियों में बार बार धारण किये हैं व छोडे हैं ये भी पुद्गलमय आहारक वर्गणाओ से रचित अचेतन हैं। मेरे से भाषाका निकलना भाषा वर्गणाओं के उपादान कारण से होता है व मन का बनना मनोवर्गणाओं के उपादान रण से होता है ये सब पुद्गलमय अचेतन हैं। कर्म के उदय से जो मेरे भीतर क्रोध, मान, माया, लोभ भाव होते हैं व अज्ञानभाव हैं या वीर्य की कमी है सो सब आवरण का दोष है।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय इन चार घातीय कर्मों के उदय से मेरे में विकार झलकता है। जैसे कीच के मिलने से जल में विकार दीखे। निश्चय से जैसे कींच से जल अलग है वैसे मैं

आत्मा सर्व रागादि विकारों से अलग परमज्ञानी व परम वीतरागी हूँ। मेरा एक स्वाभाविक भाव जीवत्व है या शुद्ध सम्यग्दर्शन, शुद्ध चारित्र, शुद्ध ज्ञान, शुद्ध दर्शन, शुद्ध दान, शुद्ध लाभ, शुद्ध भोग, शुद्ध उपभोग, शुद्ध वीर्य है। उपशम सम्यक्त व उपशम चारित्र, मति-ज्ञानादि चार ज्ञान व तीन अज्ञान, चक्षु आदि तीन दर्शन, क्षयोपशम दानादि पाँच लब्धि, क्षयोपशम सम्यक्त, क्षयोपशम चारित्र, देश संयम ये सब बीस प्रकार के औपशमिक व क्षायोपशमिक भाव मेरे शुद्ध स्वभाव से जुदे हैं। मैं तो एक अखण्ड व अभेद शुद्ध गुणों का धारी द्रव्य हूँ। कर्मबन्ध की रचना को लेकर मेरे में आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा व मोक्ष तत्वों का तथा पुण्य व पाप का व्यवहार है।

मेरा शुद्ध स्वभाव इन पाँच तत्व व सात पदार्थों के व्यवहार से निराला है। नर नारक देव तिर्यँच गति के भीतर कर्मों के उदयवश नाना प्रकार के बनने वाले भेष व उनमें नाना प्रकार की अशुद्ध काय की या वचन की या मन की संकल्प विकल्प रूप क्रियाएँ सब मेरे शुद्ध आत्मीक परिणमन से भिन्न हैं। जगत का सर्व व्यवहार मन, वचन, काय तीन योगों से या शुभ अशुभ उपयोगों से चलता है, मेरे शुद्ध उप-योग में व निश्चल आत्मीक प्रदेशों में इनका कोई संयोग नहीं है इसलिये मै इन सबसे जुदा हूँ। न मेरा कोई मित्र है, न कोई शत्रु है, न मेरा कोई स्वामी है, न मैं किसी का स्वामी हूँ, न मैं किसी का सेवक हूँ, न कोई मेरा सेवक है, न मैं किसी का ध्यान करता हूँ, न किसी का पूजन करता हूँ, न किसी को दान देता हूँ। मैं ध्यान, पूजा, दानादि कर्म से निराला हूँ।

अशुद्ध निश्चयनय से कहे जाने वाले रागादि भावों से अनुप-चरित असद्भूत व्यवहार से कहे जाने वाले कार्मणादि शरीरों के सम्बन्ध से उपचरित असद्भूत व्यवहार से कहे जाने वाले स्त्री पुत्रादि चेतन व धन गृहादि अचेतन पदार्थों से मैं भिन्न हूँ सद्भूत व्यवहार नय से कहे जाने वाले गुण गुणी के भेदों से भी मैं दूर हूँ।

मैं सर्व व्यवहार की रचना से निराला एक परम शुद्ध आत्मा हूँ। ज्ञायक एक प्रकाशमान परम निराकुल परम वीतरागी अखण्ड

द्रव्य हूँ, मेरे में बंध व मोक्ष की भी कल्पना नहीं है। सदा ही तीन काल में एक अबाधित नित्य परम निर्मल चेतन द्रव्य हूँ। इस तरह मनन करके जो अपने आत्मा रूपी रत्न को ग्रहण करके उसी के स्वामीपने में सन्तोषी हो जाता है, समयसारकलश में कहा है—

नीत्वा सम्यक् प्रलयमखिलान्कर्तृभोक्तादिभावान्,
दूरीभूतः प्रतिपदमयं बन्धमोक्षप्रक्लृप्तेः ।
शुद्धः शुद्धस्वरसविरसापूर्णपुण्याचलार्चि—
ष्टङ्कोत्कीर्णप्रकटमहिमा स्फूर्जति ज्ञानपुञ्जः ॥१-१०॥

भावार्थ—ज्ञान का समूह यह आत्मा अपनी स्थिर प्रकाशमान प्रतिमा को धरता हुआ सदा उदय रहता है। यह परम शुद्ध है, शुद्ध आत्मीक रस से पूर्ण व पवित्र व निश्चल तेज का धारी है। कर्ता भोक्ता आदि के भावों को पूर्णतने अपने भीतर से दूर किये हुये है। यह अपनी हर एक परिणति में एकाकार है, बंध तथा मोक्ष की कल्पना से दूर है। समयसार में कहा है—

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धमेवप्पयं लहदि जीवो ।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहदि ॥१७६॥

भावार्थ – जो जीव शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है वह स्वयं शुद्धात्मा हो जाता है व जो अपने को अशुद्ध जानता है, वह अशुद्ध आत्मारूप ही रहता है।

आत्मानुभवी ही संसार से मुक्त होता है

जे णवि मण्णहिं जीव फुडु जे णवि जीव मुणंति ।
ते जिण-णाहहँ उत्तिया णउ संसार मुचंति ॥५६॥

जो ना जाने जीव क्या, जो न कहे है जीव ।
रजत स्फटिक अग्नि सब, उदाहरण जिय ईव ॥५६॥

अन्वयार्थ – (**जे फुडु जीव णवि मण्णहिं**) जो स्पष्ट रूप से अपने आत्मा को नही जानते हैं (**जे जीव णवि मुणंति**) व जो अपने आत्मा

का अनुभव नहीं करते हैं (ते संसार जब मुचंति) वे संसार से मुक्त नहीं होते (जिण भासहुं जोइया) ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

भावार्थ—श्री जिनेन्द्र भगवान ने दिव्य वाणी से यही उपदेश किया है कि अपने आत्मा का श्रद्धान, ज्ञान तथा ध्यान अर्थात् निश्चय रत्नत्रय स्वरूप स्वात्मानुभव ही वह मसाला है जिसके प्रयोग से वीत-रागता की आग भड़कती है, जो कर्म ईंधन को जलाती है।

बिना आत्मीक ध्यान के कोई कभी कर्मों से मुक्त नहीं हो सकता है। पर पदार्थ में मोह बन्ध का मार्ग है तब पर से वैराग्य व परसे भिन्न आत्मीक तत्व में संलग्नता मोक्ष का मार्ग है। तत्वज्ञानी को इसी-लिए सर्व विषयकषायों से पूर्ण वैराग्यवान होना चाहिए। इन्द्रियों के द्वारा पदार्थों को जान करके समभाव चाहिए, रागद्वेष नहीं करना चाहिए।

उनके भीतर रागभाव से रंजायमान होना व द्वेषभाव से हानि करना उचित नहीं है। विषयभोग विष के समान हानिकारक व अंध-कार वर्द्धक हैं। ऐसा दृढ़ विश्वास असंयत सम्यक्ती को भी होता है। यद्यपि वह अप्रत्याख्यानादि कषायों के उदय से व अपने आत्मवीर्य की कमी से पाँचों इन्द्रियों के भोग करता है तथापि भावना यही रहती है कि कब वह समय आवे जब मैं केवल आत्मीक रस का ही वेदन करूँ। ज्ञान चेतनारूप ही वर्तूं, कर्मफल-चेतना व कर्मचेतनारूप न वर्तूं।

त्यागने योग्य बुद्धि से वह उनमें आसक्त नहीं होता है। जितनी-जितनी कषाय की मन्दता होती जाती है, विषय विकार की कलुषता मिटती जाती है। देश संयमी श्रावक होकर विषयभोग से बहुत निर्लिप्त हो जाता है जब प्रत्याख्यान कषाय का उदय नहीं रहता है। तब संयमी होकर पूर्ण विरक्त हो जाता है। परिग्रह के प्रपंच से हटकर निज आत्मा के स्वाद का इतना प्रेमी हो जाता है कि एक अन्तर्मुहूर्त से अधिक आत्मीक रमण से विमुख नहीं रहता है। निरन्तर आत्मीक मनन में लगा रहता है।

वास्तवमें आत्मानुभव ही मोक्षमार्ग है। सम्यक्ती बाहरी चारित्र को भेष को, वर्तन को मोक्षमार्ग नहीं मानता है, एकही निश्चय आत्मा

के अनुभव को मोक्षमार्ग जानता है। अनुभव के समय वृत्ति आत्मामय हो जाती है तब बहुत कर्मों की निर्जरा होती है। मोहनीय कर्म की शक्ति घटती है, अधिक बल बढ़ता है। आत्मानुभव ही धर्मध्यान है, आत्मानुभव ही शुक्लध्यान है, इसी के प्रताप से चारों घातीयकर्म क्षय हो जाते हैं तब आत्मा परमात्मा हो जाता है। अपने आत्मा को द्रव्यरूप परके संयोग रहित परम वीतराग, परमानन्दमय, परमज्ञानी, परम-दर्शी, अमूर्तीक, अविनाशी, निर्विकार, निरंजन, अनन्तबली, परम-निश्चय, एकाकी, परम शुद्ध, परमात्मा रूप, निरंतर देखना चाहिए। जगत की आत्माओं को भी द्रव्यदृष्टि से ऐसा ही देखना चाहिए। तब समभाव का प्रकाश होगा।

भावना के समय शुद्ध निश्चयनय से आपको व पर आत्माओं को सबको परम शुद्ध रूप मनन करना चाहिए, फिर अपने में ही एकाग्र होकर आत्मीक रस का पान करना चाहिए। रातदिन आत्मीक रस का रसीला हो जाना चाहिए। निज आत्मा में ही रहना ज्ञानी का घर है। आत्मा की शिला ही ज्ञानी का आसन है, निज आत्मीक तत्व ही ज्ञानी का वस्त्र है, निजात्मीक रस ही ज्ञानी का भोजनपान है। निजा-त्मीक शय्या ही ज्ञानी की शय्या है। जिस ज्ञानी को सर्व कर्मजनित पद अपद भासते हैं वही ज्ञानी निज पद का प्रेमी हकर निज स्वभाव में रमण करता हुआ मोक्ष मार्ग को तय करता है व एक दिन परमात्मा हो जाता है। वास्तव में यह अनुभव कि मैं बंध मोक्ष की रचना से रहित स्वयं पद में वीर्यवान परम निर्मल हूँ, स्वयं आत्मा को आत्मा-मय दर्शाता हूँ। बध से विराग ही बंध के क्षय का कारण है।

आत्मानुशासन में कहा है—

समधिगतसमस्ताः सर्वसावद्यदूराः,
स्वहितनिहितचित्ताः शान्तसर्वप्रचाराः।
स्वपरसफलजल्पाः सर्वसंकल्पमुक्ताः,
कथमिह न विमुक्तेर्भाजनं ते विमुक्ताः ॥२२६॥

भावार्थ—जो सर्व द्रव्यों को जानते हैं, सर्व पापों से दूर हैं, आत्मा के हित में चित्त के धारी हैं, पवित्र शांतभाव के प्रचारक हैं,

स्वपर हितकारी वाणी के कहने वाले हैं, सर्व संकल्प से रहित हैं, ऐसे महात्मा विरक्त जन क्यों न मोक्ष के पात्र होंगे ?

आत्मा के ज्ञान के लिए नौ दृष्टान्त हैं

रयण दीउ दिणयर दहिउ दुद्धु घीव पाहाणु ।
सुण्णउ रूउ फलिहउ अगिणि णव दिट्ठंता जाणु ॥५७॥

रत्न दीप रवि दूध घृत, पत्थर अरु हेम ।
रजत स्फटिक अग्नि नव, उदाहरण जिय एम ॥५७॥

अन्वय सुगम है। अर्थ—१. रत्न, २. दीप, ३. सूर्य, ४ दही-दूध-घी, ५. पाषाण, ६ सुवर्ण, ७. चांदी, ८. स्फटिकमणि, ९. आग, इन नौ दृष्टान्तों से जीव को जानना चाहिये ।

भावार्थ—इनका विस्तार जैसा समझ में आया किया जाता है। आत्मतत्व अपने शरीर में व्यापक है, आप ही है, प्रगट ही है। तथापि समझने के लिए नौ दृष्टान्तों का कथन है—

(१) **रत्न**—आत्मा रत्न के समान जगत में एक अमूल्य द्रव्य है, परम धन है, आत्मज्ञानी रत्न का स्वामी सम्यग्दृष्टी जौहरी है, जो पहचानता है कि आत्मा परम शुद्ध है, अभेद है, सदा ही ज्ञानज्योति से प्रकाशमान है, अविनाशी है, स्वयं सम्यग्दर्शन रत्नमय सम्यग्ज्ञान रत्न मय व सम्यक्चारित्र रत्नमय, रत्नत्रय स्वरूप है, एक अनुपम रत्न है ।

(२) **दीप**—आत्मा दीपक के समान स्वपर प्रकाशमान है। एक ही काल में यह आत्मा अपने को भी जानता है व सर्व द्रव्यों को व उनके गुण व पर्यायों को जानता है तौ भी पर ज्ञेयों से भिन्न है। यह आत्मा अनुपम दीपक कभी नहीं बुझने वाला है। इस आत्मा दीपकको किसी तेल की जरूरत नहीं है, न कोई पवन इसे बुझा सकता है। यह दीपक सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों को एक साथ झलकाने वाला है।

(३) **सूर्य**—आत्मा सूर्य के समान प्रकाशवान व प्रतापवान है।

सर्व लोकालोक का ज्ञाता दृष्टा है व परम वीर्यवान है व परम शांत है। इसलिये यह एक अनुपम सूर्य है कभी छिपता नहीं है। किसी मेघ या राहु से ग्रसित नहीं होता है। स्वयं परमानन्दमय है। जो इस आत्मा सूर्य को देखता है उसको भी आनन्ददाता है। यह सदा निरावरण है, एक नियमित स्वक्षेत्र में या असंख्यातप्रदेशी होकर किसी देह में या देह के आकार होते हुये भी लोकालोक का प्रकाशक है।

(४) **दूध, दही, घी**—के समान यह आत्मा है। आत्मा के दूध सदृश शुद्ध स्वभाव के मनन करने से आत्मा की भावना दृढ़ होती है। आत्मा की भावना की जागृति ही दही का बनना है। फिर जैसे दही के बिलोने से घी सहित मक्खन निकलता है वैसे आत्मा की भावना करते करते आत्मानुभव होता है, जो परमानन्द देता हुआ आत्मा को घी के समान दीखता है। आप ही दूध, आप ही दही है, आप ही घी है। मुमुक्षु को निज आत्मारूपी गोरस का ही निरन्तर पान करना चाहिये। परम वीर्यबान व सन्तोषी रहना चाहिये।

(५) **पाषाण**—आत्मा पत्थर के समान दृढ़ व अमिट है। अपने भीतर अनंत गुणों को रखता है। उनको कभी कम नहीं करता है। न किसी अन्य गुण को स्थान देता है। अगुरुलघु सामान्य गुण के द्वारा यह अपनी मर्यादा में बना रहता है। आठ कर्मों के संयोग से संसार-पर्याय में रहता है तौ भी कभी अपने स्वभाव को त्याग कर आत्मा से अनात्मा नहीं होता है। निश्चल परम दृढ़ सदा रहता है।

(६) **सुवर्ण**—आत्मा शुद्ध सुवर्ण या कुन्दन के समान परम प्रकाशमान ज्ञान धातु से निर्मित अमूर्तीक एक अद्भुत मूर्ति है। संसारी आत्मा खान से निकले हुए धातु-पाषाण सुवर्ण की तरह अनादि से कर्मरूपी कालिमा से मलीन है। अग्नि आदि के प्रयोग से जैसे सोने की वस्तु पाषाण से अलग करके शुद्ध कुन्दन कर लिया जाता है वैसे ही आत्मध्यान की आग से आत्मा को कर्मों की कालिमा से शुद्ध सिद्ध समान कर लिया जाता है।

(७) **चाँदी**—आत्मा शुद्ध चाँदीके समान परम निर्मल है। कर्मों

के साथ एक क्षेत्रावगाह रूप संयोग होने पर भी कभी अपने शुद्ध स्वभाव को त्यागता नहीं है। इस आत्मा में ज्ञान का परम प्रकाश है। वीतरागता की सफेदी है या स्वच्छता है। जो ज्ञानी आत्मारूपी चांदी का सदा व्यवहार करता है, आत्मा के ही भीतर रमण करता है वह कभी परमानन्दरूपी धन से शून्य नहीं होते हैं।

(८) **स्फटिकमणि**—यह आत्मा स्फटिकमणि के समान निर्मल है व परिणमनशील है। कर्मों के उदय का निमित्त न होने पर यह सदा अपने शुद्ध आत्मीक गुणों में ही परिणमन करता है। संसार अवस्था में कर्मों के उदय के निमित्त होने पर यह स्वयं रागद्वेष, मोहरूप व नाना प्रकार के विभावरूप परिणमन करता है। जैसे - स्फटिकमणि लाल, पीले, नीले वस्तु के सम्पर्क से लाल, पीला, नीला रंग रूप परिणमन कर जाता है तो भी निर्मलता को खो नहीं बैठता है, केवल ढक देता है, इसी तरह आत्मा सराग दशा में रागद्वेषरूप, परिणमता हुआ भी वीतरागता का लोप नही कर देता है, केवल ढक देता है, निमित्त न आने पर यह सदा स्फटिक के समान शुद्ध वीतरागभाव में ही झलकता है।

(९) **अग्नि**—यह आत्मा अग्नि के समान सदा जलता रहता है। किन्हीं भी विषयों को व पर के आक्रमण को नहीं होने देता है। जब यह संसार पर्याय में होता है तब यह स्वयं ही अपने आत्मीक ध्यान की अग्नि जलाकर अपने कर्ममल को भस्म करके शुद्ध हो जाता है। यह आत्मा अनुपम अग्नि है जो कर्म इंधन की दाहक है, आत्मीक बल की पोषक है व सदा ज्ञान के द्वारा स्वपर प्रकाशक है। इन नौ दृष्टांतों से आत्मा को समझकर पूर्ण विश्वास करना चाहिए।

समयसार में कहा है—

जह फलियमणि विसुद्धो ण सयं परिणमदि रागमादीहिं।
राइज्जदि अण्णेहि दु सो रत्तादियेहिं दव्वेहिं ॥३००
एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमदि रागमादीहिं।
राइज्जदि अण्णेहि दु सो रागादीहिं दोसेहिं ॥३०१॥

भावार्थ—जैसे स्फटिकमणि शुद्ध है, स्वयं लाल पीली आदि नहीं होती है, परन्तु जब लाल पीले आदि द्रव्योंका संयोग होता है तब वह लाल पीली आदि हो जाती है। इसी तरह ज्ञान स्वरूपी आत्मा स्वयं कभी रागादि भावों में परिणमन नहीं करता है। यदि मोहनीय कर्म की रागादि प्रकृतियों का उदय होता है तब ही रागादि रूप परिणमता है। यह स्फटिक के समान स्वच्छ परिणमनशील है।

देहादिरूप मैं नहीं हूं, यही ज्ञान मोक्षका बीज है

देहादिउ जो परु मुणइ जेहउ सुण्णु अयासु।
सो लहु पावई बंभु परु केवलु करइ पयासु ॥५८॥

देह आत्मा भिन्न इम, ज्यों सुवर्ण आकाश।
पावे केवल ज्ञान जिय, तब निज करे प्रकाश ॥५८॥

अन्वयार्थ—**(जेहउ अयासु सुण्णु)** जैसे आकाश पर पदार्थों के साथ सम्बन्ध रहित है, असंग अकेला है **(देहादिउ जो परु मुणइ)** वैसे ही शरीरादि को जो अपने आत्मा से पर जानता है **(सो परु बंभु लहु पावई)** वही परम ब्रह्म स्वरूप का अनुभव करता है **(केवलु पयासु करई)** व केवल ज्ञान का प्रकाश करता है।

भावार्थ—जैसे आकाश के भीतर एक ही क्षेत्र में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, असंख्यात कालाणु, अनंत जीव, अनन्तानंत पुद्गल द्रव्य रहते हैं तथापि उनकी परिणति में आकाश में कोई विकार या दोष नही होता है—आकाश उनसे बिलकुल शून्य, निर्लेप, निर्विकार बना रहता है, कभी भी उनके साथ तन्मय नहीं होता है।

आकाश की सत्ता अलग व आकाश में रहे हुए चेतन अचेतन पदार्थों की सत्ता अलग रहती हे वैसे ही ज्ञानी को समझना चाहिये कि आत्मा आकाश के समान अमूर्तीक है, आत्मा के सर्व असंख्यात प्रदेश

अमूर्तीक हूँ। मेरी आत्मा के आधार में रहने वाले तैजस शरीर, कार्मण शरीर, औदारिक शरीर व शरीर के आश्रित इन्द्रियां, मन व वचन तथा उनके परिणमन सब मेरे आत्मा से भिन्न हैं।

बंधको प्राप्त कर्मों के उदय से होने वाले तीव्र कषाय या मंदकषाय के सर्व ही अशुभ व शुभ भाव मेरे आत्मा के शुद्ध स्वभाव से भिन्न हैं। मेरा कोई संबंध मन, वचन, काय की क्रियाओं से नहीं है। मैं बिलकुल पर के मोह से शून्य हूँ। मैं परम वीतरागी व निर्मल हूँ। जगत में मेरे आत्मा के न कोई माता-पिता है, न कोई पुत्र है, न मित्र है, न कोई स्त्री है, न भगिनी है, न पुत्री है, न कोई मेरे आत्मा का स्वामी है, न कोई सेवक है, न मेरा ग्राम है, न धाम है, न कोई वस्त्र है, न आभूषण है।

मेरा कोई सम्बन्ध किसी भी पर वस्तु से रंचमात्र भी नहीं है। मेरे में सब पर का अभाव है, सब पर में मेरा अभाव है, विश्व की अनन्त सांसारिक सिद्ध आत्माएँ अपने मूल स्वभाव में मेरे स्वभाव के बराबर हैं तथापि मेरी सत्ता निराली उनकी सत्ता निराली। मेरे ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त, चारित्र, चेतना आदि गुण निराले, मेरा परिणमन निराला। इन सर्व आत्माओं का परिणमन निराला। मैं अनादिकाल से एकाकी ही रहा व अनंतकाल तक एकाकी ही रहूँगा।

अनादि संसार-भ्रमण में मेरे साथ अनंत पुद्‌गलों का संयोग हुआ परन्तु वे सब मुझसे दूर ही रहे, वे कर्म नोकर्म पुद्‌गल मेरे किसी भी गुण या स्वभाव का सर्वथा अभाव नही कर सके। आवरण कर्मों के होने पर भी मैं उसी तरह निरावरण रहा। जैसे सूर्य के ऊपर मेघ आने पर भी सूर्य अपने तेज में प्रकाशमान रहता है। संसार अवस्था में मैंने अनेकों मात-पिता भाई पुत्र मित्र से सम्बन्ध पाये, परन्तु वे सब निराले ही रहें, मैं उनसे निराला ही रहा। चारों गतियों में बहुत से शरीर धारे व बहुत सी पर पदार्थों की संगति पाई, परन्तु वे मेरे नहीं हुये, मैं उनका नहीं हुआ। अतएव मुझे यही पक्का श्रद्धान रखना चाहिये कि मैं सदा ही रागादि विकारों से शून्य रहा व अब भी हूँ व आगामी भी रहूँगा।

मुझे सर्व मन के विकारों को बंद करके व सर्व जगत के पदार्थों से विरक्त होकर अपने उपयोग को अपने ही भीतर सूक्ष्मता से ले जाना चाहिए तब मुझे यही दिख जायगा कि मैं ही परब्रह्म परमात्मा हूं, यही आत्मदर्शन, यही आत्मानुभव केवलज्ञान का प्रकाशक है।

परमात्मप्रकाश में कहा है—

> मुत्तिविहूणउ णाणमउ, परमाणंद सहाउ।
> णियमे जोइये अप्पु मुणि णिच्चु णिरंजण भाउ ॥१४३॥

भावार्थ—हे योगी ! निश्चय से तू आत्मा को अमूर्तीक, ज्ञानमय, परमानंद स्वभावधारी, नित्य, निरंजन पदार्थ जान।

तत्वानुशासन में कहा है—

> सद्द्रव्यमस्मि चिदहं ज्ञाता द्रष्टा सदाप्युदासीनः।
> स्वोपात्तदेहमात्रस्ततः पृथग्गगनवदमूर्तः ॥१५३॥

भावार्थ—मैं अपनी सत्ता को रखने वाला एक निराला द्रव्य हूँ, स्वानुभव रूप हूँ, ज्ञाता व दृष्टा हूँ, सदा ही वीतराग हूँ, अपने शरीर में व्यापक हूँ तौ भी शरीर से भिन्न, आकाश के समान अमूर्तीक हूँ।

——:०:——

आकाश के समान होकर भी मैं सचेतन हूं

> **जेहउ सुद्ध अयासु जिय तेहउ अप्पा वुत्तु।**
> **आयासु वि जडु जाणि जिय अप्पा चेयणु वंतु ॥५६॥**
>
> **यथा व्योम निर्लेप शुचि, त्यों शुचि आत्म प्रवेश।**
> **पर जड़ अम्बर आत्मा, चेतन है परमेश ॥५६॥**

अन्वयार्थ—(**जिय**)हे जीव ! (**जेहउ अयासु सुद्ध तेहउ अप्पा वुत्तु**) जैसा आकाश शुद्ध है वैसा ही आत्मा कहा गया है (**जिय आयासु वि जडु जाणि**) हे जीव ! आकाश को जड़ अचेतन जान (**अप्पा चेयणुवंतु**) आत्मा को सचेतन जान।

भावार्थ—आकाश भी द्रव्य है, आत्मा भी द्रव्य है तथा पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल ये भी द्रव्य हैं, छहों ही द्रव्य,

द्रव्यपने की अपेक्षा समान हैं। सर्व द्रव्यों में छः सामान्य गुण पाये जाते हैं।

(१) **अस्तित्व**—सत्ता का होना। सब ही द्रव्य सदा से हैं व सदा बने रहेंगे।

(२) **वस्तुत्व**—कार्यकारी होना। सब ही द्रव्य अपने-अपने कार्य को स्वतंत्र रखते हैं।

(३) **द्रव्यत्व**—परिणमनशीलपना। सब ही द्रव्य अखण्ड रहते हुए भी अपनी-अपनी पर्यायों में परिणमन करते हैं। स्वभाव या विभाव दशाएँ उनमें होती रहती हैं।

(४) **प्रमेयत्व**—जानने योग्य होना। सब ही द्रव्य सर्वज्ञों के द्वारा जानने योग्य हैं।

(५) **अगुरुलघुत्व**—अपनी मर्यादा में रहना। सब ही द्रव्य अपने-अपने गुण पर्यायों को ही अपने में रखते हैं, परद्रव्यों के गुण पर्यायों को ग्रहण नहीं करते हैं।

(६) **प्रदेशत्व**—आकार रखना। सर्व द्रव्य आकाश में रहते हैं व जगह घेरते हैं। कितने ही स्वभाव सब द्रव्यों में सामान्य से पाये जाते हैं जैसे—

(१) **अस्ति स्वभाव**—अपने स्वभाव को रखते हुये सब द्रव्य भावपने को रखते हैं।

(२) **नास्ति-स्वभाव**—परद्रव्यों के स्वभावों का परस्पर अभाव है। दूसरों की सत्ता दूसरों में नहीं है।

(३) **नित्य स्वभाव**—अपने-अपने द्रव्य-स्वभाव को सदा ही रखते हैं। कभी द्रव्य का नाश नहीं होता।

(४) **अनित्य स्वभाव**—अपनी-अपनी पर्यायों के बदलने की अपेक्षा सब द्रव्य क्षणिक व नाशवंत हैं।

(५) **एकत्व भाव**—सब द्रव्य अनेक गुण पर्यायों में एक-एक अखण्ड रूप हैं।

(६) **अनेक स्वभाव**—सब द्रव्य अनेक स्वभावों को रखने से अनेक रूप हैं।

(७) **भेद स्वभाव**—गुणगुणी में संज्ञा लक्षणादि के भेद रखने से भेद स्वभावी हैं।

(८) **अभेद स्वभाव**—सब द्रव्यों के गुण स्वभाव द्रव्यों में सर्वांग अखण्ड रहते हैं। एक-एक ही प्रदेश में सब गुण होते हैं इससे अभेद स्वभाववान है।

(९) **भव्य स्वभाव**—सर्व ही द्रव्य अपने स्वभाव के भीतर ही परिणमन करने की योग्यता रखते हैं।

(१०) **अभव्य स्वभाव**—सर्व ही द्रव्य पर द्रव्य के स्वभाव रूप कभी नहीं हो सकते।

(११) **परम स्वभाव**—सर्व ही द्रव्य शुद्ध पारिणामिक भाव के धारी हैं।

इन सामान्य गुण व स्वभावों की अपेक्षा जीवादि छहों द्रव्य समान हैं। परन्तु विशेष गुणों की अपेक्षा उनमें अन्तर है। अमूर्तीक गुण की अपेक्षा पुद्गल को छोड़कर पांच द्रव्य समान हैं। पुद्गल मे स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण ये विशेष असाधारण गुण हैं। धर्म द्रव्य में जीव पुद्गल को गमन का कारण होना, अधर्म द्रव्य में जीव पुद्गल की स्थिति को कारण होना विशेष गुण है। आकाश में सर्व को अवकाश देने का विशेष गुण है।

काल में सर्व को बरताने का व परिणमन में सहाई होने का विशेष गुण है। सब जीव द्रव्य में—ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चेतना, सम्यक्त, चारित्र ये मुख्य विशेष गुण हैं जो आकाशादि पांच द्रव्यों में नही पाये जाते है। वे सब आकाशादि पाच द्रव्य जड़ अचेतन हैं, आत्मा सचेतन द्रव्य है। मूल स्वभाव से सर्व ही द्रव्य शुद्ध हैं। आकाश जैसे निर्मल है वैसे यह आत्मा निर्मल है। ज्ञानी को उचित है कि वह अपने आत्मा को परम शुद्ध निर्विकार परमानंदमय एक रूप अविनाशी जानकर उसी में आचरण करे, स्वानुभव प्राप्त करे, यही निर्वाण का उपाय है। **समयसार कलश** में कहा है—

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीढं,
रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत् ।
इह कथमपि नात्माऽनात्मना साकमेकः,
किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिम् ॥२१-१॥

भावार्थ—हे जगत के प्राणियो ! अब तो अनादिकाल से आये हुये मोहभाव या अज्ञान को छोड़ो और आत्मरसिकों को रसीले ऐसे प्रकाशमान शुद्ध ज्ञान का स्वाद लो। इस लोक में कभी भी, किसी तरह भी आत्मा अनात्मा के साथ मिलकर एकमेक नहीं होता है। सदा ही आत्मा अपने स्वभाव से पर से जुदा ही रहता है।

अपने भीतर ही मोक्षमार्ग है

णासग्गि अब्भितरहँ जे जोवहिं असरीरु ।
बाहुडि जम्मि ण संभवहिं पिवहिं ण जणणी-खीरु ॥६०॥

घ्राण दृष्टि अन्तर लखे, देह रहित जो जीव ।
फिर न जन्मधर पयपिये, शिवथल रहे शरीर ॥६०॥

अन्वयार्थ—(**जे णासग्गि अब्भितरहँ असरीरु जोवहिं**) जो ज्ञानी नासिका पर दृष्टि रखकर भीतर शरीरों से रहित शुद्ध आत्मा को देखते है (**बाहुडि जम्मि ण संभवहिं**) वे फिर बार-बार जन्म नही पाएँगे. (**जणणी खीरु ण पिवहिं**) वे फिर माता का दूध नहीं पियेंगे।

भावार्थ—आत्मा शरीरों से रहित अमूर्तीक है। वह इन्द्रियों के द्वारा नही जाना जाता, मन भी केवल विचार कर सकता है, ग्रहण नहीं कर सकता। आत्मा का ग्रहण आत्मा के द्वारा होता है। इसके ग्रहण का बाहरी साधन ध्यान का अभ्यास है।

साधक को उचित है कि वह एकान्त स्थान में जावे जहाँ क्षोभ व आकुलता न हो, मानवों के शब्द नहीं आते हों। उपवन, पर्वत, वन, जिनमन्दिर, शून्य गृह, नदी तट आदि स्थानों को चुनना चाहिए।

ध्यानसिद्धि का समय अत्यन्त प्रातःकाल सूर्योदय के पूर्व है फिर मध्याह्न-काल व सायंकाल है, व रात्रि का समय है। ध्यान करने वाला निश्चिन्त होकर बैठे, शरीर पर वस्त्र न हो या जितने कम सम्भव हों उतने वस्त्र होवें।

शरीर में रोगादि की पीड़ा न हो, बहुत भूख न हो, न मात्रा से अधिक भोजन किये हुये हो, शरीर की आसन रूप में किसी चटाई, पाट, शिला या भूमि पर रक्खें, पद्मासन 'अर्द्धपद्मासन या कायोत्सर्ग आसन से स्थिर सीधा नासाग्र दृष्टि में तिष्ठे सर्व चिन्ताओं से रहित होकर व सर्व इन्द्रियों से बुद्धिपूर्वक देखना सुनना आदि बन्द करके केवल इस भावना को लेकर बैठे कि मुझे भीतर विराजित आत्मारूपी निरंजन देव का दर्शन करना है।

जगत के प्राणियों में वार्तालाप को छोड़ें, मन को चिन्तवन में लगावे। पहले तो व्यवहारनय से अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, सवर, निर्जरा, लोक बोधिदुर्लभ व धर्म इन बारह भावनाओं का श्रद्धा व भावपूर्वक विचार कर जावे फिर सात तत्वों का स्वरूप विचार जावे। उनके विचार में यह देखे कि जीव तो मैं स्वभाव से शुद्ध हूँ परन्तु अनादिकाल से कर्मबंध होने के कारण अशुद्ध हूँ। कर्म जड पुद्गल के सूक्ष्म स्कंधों से बने हैं।

उन कार्मण वर्गणाओं को मैं ही अपनी मन, वचन, काय की क्रिया से घसीटता हूँ व रागद्वेष मोहके वश बाँधता हूँ। यदि वीतरागी होकर आत्मतत्व की भावना करूँ तो नवीन कर्मों के आने को रोक दूं व पुराने कर्मों को समय के पहले तप द्वारा दूर करूँ। इस तरह सर्व कर्मरहित होने पर मैं मुक्त हो सकता हूँ। फिर व्यवहारनय से देखना बन्द करके निश्चयनय से देखे कि मैं तो एक शुद्ध चेतन-स्वभावी आत्मा हूँ, कर्मादि सब पर हैं। जगत के पदार्थों को भी निश्चयरूप से देखे कि यह जगत छः द्रव्योंसे पूर्ण है। वे सर्व ही द्रव्य भिन्न-भिन्न अपनी-अपनी सत्ता में हैं, सर्व परमाणु निराले हैं, सर्व कालाणु निराले हैं, धर्म, अधर्म व आकाश द्रव्य निराले हैं, सर्व आत्माएँ अलग-अलग परम शुद्ध हैं,

व्यवहार के नर नारक देव तिर्यंच के व एकेन्द्रियादि के भेदों को व अनेक मन वचन काय से होने वाली क्रियाओं को नहीं देखे। सब ही द्रव्यों को क्रिया रहित निश्चल स्वभाव में देखे, जिससे प्रीति व अप्रीति का कारण मिट जावे व एक समभाव या वीतरागभाव का प्रवाह बहने लगे।

वीतराग भावकी शांत रस से भरी गंगा नदी बह निकली फिर केवल एक अपने ही शुद्ध अशरीरी आत्मा को शरीर प्रमाण विराजित भीतर सूक्ष्म भेद विज्ञान की दृष्टि से देखने का उद्यम करे। एकाकी आत्मा के गुणों का चिंतवन करे। इसे ही आत्मा की भावना कहते हैं। भावना करते करते एकाएक मन जब थिर होगा, आत्मा का अनुभव जग जायगा, आत्मा का दर्शन हो जायगा। यही आत्मीक अनुभूति ध्यान की आग है, जो कर्म इंधन को जलायेगी व आत्मा को शुद्ध कुन्दन के समान शुद्ध बनायेगी। यदि मोक्ष के लाभ के अनुकूल शरीरादि सामग्री होगी तो, यह साधक उसी भव से नहीं तो, कुछ भवों में मुक्त हो जायगा, सिद्ध गति को प्राप्त कर लेगा! फिर कभी जन्म न होगा, फिर कभी माता का दूध नहीं पीवेगा।

समाधिशतक में कहा है—

जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमाः।
भवन्ति तस्मात्संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत् ॥७२॥
यस्य सस्पन्दमाभाति निःस्पन्देन समं जगत्।
अप्रज्ञंक्रियायोगं स समं याति नेतरः ॥६७॥

भावार्थ—मानवों से बात करने पर मन की चंचलता होती है तब मन के भीतर भ्रमभाव होते हैं, इसलिये योगी को मानवों की संगति त्यागनी चाहिये, एकांतसेवी होना चाहिये। जिसकी दृष्टि में यह चलता फिरता जगता हलनचलन रहित, बुद्धि के विकल्प रहित, कार्य रहित, केवल निज स्वभाव से थिर दीखता है वही समभाव को पाता है।

—:०:—

निर्मोही होकर अपने अमूर्तीक आत्माको देखे

असीरु वि सुसरीरु मुणि इहु सरीरु जडु जाणि ।
मिच्छा-मोह परिच्चयहि मुत्ति णियं वि ण माणि ॥६१॥

ज्ञानमयी चैतन्य तन, पुद्‌गल तन जड़ जान ।
सुत शरीरादिक मोह तज, शिव त्रियसे रति ठान ॥६१॥

अन्वयार्थ—(**असीरु वि सुसरीरु मुणि**) अपने शरीर-रहित आत्मा को ही उत्तम ज्ञानशरीर समझे (**इहु सरीरु जडु जाणि**) इस पुद्‌गल रचित शरीर को जड व ज्ञान रहित जाने (**मिच्छा मोहु परिच्चयहि**) मिथ्या मोह का त्याग करे (**मुत्ति णियं वि ण माणि**) मूर्तीक इस शरीर को भी अपना नही माने ।

भावार्थ—आत्मध्यान के साधक को उचित है कि वह अपने को केवल जड शरीर रहित एक ज्ञान-शरीरी शुद्ध आत्मा समझे । पुद्‌गल के परमाणओं से रचित शरीर को एक पिजरा या कारागार समझे । तैजस, कार्मण व औदारिक तीनों शरीरो से रहित अपने को सिद्ध भगवान के समान पुरुषाकार अमूर्तीक समझे । अपना सर्वस्व श्रेय अपने ही आत्मा पर जोड़ देवे । सर्व पर से प्रेम को हटा लेवे ।

जगत के पदार्थों का मिथ्या मोह त्याग देवे । जो पर्यायें नाशवंत है उनसे मोह करना मिथ्या व सन्तापकारी है । इस जीव ने अनादि संसार के भ्रमण में अनंत पर्यायें धारण की हैं । जिस पर्याय में गया वहाँ ही इसने शरीर से, इन्द्रियों से, इन्द्रियों के द्वारा जानने योग्य व भोगने योग्य पदार्थों से मोह किया । मरण के समय शरीर के साथ उन सबका वियोग हो गया, तब मानों उनका सयोग एक स्वप्न का देखना था व मोह करना वृथा या मिथ्या ही रहा ।

सम्यग्दर्शन गुण के प्रकट होने पर सर्व मिथ्यात का विकार मिट जाता है । जब तक सम्यक्त नही होता है यह देह का व देह के सुख का अभिनंदन करता है, इन्द्रिय विषयभोग का ही लोलुपी होता

है। तब पांचों इन्द्रियों के विषयों की तीव्र लालसा रखता है। उनके मिलने पर हर्ष, न मिलने पर विषाद करता है, वियोग होने पर शोक करता है। जैसे-जैसे वे मिलते हैं अधिक तृष्णा की दाह को बढ़ा लेता है। मिथ्यादृष्टी का मोह संसार के सुखों का होता है वह भोग विलास को ही जीवन का ध्येय मानता है। मानव होने पर स्त्री, पुत्र, पुत्री आदि कुटुम्ब के मोह में इतना ग्रसित हो जाता है कि रात दिन उनको ही राजी रखने का व अपने विषय पोषने का उद्यम करता है, परलोक की चिन्ता भुला देता है।

आत्मा शरीर से भिन्न है ऐसा विचार शान्त मन से नहीं कर पाता है। वर्तमान जीवन की ही चिन्ता में उलझ जाता है। यदि कदाचित् दान, धर्म, तप, जप करता भी है तो उनके फल से वर्तमान में यश, धन का व सन्तान का व इच्छित विषय का लाभ चाहता है। कदाचित् परलोक का विश्वास हुआ तो देवगति के मनोज्ञ भोगों की तृष्णा रखता है। उसका सारा मन, वचन व काय का वर्तन सांसारिक आत्मा के मोह के ऊपर निर्भर रहता है।

जब योग्य निमित्त के मिलने पर इस जीव को तत्वज्ञान होता है इसकी मिथ्यात्व की ग्रंथि ढीली पड़ती है तब यह समझता है कि संसार की दशा आसार है, संसार का वास त्यागने योग्य है, बन्धन काटने योग्य है, आत्मा ही सच्चिदानन्दमय एक अपना जिनदेव अनुभव योग्य है, ध्यान करने योग्य है।

अतीन्द्रिय सुख ही ग्रहण करने योग्य है, इन्द्रिय सुख त्यागने योग्य है, परमाणु मात्र भी आत्मा का नहीं है, ऐसा भेदविज्ञान प्रगट होता है तब वह उसी का बार-बार मनन करता है। तब सम्यग्दर्शन के निरोधक मिथ्यात्व कर्म व अनन्तानुबन्धी चार कषाय का उदय बंद होता है। यह उपशम सम्यक्ती या उपशमसंवेदक सम्यक्ती हो जाता है। संसार अति निकट रहने पर वेदक से क्षायिक सम्यक्ती हो जाता है। सम्यक्त के उदय होते ही इसका सर्व मोह गल जाता है।

भीतरी प्रेम एक आत्मानन्द से ही रह जाता है। यही सम्यक्त्वी जीव निश्चिन्त होकर जब चाहे तब सुगमता से आत्मा को भीतर सर्व शरीरों से भिन्न ज्ञानाकार देख सकता है। उसको अपनापन अपने ही आत्मा पर रह जाता है, वह अन्य सर्व परद्रव्यों से पूर्ण विरागी हो जाता है। चारित्र मोह के उदय से रोगी के समान कटुक दवाई पीने के रूप में लाचार हो, विषय भोग करता है, भावना उनके त्याग की ही रहती है, दृष्टि में ग्रहण योग्य एक निज स्वरूप ही रहता है। सम्यग्दर्शन का धारी ही आत्मा का दर्शन भीतर कर सकता है।

समयसारकलश में कहा है—

इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत्पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः ।
यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षणं कृत्स्नमयति तदस्मि चिन्मह ॥४६-३

भावार्थ—ज्ञानी यह जानता है कि मैं एक चैतन्यमात्र ज्योतिरूप पदार्थ हूँ। जिस समय मेरे भीतर इस आत्मा ज्योति का प्रकाश होता है अर्थात् मैं जड़ आत्मा को शुद्ध स्वभाव का अनुभव करता हूँ तब नाना प्रकार के विकल्प जालों का समूह जो इन्द्रजाल के समान मन मे था यह सब दूर हो जाता है। मैं निर्विकल्प स्थिर स्वरूप में रमणकारी हो जाता हूँ।

—: ० :—

आत्मानुभव का फल केवलज्ञान व अविनाशी सुख है

अप्पइँ अप्पु मुणंतहँ कि णेहा फलु होइ ।
केवल-णाणु वि परिणवइ सासय-सुक्खु लहेइ ॥९२॥

आप आप अनुभव करे, को फल सो न लहंत ।
केवलज्ञान उपाय कर, शिव रमणी विलसंत ॥९२॥

अन्वयार्थ—(अप्पहँ अप्पु मुणंतयहँ) आतमा को आतमा के द्वारा अनुभव करते हुए (कि णेहा फलु होइ) कौनसा फल है जो नहीं

मिलता है, और तो क्या (केवलणु वि परिणवइ) केवलज्ञान का प्रकाश हो जाता है (सासय-सुक्खु लहेइ) तब अविनाशी सुख को पा लेता है।

भावार्थ—आत्मा के द्वारा आत्मा का अनुभव करना मोक्षमार्ग है। जो कोई इस आत्मानुभव का अभ्यास करना प्रारम्भ करता है उसको महान् फल की प्राप्ति होती है। जब तक केवलज्ञान न हो तब तक यह आत्मध्यानी ध्यान के समय चार फल पाता है। आत्मीक सुख का वेदन होता है। यह अतीन्द्रिय सुख उसी जाति का है जो सुख अरहंत सिद्ध परमात्मा को है। दूसरा फल यह है कि अन्तराय कर्म के क्षयोपशम बढ़ने से आत्मवीर्य बढ़ता है, जिससे हर एक कर्म को करने के लिये अन्तरङ्ग में उत्साह व पुरुषार्थ बढ़ जाता है। तीसरा फल यह है कि पाप कर्मों का अनुभाग कम करता है। पुण्य कर्मों का अनुभाग बढ़ाता है। चौथाफल यह है कि आयु कर्म के सिवाय सर्व कर्मों की स्थिति कम करता है। यदि केवलज्ञान उपजाने लायक ध्यान नहीं हो सका तो मरने के पीछे मनुष्य देवगति में जाकर उत्तम देव होता है। यदि देव हुआ तो मर कर उत्तम मनुष्य होता है। यदि सम्यग्दर्शन का प्रकाश बना रहा हो वह फिर हर एक जन्म में आत्मानुभव करके अपनी योग्यता बढ़ाता रहता है शीघ्र ही मानव जन्म में परम वैरागी होकर परिग्रहत्यागी हो जाता है। साधु पद में धर्म ध्यान का आराधन करके क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर मोहनीय कर्म का क्षय करके फिर अन्तर्मुहूर्त द्वितीय शुक्ल ध्यान के बल से शेष तीन घातीय कर्मों का भी क्षय करके अरहंत परमात्मा हो जाता है। तब अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख व अनन्त वीर्य से विभूषित हो जाता है, अविनाशी ज्ञान व अविनाशी सुख को झलका देता है।

आयु कर्म के अन्त में शेष चार कर्मों का क्षय करके सिद्ध परमात्मा हो जाता है। आत्मानुभव का अन्तिम फल निर्वाण है। जब तक निर्वाण का लाभ न हो तब तक साताकारी पदार्थों का संयोग है। आत्मानुभव का प्रेमी कभी नरक नहीं जाता है न पशुगति बांधता है। यदि सम्यग्दर्शन के पहले नरकायु बांधी हो तो सम्यक्त के साथ पहले

नर्क में ही जाता है व तिर्यंचायु बांधी हो तो भोग भूमि में ही पशु होता है। अनेक ऋद्धि चमत्कार आत्मध्यानी को सिद्ध हो जाते हैं।

इसी के प्रताप से श्रुतकेवली होता है। अवधिज्ञान व मनःपर्यय ज्ञान को पाता है। सर्व उत्तम संयोग का फल देने वाला **आत्मा का अनुभव** है। आत्मानुभवी का उद्देश्य केवल शुद्धात्मा का लाभ ही रहता है। परन्तु पुण्यकर्म के बढ़ने से ऋद्धि सम्पदाएँ स्वयं प्राप्त हो जाती हैं। जैसे आम्र फल के लिये ही माली आम्र का वृक्ष बोता है, फल लगने के पहले वह माली वृक्ष के पत्ते, डाली व पुष्प का अनुभव करता है। जैसे राजप्रसाद की ओर जाने वाला सुन्दर मार्ग पर चलता है। दूर होने पर यदि विश्रांति लेनी पड़ती है तो मनोहर उपवनों में ठहरता है, शीतल ठण्डा पानी पीता है, पौष्टिक फलों को खाता है, सुख में ही राजगृह में पहुचता है। वैसे ही मोक्ष का अर्थी निर्वाण पहुंचने के लिये आत्मानुभव की सुखदाई सडक पर चलता है। जब तक पहुंचे तब तक नर व देव के शरीर में सुखपूर्वक विश्राम करता है। आत्मध्यान का अचिन्त्य फल है।

तत्वानुशासन में कहा है—

ध्यानाभ्यासप्रकर्षेण तुद्यन्मोहस्य योगिन.।
चरमांगस्य मुक्तिः स्यात्तदा अन्यस्य च क्रमात् ॥२२४॥
तथा ह्यचरमांगस्य ध्यानमभ्यस्यतः सदा।
निर्जरा संवरश्च स्यात्सकलाशुभकर्मणां ॥२२५॥
आस्रवन्ति च पुण्यानि प्रचुराणि प्रतिक्षण।
यैर्महर्द्धिर्भवत्येष त्रिदशः कल्पवासिषु ॥२२६॥
ततोऽवतीर्य मर्त्येपि चक्रवर्त्यादिसंपदः।
चिरं भुक्त्वा स्वय मुक्त्वा दीक्षां दैगंबरीं श्रितः ॥२२८॥
वज्रकायः स हि ध्यात्वा शुल्कध्यानंचतुर्विधं।
विधूयाष्टापि कर्माणि श्रयते मोक्षमक्षयं ॥२२९॥

भावार्थ—ध्यान के अभ्यास की उत्तमता से चरम शरीरी योगी का मोह टूट जाता है। यह उसी भव से मोक्ष हो जाता है जो चरम

शरीरी नहीं होता है वह क्रम क्रम से मोक्ष को पाता है। जो योगी चरम शरीरी नहीं है उसके ध्यान के अभ्यास से सदा ही सर्व अशुभ कर्म प्रकृतियों का संवर व उनकी निर्जरा होती जाती है। तथा प्रति समय महान् पुण्य कर्म का आस्रव होता है जिसके फल से स्वर्गों में जाकर महान् ऋद्धिधारी देव होता है। वहाँ से मध्यलोक में आकर चक्रवर्ती आदि की सम्पदा को बहुत काल भोग कर फिर स्वयं उनको त्यागकर दिगम्बर साधु की दीक्षा लेता है। वज्रवृषभ नाराच संहनन धारी साधु चार प्रकारशुक्लध्यान के द्वारा आठों ही कर्मों का नाश करके अक्षय अमर मोक्ष को पा लेता है।

पर भाव का त्याग संसार-त्याग का कारण है

ज परभाव चएवि मुणि अप्पा अप्पि मुणंति।
केवल-णाण-सरूव लइ (लहि?) ते संसारु मुचंति ॥६३॥

जो पर भावहि त्याग कर, आत्मभाव लखंत।
केवलज्ञान सरूप हो सो भव ना भटकन्त ॥६३॥

अन्वयार्थ—(जे मुणि परभाव चएवि अप्पा अप्प मुणंति) जो मुनिराज परभावों का त्याग कर आत्मा के द्वारा आत्मा का अनुभव करते हैं (ते केवल-णाण-सरूव लइ (लहि) संसारु मुचंति) वे केवलज्ञान सहित अपने स्वभाव को झलका कर संसार से छूट जाते हैं।

भावार्थ—त्याग धर्म की आवश्यकता बताई है। राग, द्वेष, मोह भाव बंध के कारण हैं इनको त्याग कर वीतराग भाव में रमण करने से संवर व निर्जरा का लाभ होता है। राग, द्वेष, मोह के उत्पन्न होने में अन्तरंग कारण मोहनीय कर्म का उदय है, बाहरी कारण मोह व रागद्वेष-जनकचेतन व अचेतन पदार्थ हैं। बाहरी त्याग होने पर अन्तरङ्ग त्याग हो जाता है, जैसे बाहरी धान्य का छिलका दूर होने पर अन्तरङ्ग का पतला छिलका दूर होता है।

साधक को पहले तो मिथ्यात्व भाव का त्याग करना चाहिए। इसके लिए बाहरी कारण रागद्वेषी देवों को, परिग्रहधारी अन्य ज्ञान रहित साधुओं की व एकान्तनय में बहने वाले शास्त्रों की भक्ति को छोड़े व तीव्र पापों से बचे। द्यूतरमण, मदिरापान, मांसाहार, चोरी, शिकार, वेश्या व पर स्त्री सेवन की रुचि को मन से दूर करे, नियम-पूर्वक त्याग न कर सकने पर भी इनसे अरुचि पैदा करे, अन्याय सेवन से ग्लानि करे तथा वीतराग सर्वज्ञ देव, निर्ग्रंथ आत्मज्ञानी साधु, अनेकान्त से कहने वाले शास्त्रों की भक्ति करे। सात तत्व को जानकर मनन करे तब अनन्तानुबन्धी कषाय का व मिथ्यात्व भाव का विकार भावों से दूर होगा।

सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान व स्वरूपाचरण चारित्र का लाभ होगा। फिर भी अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान व संज्वलन कषाय व नोकषाय के उदय से होने वाले रागद्वेष भावों को मिटाता है। तब पहले श्रावक के बारह व्रतों को पालकर रागद्वेष कम करता है। ग्यारह प्रतिमाओं या श्रेणियों के द्वारा जैसे-जैसे बाहरी त्याग करता जाता है, रागद्वेष अधिक-अधिक कम होता जाता है। पूर्ण रागद्वेष के त्याग करनेके लिए साधु की दीक्षा आवश्यक है, जहाँ वस्त्रादि का पूर्णपने त्याग होता है। साधु होते हुए खेत, मकान, धन, धान्य, चाँदी सोना, दासी दास, कपड़े बर्तन इन दस प्रकार के बाहरी परिग्रह को त्यागकर बालक के समान समदर्शी, काम विकार से रहित निर्ग्रंथ हो जाता है। अंतरंग चौदह प्रकार के भाव परिग्रह से ममता त्यागता है।

मिथ्यात्वभाव, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुवेद, नपुसक वेद, इन १४ तरह के भावों से पूर्ण विरक्त हो जाता है। शत्रुमित्र में, तृण व सुवर्ण में व जीवन-मरण में समभाव का धारी हो जाता है। एकान्त वन उपवन पर्वतादि के निरंजन स्थानों पर बैठकर आत्मध्यान करता है तब एक अपने ही शुद्ध आत्मा को भाव में ग्रहण करता है व सर्व परभावों से उपयोग को हटाता है।

जितने भाव कर्मों के निमित्त से होते हैं व जो अनित्य हैं उन सबसे राग त्यागता है। औदयिक, क्षायोपशमिक व छूटने वाले औपशमिक भावों से विरक्त होकर क्षायिक व पारिणामिक जीवत्व भाव को अपना स्वभाव मानकर एक शुद्ध आत्मा की बार-बार भावना करता है। ऐसा मुनिराज रागद्वेष को पूर्ण जीत लेता है।

क्षपक श्रेणी पर चढ़कर अन्तर्मुहूर्त में चार घातीय कर्मों का क्षय करके केवलज्ञानी हो जाता है। फिर चार अघातीय कर्मों का भी नाश करके संसार से मुक्त हो जाता है। परभावों के त्याग में ही आपके निज भाव का यथार्थ ग्रहण होता है तब शुद्ध आत्मानुभव प्रगट होता है। यही मोक्षमार्ग है व सदा ही आनन्द अमृत का पान कराने वाला है।

समयसारकलश में कहा है—

एकश्चितश्चिन्मय एव भावो भावाः परे ये किल ते परेषाम्।
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एवभावो भावाः परे सर्वत एव हेयाः ॥५॥
सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यतां
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिः सदैवास्म्यहम्।
एते ये तु समुल्लसन्ति विबुधा भावाः पृथग्लक्षणा—
स्तेऽहं नाऽस्मि यतोत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि ॥६-९॥

भावार्थ—चैतन्यमय एक भाव ही आत्मा का निज भाव है। शेष सर्व रागादि भाव निश्चय से पर पुद्गलों के हैं। इसलिये एक चैतन्यमय भाव को ही ग्रहण करना चाहिये। शेष सर्व परभावों का त्याग करना चाहिये शुद्ध भाव में चलने वाले मोक्षार्थी महात्माओं को इसी सिद्धान्त का सेवन करना चाहिये कि मैं सदा ही एक शुद्ध चैतन्यमय परम जोति स्वरूप हूं। इसके सिवाय जो नाना प्रकार के भाव प्रगट होते हैं वे मेरे शुद्धभाव से भिन्न लक्षणधारी हैं। उन रूप मैं नहीं हूं। वे सब मुझसे भिन्न परद्रव्य ही हैं।

त्यागी आत्मध्यानी महात्मा ही धन्य है

धण्णा ते भयवंत बुह जे परभाव चयंति।
लोयालोय-पयासयरु अप्पा विमल मुणंति ॥६४॥

भाग्यवान नर धन्य सो, जिन त्यागे परभाव।
लोकालोक प्रकाशकर, देखा आत्म राव ॥६४॥

अन्वयार्थ—(**जे परभाव चयंति**) जो परभावों का त्याग करते हैं और (**लोयालोय पयासयरु अप्पा मुणंति**) लोकालोक प्रकाशक निर्मल अपने आत्मा का अनुभव करते है (**ते भयवंत बुह धण्णा**) वे भगवान ज्ञानी महात्मा धन्य हैं।

भावार्थ—आत्मा का स्वरूप निश्चय से परम शुद्ध है। ज्ञान इसका मुख्य असाधारण लक्षण है। ज्ञान मे वह शक्ति है कि एक ही समय में यह सर्वलोक के छः द्रव्यों को, उनकी पर्यायों को लिये हुये तथा अलोक को एक ही साथ क्रम रहित जैसे का तैसा जान सके। इसी तरह आत्मा में वह सब गुण है जो सिद्ध भगवान में प्रगट हो जाते हैं।

स्वभाव से आत्मा सिद्ध के समान है। तत्वज्ञानी महात्मा जिस पद के लाभ का रुचिवान होता है उसी पद को ध्याता है। तब वह सर्व पर पदार्थों से वैरागी हो जाता है। पुण्योदय से प्राप्त होने वाले नारायण, बलभद्र, प्रतिनारायण, चक्रवर्ती, कामदेव, इन्द्र, धरणेन्द्र, अहमिंद्र आदि पदों को कर्मजनित नाशवंत व आत्मा के शुद्ध स्वरूप से बाहर जानके उन सबकी ममता त्यागता है, इसी तरह जिन शुभ भावों से लौकिक उच्च पदों की प्राप्ति के योग्य पुण्य का बन्ध होता है, उनको भी नहीं चाहता है। धर्मानुराग, पाँच परमेष्ठी की भक्ति, अनुकम्पा, परोपकार, शास्त्र पठन आदि शुभ भावों के भीतर बर्तता है क्योंकि शुद्धोपयोग में अधिक ठहर नहीं सकता है। आत्मवीर्य की कमी है तब अशुभ भावों से बचने के लिये शुभ भावों में रहते हुये भी ज्ञानी उनसे विरक्त रहता है।

परमाणु मात्र भी रागभाव बंध का कारण है ऐसा यह जानता है। चौदह गुणस्थान आत्मा की उन्नति की श्रेणियाँ हैं तथापि शुद्धात्मा के मूल, पर संयोग रहित, एकाकी स्वभाव से भिन्न हैं। इसलिये ज्ञानी इनको भी इसी तरह त्यागयोग्य समझता है। जैसे सीढ़ियों पर चढ़ने वाला सीढ़ियों को त्यागयोग्य समझ के छोड़ता जाता है। एक शुद्धोपयोग को ग्रहण करने का उत्सुक होकर धर्मप्रचार के विचारों को भी त्यागता है। द्रव्यार्थिक नय से आत्मा नित्य है, पर्यायार्थिक नय से अनित्य है। अभेदनयसे एक रूप है भेदरूप व्यवहारनय से अनन्त रूप है।

आत्मा गुण पर्यायों का समूह है, लोक छः द्रव्यों का समुदाय है, कर्मों के १४८ भेद हैं, कर्मो का बंध चार प्रकार का होता है। प्रकृति प्रदेश बन्ध योगों से व स्थिति अनुभाग बन्ध कषायों से होता है। सात तत्व है, नव पदार्थ हैं, इत्यादि सर्व विकल्पों को बन्धकारक जानकर त्याग देता है निर्विकल्प समाधि व स्वानुभव आलाप के लिये यह एक अपने ही आत्मा के भीतर आत्मा के द्वारा अपने ही आत्मा को विदा देता है।

इस तरह जो ज्ञानी व विरक्त पुरुष संसार की सर्व प्रपंचावली से पूर्ण विरक्त होकर आत्मध्यान करते हैं, व परमानन्द के अमृत का पान करते हैं वे ही विवेकी पंडित हैं, वे ही परम ऐश्वर्यवान हैं, रत्नत्रय की अपूर्व सम्पदा के धनी हैं। सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित्र की एकता में लवलीन हैं वे ही भाग्यवान हैं। भगवानहैं' अतीन्द्रिय ज्ञान व सुख के स्वामी हैं, शीघ्र ही मोक्षलाभ करेंगे।

आत्मानुशासन में कहा है—

येषां भूषणमङ्गसंगतरजः स्थानं शिलायास्तलम्
शय्या शर्करिला मही सुविहितं गेहं गुहा द्वीपिनाम्।
आत्मात्मीयविकल्पवीतमतयस्त्रुट्यत्तमोग्रन्थय—
स्ते नो ज्ञानधना मनांसि पुनतां मुक्तिस्पृहा निस्पृहाः ॥२५९॥

भावार्थ—जिन महात्माओं का गहना शरीर में लगी रज है,

जिनकी बैठने कास्थान पाषाण की शिला है जिनकी शय्या कंकरीली भूमि है, जिनका सुन्दर घर बाघों की गुफा है, जिन्होंने अपने भीतर से सर्व विकल्प मिटा दिये हैं व जिन्होंने अज्ञान की गांठों को तोड़ डाला है जिनके पास सम्यग्ज्ञान धन है, जो मुक्ति के प्रेमी हैं अन्य सब इच्छाओं से दूर हैं, ऐसे योगीगण हमारे मन को पवित्र करें ।

गृहस्थ हो या मुनि, दोनों के लिये आत्मरमण सिद्ध-सुख का उपाय है

सागारु वि णागारु कु वि जो अप्पाणि वसेइ ।
सो लहु पावइ सिद्धि-सुहु जिणवरु एम भणेइ ।।६५।।

अनागार सागार जो, वास करे निज रूप ।
शीघ्र मुक्ति सुख पावही, यों भाषत जिन भूप ।।६५।।

अन्वयार्थ—(**सागारु वि णागारु कु वि**) गृहस्थ हो या मुनि कोई भी हो (**जो अप्पाणि वसेइ**) जो अपने आत्मा के भीतर बास करता है (**सो- सिद्धि-सुहु लहु पावइ**) वह शीघ्र सिद्धि के सुख को पाता है (**जिणवरु एम भणेइ**) जिनेन्द्रदेव ने ऐसा कहा है ।

भावार्थ—आत्मीक अतीन्द्रिय आनन्द को सिद्धिसुख या सिद्धों का सुख कहते हैं जैसा शुद्धात्मा का अनुभव सिद्ध भगवानों को है। वैसा ही शुद्धात्मा का अनुभव जब होता है तब जैसा सुख सिद्धों को वेदन होता है वैसा ही सुख शुद्धात्मा के वेदन करने वालों को होता है ।

आत्मीक आनंद का स्वाद जिस साधन से हो वही मोक्ष का उपाय है या आनन्द सुख का साधन है क्योंकि स्वानुभव में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चरित्र तीनों ही गर्भित हैं। स्वानुभव ही निश्चय रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग है। उसी से नवीन कर्मों का संवर होता है

व पुराने कर्मों की निर्जरा होती है। यही सीधी सड़क महल की तरफ गई है। इसके सिवाय कोई दूसरी सड़क नहीं है व बाहरी साधन मन, वचन, काय की शक्ति को निराकुल करने के लिये है। जितनी मन में निराकुलता व निश्चिन्तता अधिक होगी। उतना ही मन स्वानुभव में बाधक नहीं होगा।

जगत के प्रपंच जाल मन, वचन, काय को अटकाते हैं, उलझाते हैं, इसलिये मोक्षमार्ग में बाहरी निकट साधन साधु या अनगार का चारित्र है व क्रमशः बाहरी साधन सागार का-श्रावक का चारित्र है। श्रावक का चारित्र बतलाते हुए साधु चरित्र पालन की योग्यता होती है। बिना साधु का चारित्र पाले कर्म का नाशक तीव्र स्वानुभव नहीं जागृत होता है हर एक का व्यवहार ग्यारह प्रतिमा रूप है क्रम-क्रम से बढ़ता जाता है। पहली २ प्रतिमा का दूसरी आदि में बना रहता है आगे और बढ़ जाता है, उसका संक्षेप इस प्रकार है—

(१) **दर्शन प्रतिमा**—सम्यग्दर्शन को दोष रहित पाले, २५ दोषों को बचावे, निःशंकित निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना आठ अंग पालकर इनके प्रतिपक्षी आठ दोषों से बचे। जाति, कुल, धन, अधिकार रूप बल, विद्या, तप, आठ प्रकार मद न करे। देव गुरू लोकमूढ़ता त्यागे। कुदेव कुगुरू, कुशास्त्र व इनके तीन प्रकार के सेवक इन छः अनायतनों का सेवन भक्ति पूर्वक न करे। अहिंसा, सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य, परिग्रह त्याग इन पाँच व्रतों के एक देश साधन का अभ्यास करे। देवपूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, तप, संयम, दान, इन छः कर्मों का नित्यप्रति पालन करे।

(२) **व्रत प्रतिमा**—पांच अणुव्रतों को दोष रहित पाले, दिग्व्रत, देशव्रत अनर्थदण्ड त्याग इन तीनों गुणव्रतों को व सामायिक, प्रोषधो-पवास, भोगोपभोग परिमाण व अतिथि संविभाग इन चार शिक्षा व्रतों को पालने का अभ्यास करे।

(३) **सामायिक प्रतिमा**—तीन संध्याओं में सबेरे, दुपहर,

शाम, समभाव से या शांतभाव से स्वानुभव का अभ्यास करे व राग-द्वेष छोड़े।

(४) **प्रोषध प्रतिमा**—महीने में चार दिवस दो अष्टमी दो चौदस उपवास करे।

(५) **सचित्तत्याग प्रतिमा**—जीव सहित सचित्त भोजन-पान नहीं करे।

(६) **रात्रिभोजन त्याग प्रतिमा**—रात्रि को न आप भोजन-पान करे न दूसरों को करावे।

(७) **ब्रह्मचर्य प्रतिमा**—मन, वचन, काय से ब्रह्मचर्य पाले। स्वस्त्री से भी विरक्त हो जावे।

(८) **आरम्भत्याग प्रतिमा**—खेती व्यापारादि आरम्भ नहीं करे आरम्भी हिंसा छोडे।

(९) **परिग्रह त्याग प्रतिमा**—भूमि, मकान, धनादि परिग्रह त्याग करके कुछ वस्त्र व पात्र रखले, घर छोड़कर बाहर एकांत में रहे, संतोष से दूसरे के यहां निमंत्रण से भोजन करे, आप स्वयं नहीं बनावे।

(१०) **अनुमति त्याग**—लौकिक कामों में सम्मति देने का त्याग करे, भोजन के समय निमंत्रण से जावे।

(११) **उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा**—अपने लिये किये गए भोजन को न लेवे, भिक्षा से भोजन करे। क्षुल्लक हो कर एक लंगोट, एक खंड चादर रक्खे, पीछी कमंडल रक्खे। ऐलक होकर केवल एक लंगोटी पीछी कमडल रक्खे।

फिर साधु हो वस्त्र रहित हो जावे, पांच महाव्रत अहिंसादि पूर्ण पाले व पाच समिति पाले (१) **ईर्या**-देखकर चले, (२) **भाषा**-शुद्ध वाणी बोले, (३) **रस त्याग**-शुद्ध भोजन लेवे, (४) **आदान-निक्षेपण**-देखकर उठावे धरे, (५) **व्युत्सर्ग**-मल: मूत्र देखकर करे, मन वचन काय को वश रखकर तीन गुप्ति पाले। यह तेरह प्रकार साधु का व्यवहार चारित्र है। इस प्रकार श्रावक या साधु के व्यवहार चारित्र

को पालते हुए स्वानुभव का अभ्यास बढ़ावे तो वह धीरे-धीरे परमानंद को पाता हुआ मोक्ष की तरफ बढ़ता चला जाता है। आत्मा में ही जो तिष्ठते हैं वे ही सिद्ध सुख को सदा पाते हैं। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है :—

चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात् ।
सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत् ॥३९॥
हिंसातोऽनृतवचनात्स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहतः ।
कात्स्न्र्यैकदेशविरतेश्चारित्रं जायते द्विविधम् ॥४०॥

भावार्थ सर्व पापबन्ध की कारण मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को त्यागना व्यवहारचारित्र है। सर्व कषाय की कालिमा रहित, निर्मल, उदासीन आत्मानुभवस्वरूप निश्चयचारित्र है। हिंसा, असत्य चोरी, कुशील, परिग्रह इन पांच पापों से पूर्ण विरक्त होना साधु का व एक देश विरक्त होना श्रावक का व्यवहार चारित्र है।

———

तत्वज्ञानी विरले होते हैं

विरला जाणहिं तत्तु बुह विरला णिसुणहिं तत्तु ।
विरला झायहिं तत्तु जिय विरला धारहिं तत्तु ॥६६॥

विरला जाने तत्व का, विरला तत्व सुनन्त ।
विरला ध्यावे तत्व को, विरला श्रद्धावन्त ॥६६॥

अन्वयार्थ—(**विरला बुह तत्तु जाणहिं**) विरले ही पंडित आत्मतत्व को जानते हैं (**विरला तत्तु णिसुणहिं**) विरले ही श्रोता तत्व को सुनते हैं (**विरला जिय तत्तु झायहिं**) विरले जीव ही तत्व को ध्याते हैं (**विरला तत्तु धारहिं**) विरले ही तत्व को धारण करके स्वानुभवी होते हैं।

भावार्थ—आत्मज्ञान का मिलना बड़ा कठिन है। थोड़े ही प्राणी इस अनुपम तत्व का लाभ कर पाते हैं। मन रहित पंचेन्द्रिय तक के

प्राणी विचार करने की शक्ति बिना आत्मा अनात्मा का भेद नहीं जान सकते हैं। सैनी पंचेन्द्रियों में नारकी जीव रात दिन कषाय के कार्य में लगे रहते हैं। किनहीं प्राणियों को आत्मज्ञान होता है। पशुओं को भी आत्मज्ञान पाने का साधन विरला है। देवों में विषय भोग की अति तीव्रता है। वैरागभाव की दुर्लभता है किनही को आत्मज्ञान होता है। मानवों के लिये साधन सुगम है तो भी बहुत दुर्लभ है।

अनेक मानव रात दिन शरीर की क्रिया में ऐसे तल्लीन रहते हैं कि उनको आत्मा की बात सुनने का अवसर ही नहीं मिलता है। जिनको अवसर मिलता है वे भी व्यवहार में इतने फंसे होते हैं कि व्यवहार धर्म के ग्रन्थों को पढ़ते सुनते है; अनेक बड़े विद्वान पंडित हो जाते हैं; न्याय, व्याकरण, काव्य, पुराण, वैद्यक, ज्योतिष की व पाप पुण्य बधक क्रियाओ की विशेष चर्चा करते हैं। अध्यात्म ग्रन्थों पर सूक्ष्म दृष्टि देकर नही पढ़ते हैं न विचार करते हैं।

निश्चयनय से अपना आराध्य देव है ऐसा दृढ़ विश्वास नही कर पाते हैं। अनेक पंडित आत्मज्ञान बिना केवल विद्या के घमंड में व क्रियाकाड के पोषण मे ही जन्म गंवा देते हैं—जिनके मिथ्यात का व अनंतानुबन्धी कषायों का बल ढीला पड़ता है, उन ही विद्वानों को तत्वरुचि होती है। आत्मज्ञान के विद्वान बहुत थोड़े मिलते हैं। जब तक ऐसे उपदेशक न मिले तब तक श्रोताओ को आत्मज्ञान का लाभ होना कठिन है।

यदि कही पर आत्मज्ञानी पंडित होते भी हैं तो आत्मा के हित की गाढ़ रुचि रखने वाले श्रोताओं की कमी रहती है। जिनके भीतर संसार के मोहजाल से कुछ उदासी होती है वे ही आत्मीक तत्व की बातों को ध्यान से सुनते हैं, सुनके धारण करते हैं। जिनके भीतर गाढ़ रुचि होती है। वे ही निरन्तर आत्मीक तत्व का चिन्तवन करते हैं। आत्मध्यानी बहुत थोड़े हैं, इनमें भी निर्विकल्प समाधि पानेवाले, स्वानुभव करने वाले दुर्लभ है।

आत्मज्ञान अमूल्य पदार्थ है, मानव जन्म पाकर इसके लाभ का प्रयत्न करना जरूरी है जिसने आत्मज्ञान की रुचि पाई उसने ही

निर्वाण जाने का मार्ग पा लिया। यही सम्यग्दर्शन है जब बुद्धि सूक्ष्म विचार करने की हो तब प्रमाद छोड़कर पहले व्यवहारनय से जीवाजीव तत्वों के कहने वाले शास्त्र पढ़े। बंध व मोक्ष के व्यवहार साधनों को जानलेवे फिर निश्चयनय की मुख्यता से प्रतिपादन करने वाले शास्त्र का मनन करके अपने आत्मा को द्रव्यरूप से शुद्ध जाने। भेद विज्ञान का मनन करके अपने आत्मा को द्रव्यरूप से शुद्ध जाने। भेद विज्ञान का मनन करे। जैसे पानी से कीच भिन्न है वैसे मेरे आत्मा से आठ कर्म, रागादि भावकर्म, शरीरादि नोकर्म भिन्न हैं।

बराबर अभ्यास के बल से सम्यग्दर्शन का प्रकाश होगा। तब अनादि का अज्ञान अन्धकार मिटेगा, जन्म कृतार्थ होगा, निर्वाण का मार्ग हाथ में आ गया, फिर क्या चाहिये। जन्म-जन्म के संकटों को मिटाने वाला यह आत्मज्ञान है। यद्यपि यह दुर्लभ है तथापि इसी के लिये पुरुषार्थ करना व इसे लाभ कर लेना ही मानव जन्म का सार है।

समयसार में कहा है—

सुदपरिचिदाणुभूदा, सव्वस्स वि कामभोयबंधकहा।
एयत्तस्सुवलम्भो, णवरि ण सुलभो विभत्तस्स ॥४॥

भावार्थ—सर्व संसारी प्राणियों को काम भोग सम्बन्धी कथा बहुत सुगम है क्योंकि अनन्त बार सुनी है, अनन्तबार उनकी पहचान की है, अनन्त बार विषयों का अनुभव किया है। दुर्लभ है तो एक परभाव रहित व अपने एक स्वरूप में तन्मय ऐसे शुद्धात्मा की बात है। इसी का लाभ होना कठिन है। सारसमुच्चय में कहा है—

ज्ञानं नाम महारत्नं यन्न प्राप्तं कदाचन।
संसारे भ्रमता भीमे नानादुःखविधायिनि ॥१३॥

अधुना तत्त्वया प्राप्तं सम्यग्दर्शनसंयुतम्।
प्रमादं मा पुनः कार्षीर्विषयास्वादलालसः ॥१४॥

भावार्थ—इस भयानक व नाना प्रकार के दुःखों से भरे हुए संसार में भ्रमते हुए जीव ने आत्मज्ञान रूपी महान् रत्न को कहीं नहीं

पाया। अब तूने इस उत्तम सम्यग्दर्शन को पा लिया है तब प्रमाद न करे, विषयों के स्वाद में लोभी होकर इस अपूर्व तत्व को खो न बैठे। सम्हालकर रक्षा कर सुखी बने।

कुटुम्ब मोह त्यागने योग्य है

इहु परियण ण हु महुतणउ इहु सुहु-दुक्खहँ हेउ।
इम चिंतंतहँ किं करइ लहु संसारहँ छेउ ॥६७॥

पुत्रादिक न कुटुम्ब मम, विषय भोग दुःख खान।
जो ज्ञानी इम चितवे, सो छेवे भवथान ॥६७॥

अन्वयार्थ—(**इहु परियण महुतणउ ण हु**) यह कुटुम्ब परिवार मेरा निश्चय से नही है (**इहु सुहु-दुक्खहँ हेउ**) यह भाव सुख दुःख का ही कारण है (**इम किं चिंतंतहँ**) इस प्रकार कुछ विचार करने से (**संसारहँ छेउ लहु करइ**) संसार का छेद शीघ्र ही कर दिया जाता है।

भावार्थ—यह प्राणी इन्द्रिय सुख का लोलुपी होता है। अपने सुख की प्राप्ति में सहकारी प्राणियों से मोह कर लेता है। बाल्यावस्था में सहकारी प्राणियों से मोह कर लेता है। बाल्यावस्था में माता-पिता द्वारा पाला-पोषा जाता है व लाड-प्यार में रक्खा जाता है, उससे उनका तीव्र मोही हो जाता है। युवावय मे स्त्री से व पुत्र पुत्री से इन्द्रिय सुख पाता है, इसलिए उनका मोही हो जाता है। जिन मित्रों से व नौकर चाकरों से इन्द्रिय सुखभोग में मदद मिलती है उनका मोही हो जाता है। व जिनसे इन्द्रिय सुख में बाधा पहुंचती है उनका शत्रु बन जाता है।

कुटुम्ब के मोह में ऐसा उलझ जाता है कि उसको आत्मा के स्वरूप के विचार के लिये अवकाश ही नही मिलता है। रातदिन उन परिवार जनों के लिए धन कमाने में व धन की रक्षा करने में ही लगा रहता है। यदि कौई कुटुम्बी अपनी आयुकर्म के क्षय से मर जाता है

तो यह मोही प्राणी उनके शोक में बावला हो जाता है। वह इस बात को भूल जाता है कि परिवार का सम्बन्ध वृक्ष पर रात बसेरे के समान है। जैसे सन्ध्या के समय एक वृक्ष पर अनेक पक्षी भिन्न-भिन्न स्थानों से आकर जमा हो जाते हैं, सवेरा होने पर सर्व पक्षी अलग-अलग अपने-अपने स्थानों को चले जाते हैं, वैसे ही एक परिवार में नाना जीव कोई नरक से, कोई पशुगति से, कोई देवगति से, कोई मनुष्य गति से आकर जमा हो जाते हैं।

सब अपनी-अपनी आयुपर्यंत रहते हैं। आयु के क्षय होते ही अपने बाँधे हुए पाप पुण्य कर्म के अनुसार कोई देवगति में, कोई मनुष्य गति में, कोई तिर्यंचगति में कोई नरक गति में चले जाते हैं, किसी का कोई सम्बन्ध नहीं रहता है। सब प्राणी अपने सुख के स्वार्थ में दूसरों से मोह करते हैं। स्वार्थ न सधने पर नेह छोड देते हैं, पुत्र विरुद्ध हो जाते हैं, वृद्धावस्था में स्वार्थ सधता न देखकर कुटुम्बी जन वृद्ध की अवज्ञा करते हैं। कुटुम्ब से यदि इन्द्रियों के विषय सधते हैं तब तो वे सुख के कारण भासते हैं। जब उनसे विषयभोग में हानि पड़ती है तब ही दुःख के कारण हो जाते हैं।

ज्ञानी सम्यग्दृष्टी जीव को जल में कमल के समान गृहस्थ को रहना चाहिये, मोह न करना चाहिये। उनको अपने जीव से पृथक मानकर उन जीवों का उपकार बने सो करना चाहिये। उनकी रक्षा, शिक्षा व सुख से जीवन निर्वाह में सहाई होना चाहिये। उनको आत्मज्ञान के मार्ग पर लगाना चाहिये। यदि वे अपना काम न करें, व कम करें तो मन में विषाद न करना चाहिये। बदले में सुख पाने के लोभ से उनका हित न करना चाहिये। उनके हित के पीछे अन्याय से धन न कमाना चाहिए, न अपने आत्मकल्याण को भुलाना चाहिए। जो कुटुम्ब परिवार का मोह छोड़ देते हैं वे सहज वैराग्यवान हो जाते हैं।

अथवा आत्महित करते हुए जब तक गृहस्थ में रहते हैं उनकी सेवा निष्पाप भाव से करते हैं। जब अप्रत्याख्यान कषाय का उदय अतिशय मन्द रह जाता है तब कुटुम्ब त्यागी श्रावक हो जाते हैं, पर से मोह नहीं करते हैं, केवल एक निज आत्मा की ही गाढ़ भक्ति करते

वाले भव्य जीव शीघ्र ही भवसागर से पार हो जाते हैं।

बृहत् सामयिकपाठ में कहा है—

कान्तासद्मशरीरजप्रभृतयो ये सर्वथाऽप्यात्मनो,
भिन्नाः कर्मभवाः समीरणचला मायाबहिर्भाविनः।
तैः संपत्तिमिहात्मनो गतधियो जानन्ति ये मर्म्मवां,
स्वयं संकल्पवसेन ते विदधते नाकीशलक्ष्मीः स्फुटं ॥८४॥

भावार्थ—स्त्री, धन, पुत्रादि सर्वथा ही अपनी आत्मा से भिन्न हैं बाहरी रहने वाले हैं, कर्म के उदय से प्राप्त हैं, वायु के समान उनका संयोग चंचल है। जो मूढ़ बुद्धि इनके संयोग से सुखदाई संपत्ति होना समझते हैं वे ऐसे ही मूर्ख हैं जो अपने मन के संकल्प से ही स्वर्ग की लक्ष्मी को प्राप्त कर लें।

—: ० :—

संसार में कोई अपना नहीं है

इंद-फणिंद-णरिंदय वि जीवहं सरणु ण होंति।
असरणु जाणिवि मुणि-धवला अप्पा अप्प मुणंति ॥६८॥

इन्द्र फनिन्द्र नरेन्द्र ये, जिय न शरण दातार।
आत्म को आत्मशरण, बुधमुनि करत विचार ॥६८॥

अन्वयार्थ—(**इंदं-फणिंद-णरिंदय वि जीवहं सरणु ण होंति**) इन्द्र, धरणेन्द्र, व चक्रवर्ती कोई भी संसारी प्राणियों के रक्षक नहीं हो सकते (**मुणि-धवला असरणु जाणिवि**) उत्तम—मुनि अपने को अशरण जानकर (**अप्पा अप्प मुणंति**) अपने आत्मा द्वारा आत्मा का अनुभव करते हैं।

भावार्थ—संसारी प्राणी कर्मों के उदय को भोगते हैं तब कोई उस उदय को मिटा नहीं सकता। जब आयु कर्म का क्षय होता है मरण हो जाता है, किसी इन्द्र, धरणेन्द्र व नरेन्द्र में, मन्त्रज्ञाता में, विद्वान में, तपस्वी में, परममित्र में, माता-पिता में, पुत्र-पुत्री में, वैद्य व

ज्योतिषी में शक्ति नहीं है कि मरण से एक क्षण भी रोक सके। सर्व प्रकार भोगों को भोगने वाले चक्रवर्ती को भी शरीर त्यागना पड़ता है। इसी तरह जब पाप कर्मों का तीव्र उदय आ जाता है तब रोग, शोक दुःखादिक को सहना पड़ता है तब भी कोई दुःख को बटा नहीं सकता है। प्राणी को अकेले ही भोगना पड़ता है, माता को पुत्र पर बहुत प्रेम होता है व पुत्र के रोगी होने पर वह मोह से दुःख मानती है परन्तु ऐसी शक्ति माता में नहीं है जो पुत्र के रोग की वेदना को पुत्र को न भोगने दे, आप भोग लेवे।

कोई किसी के दुःख या सुख को या साता असाता वेदनीय कर्म को नहीं ले सकता। कर्मों के फल भोगने में सब जीवों को स्वयं ही वर्तना पड़ता है, कोई भी रक्षा नहीं कर सकता। जो कर्म अभी सत्ता में हैं उदय में नहीं आए हैं उन कर्मों की स्थिति व अनुभाग घटाकर क्षय किया जा सकता है या पापकर्मों को निर्बल व पुण्य कर्म को सबल किया जा सकता है। उनमें कारण उसी जीव के परिणाम हैं। जो कोई अपने शुद्धात्मा की भावना भावें व अरहन्त सिद्ध आचार्य उपाध्याय साधु की भक्ति करें या कृतपाप का प्रतिक्रमण करें, गुरु के पास आलोचना करें तो निर्मल भावों से कर्मों की अवस्था को बदला जा सकता है, उनका क्षय किया जा सकता है।

इसलिये यह जीव आप ही अपना रक्षक है। दूसरा जीव दूसरे जीव का रक्षक नहीं है ऐसा जानकर ज्ञानी मुनिराज अपने शुद्धात्मा का ही अनुभव करते हैं। जब आत्मध्यान में उपयोग नहीं लगता है तब स्वाध्याय, भक्ति, मनन में व परोपदेश में व वैयावृत्य में व तत्वचर्चा में उपयोग को जोड़ते हैं।

सम्यग्दृष्टी ज्ञानी को अशरण भावना का विचार करके कर्मों के क्षय का उपाय करना योग्य है जिससे कर्मों के उदयकाल में दुःख व खेद व आकुलता न सहनी पड़े। जन्म, जरा मरण के सङ्कटों में न पड़ना पड़े। कर्मों का संयोग एक क्षण के लिये भी आत्मा के लिये गुणकारी नहीं है। ज्ञानी जीव इसलिये इस संसार के साथ मोह त्याग

देते हैं। सर्व जीवों की सत्ता भिन्न-भिन्न मानकर उनसे रागद्वेष नहीं करते हैं समभाव से जगत के चरित्र को देखकर पूर्ण वैराग्यवान होकर आत्महित में प्रवर्तते हैं। कर्म के क्षय पर कटिबद्ध हो जाते हैं। आत्म-ध्यान की अग्नि जलाकर कर्म का होम करते हैं। जब यह आत्मा शुद्ध व कर्मरहित हो जायगा तब वह स्वाधीन हो जायगा। फिर कभी कर्मों के उदय की पराधीनता में नहीं रहना पड़ेगा। कर्मभूमि के मानव को आयुक्षय का नियम नही है, अकाल मरण हो सकता है, ऐसा जानकर शीघ्र से शीघ्र आत्महित में लग जाना चाहिये। आपसे ही अपने आत्मा की शरण को परम शरण जानना चाहिये।

समयसार में कहा है—

जो अप्पणादु मण्णदि दुःहिदसुहिदे करेमि सत्तेति।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तोदु विवरीदो ॥२६५॥

भावार्थ—जो कोई ऐसा अहंकार करे कि मैं परजीवों को दुःखी व सुखी कर सकता हूँ, वह मूर्ख व अज्ञानी है। क्योंकि सर्व जीव अपने-अपने पाप पुण्य कर्म के उदय से दुःखी या सुखी होते हैं। ज्ञानी जीव इस अहंकार से दूर रहते हैं।

बृहत् सामायिक पाठ में कहा है—

न वैद्या न पुत्रा न विप्रा न शक्रा न कांता न माता न भृत्या न भूपाः।
यमालिंगितं रक्षितुं संति शक्या विचिंत्येति कार्यं निजं कार्यमार्यैः ॥३३॥

भावार्थ—जब मरण आ जाता है तो न वैद्य, न पुत्र, न ब्राह्मण न इन्द्र, न अपनी स्त्री न माता, न नौकर न राजा कोई भी बचा नही सकते हैं। ऐसा विचार करके सज्जनों को आत्मीक काम कर लेना योग्य है, देर न लगानी चाहिये।

जीव सदा अकेला है

इक्क उपज्जइ मरइ कु वि दुहु सुहु भुंजइ इक्कु।
णरयहं जाइ वि इक्क जिउ तह णिव्वाणहं इक्कु ॥६९॥

जन्म मरण इकला करे, दुःख सुख भोगे एक।
दुर्गति शिव पद एक ले, यह दृढ़ करो विवेक ॥६९॥

अन्वयार्थ—(**इक्क उपज्जइ मरइ कु वि**) जीव अकेला ही जन्मता है व अकेला ही मरता है (**इक्कु दुहु सुहु भुंजइ**) अकेला ही दुःख या सुख भोगता है (**इक्क जिय णरयहं जाइ वि**) अकेला ही जीव नरक में भी जाता है (**तह इक्कु णिव्वाणहं**) तथा अकेला जीव फिर निर्वाण को प्राप्त होता है।

भावार्थ—यहां एकत्व भावना का विचार किया गया है। व्यवहार नय से यह संसारी जीव शरीर सहित अशुद्ध दशा में चारों गतियों में कर्मोदय के अनुसार भ्रमण किया करता है। इस भ्रमण से इस जीव को अकेला ही जन्मना व अकेला ही मरना पड़ता है। हर एक जन्म में माता पिता भाई बन्धु वगैरह मित्र व अन्य चेतन व अचेतन पदार्थों का संयोग होता रहा, छुटता रहा। इस जीव को अकेला ही सबको छोड़कर दूसरी गति में जाना पड़ा। एक पाप पुण्य कर्म ही साथ रहा।

कर्मों का बंध यह जीव अपने शुभ व अशुभ भावों से जैसा करता है वैसा ही उनका फल यह जीव अकेला ही भोगता है। यदि कोई मोही मानव कुटुम्ब के मोह में पर को घोर कष्ट देकर धन कमाता है, महान् हिंसा, झूठ, चोरी, कुशीलादि पाप करता है उन कर्मों को करते हुए यदि नरकायु का बंध पड़ता है तो इस जीव को अकेला ही नरक में जाकर दुःख सहना पड़ता है, कोई कुटुम्बीजन साथ नहीं आ सकता है।

इसी तरह यदि कोई शुभ काम करता है व पुण्य बांधकर स्वर्ग जाता है तो अकेला ही वहां का सुख भोगना पड़ता है। वह अपने साथ

किसी मित्र या स्त्री या पुत्र को भी ले जा नहीं सकता है। हर एक जीव की सत्ता निराली है।

कर्मों का बंध निराला है, भावों का पलटना निराला है, साता व असाता का भोगना निराला है। चार भाई एक सी स्थिति में नहीं पाए जाते हैं। एक धनवान होकर सांसारिक सुख भोगता है, एक निर्धन होकर कष्ट से जीवन निर्वाह करता है, एक विद्वान होकर देशमान्य हो जाता है, एक मूर्ख रहकर निरादर पाता है। जब रोग आता है तब इस जीव को उसकी वेदना स्वयं ही सहनी पड़ती है, पास में बैठने वाले कोई भी उस वेदना को नहीं भोग सकते हैं।

संसार के कार्यों में भी इस जीव को अकेला ही वर्तना पड़ता है। सब ही संसारी जीव अपने-अपने स्वार्थ के साथी हैं। स्वार्थ न सधने पर स्त्री, पुत्र, मित्र, चाकर सब प्रीति त्याग देते हैं। इसलिये ज्ञानी जीव को समझना चाहिये कि मैं ही अपनी मन, वचन, काय की क्रिया का फल आप अकेला ही भोगूंगा। अतएव दूसरों के असत्य मोह में पड़कर पापकार्य को न करना चाहिये। विवेक पूर्वक आत्महित जिसमें सधे उस तरह वर्तना चाहिये। नौका में पथिकों के समान सर्व संयोग को छूटने वाला अथिर मानना चाहिये। उनमें राग, द्वेष, मोह न करके समभाव में वर्तना चाहिये। भीतर से निर्मोह रहकर उनका उपकार करना चाहिये, परंतु अपने को जल मे कमल के समान अलिप्त रखना चाहिये।

यह जीव जैसे आप अकेला संसार की चार गतियों में भ्रमता है वैसे ही यदि यह रत्नत्रय धर्म का सम्यक् प्रकार आराधन करे तो आप ही अकेला निर्वाण चला जाता है। उसके साथी यदि उसके समान सम्यक् चरित्र नहीं पालते हैं तो वे निर्वाण नहीं जा सकते।

निश्चय नय से भी यह जीव बिल्कुल अकेला है। हर एक जीव का द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव दूसरे जीव से निराला है। हर एक जीव परम शुद्ध है। न आठों कर्मों का संयोग है, न शरीर का संयोग है, न विभाव भावों का संयोग है। पुद्गलादि पांच अचेतन द्रव्यों से बिलकुल

भिन्न है। सिद्ध के समान शुद्ध निरंजन व निर्विकार है, इस तरह अपने को अकेला जानकर अपने स्वभाव में मगन रहना चाहिये।

बृहत् सामायिक पाठ में कहा है—

गौरो रूपधरो दृढ: परिवृढ: स्थूल: कृश: कर्कशो,
गीर्वाणो मनुज: पशुर्नरकभू: षंढ: पुमानंगना।
मिथ्यात्वं विदधासि कल्पनमिदं मूढोऽविबुध्यात्मनो,
नित्यं ज्ञानमयस्वभावममलं सर्व्वव्यपायच्युतं ॥७०॥

भावार्थ—तू मूढ बनकर यह मिथ्या कल्पना किया करता है कि मैं गोरा हूं, रूपवान हूँ, मजबूत शरीर हूं, पतला हूँ कठोर हूँ, देव हूं, मनुष्य हूँ, पशु हूं नारकी हूं, नपुंसक हूं, पुरुष हूँ, स्त्री हूँ। तू अपने आत्मा को नहीं जानता है कि यह एक अकेला ज्ञानस्वभावी, निर्मल सर्व दु:खों से रहित अविनाशी द्रव्य है।

——*——

निर्मोही हो आत्मा का ध्यान कर

एक्कुलउ जइ जाइसिहि तो परभाव चएहि।
अप्पा झायहि णाणमउ लहु सिव-सुक्ख लहेहि ॥७०॥

जन्म मरण इकला करे, यह लख तज परभाव।
ध्यावो अपने रूप को, शीघ्र बनो शिवराव ॥७०॥

अन्वयार्थ—(जइ एक्कुलउ जाइसिहि) यदि तू अकेला ही जायगा (तो परभाव चएहि) तो राग द्वेष मोहादि परभावों को त्याग दे। (णाणमउ अप्पा झायहि) ज्ञानमय आत्मा का ध्यान कर (लहु सिव-सुक्खं लहेहि) तो शीघ्र ही मोक्ष का सुख पाएगा।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि हे शिष्य ! यदि तुझको यह निश्चय हो गया है कि तू एक दिन मरेगा तब तुझे परलोक में अकेला ही जाना पड़ेगा कोई भी चेतन या अचेतन पदार्थ तेरे साथ नहीं जायेंगे। जिनसे तू राग करता है वे सब यहां ही छूट जायेंगे, तब तेरा

उनसे राग करना वृथा है। ऐसे क्षणभंगुर पदार्थों से राग करना शोक का व दुःख का कारण है।

इसलिये तू अब ऐसा कामकर जिससे तुझे थिरता प्राप्त हो। अविनाशी मोक्ष का अनुपम सुख प्राप्त हो। संसार में जन्म मरण करना नहीं पड़े। इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग के कष्ट सहना न पड़े। पराधीन होकर पापकर्मों का फल न भुगतना पड़े, जिससे तू निरंतर सुखी रहे। कभी भी बाधा न पावे व पूर्ण स्वाधीन हो जावे, परम कृतार्थ हो जावे, तृष्णा की ज्वाला शांत हो जावे, कषाय की आग बुझ जावे। परम शांति का प्रवाह निरन्तर बहने लगे, सर्व लोकालोक का ज्ञाता दृष्टा हो जावे। निरन्तर आत्मा के ही उपवन में रमण करे, कभी भी खेद न प्राप्त करे। तुझे योग्य है कि मरने के पहले ही यत्न करले। मानवदेह से ही शिवपद मिल सकता है; देव, नारकी, पशु देह से कभी भी नहीं प्राप्त हो सकता है।

इस अवसर को खोना उचित नही है। वह उपाय यही है कि जो-जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अपना नही है उसे पर समझकर उन सबसे राग उठाले। केवल अपने ही ज्ञान स्वरूपी आत्मा के द्रव्य क्षेत्र काल भाव को अपना जानकर उसमें ही परम रुचिवान हो जा, उसीका प्रेमी हो जा। उसी में मगन रहने का, उसी के ध्यान का अभ्यास कर आत्मीक रस के पान का उद्यम कर। जगत में अनन्तानन्त आत्माओं का, अनंतानन्त पुद्गलों का, असंख्यात कालाणुओं का, एक धर्मद्रव्य का, एक अधर्मद्रव्य का, एक आकाश द्रव्य का–द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आत्मा के द्रव्य क्षेत्र काल भाव से निराला है।

मेरे आत्मा का अखण्ड अभेद एक द्रव्य है, असंख्यात प्रदेश क्षेत्र है, समय परिणमन काल है, ज्ञानदर्शन सुख वीर्यादि शुद्ध भाव है, यही मेरा सर्वस्व है। कर्म संयोग से होने वाले रागद्वेष मोह भाव, संकल्प विकल्प, विभाव मतिज्ञानादि चार ज्ञान आदि सब पर हैं। जिन-जिन भावों में पुद्गल का निमित्त है वे सब भाव मेरे निज स्वाभाविक भाव नहीं हैं, मैं तो एकाकार परम शुद्ध स्वसंवेदना गोचर एक अविनाशी द्रव्य हूँ।

भव्य पुरुष परम वैराग्यवान होकर, परमाणु मात्र को अपना न जानकर संसार के क्षणिक सुख को आकुलता का कारण दुःख समझकर एक अपने ही आत्मा के ध्यान में मगन होगा। आत्मानुभव ही एक अमोघ उपाय है। इससे ही अनन्त आत्माएँ शिव-सुख को पा चुके हैं, तू भी इसी उपाय से शिव-सुख पावेगा। समयसार में कहा है—

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्यात्मक—
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति।
तस्मिन्नेव निरन्तर विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं बिन्दति ॥४७-१०॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की एकता रूप ही एक निश्चित मोक्षमार्ग है जो कोई अन्य द्रव्यों का स्पर्श न करके एक इस ही आत्मामयी भाव में ठहरता है, उसी को निरन्तर ध्याता है, उसको चेतता है, उसी में निरन्तर विहार करता है, वह अवश्य शीघ्र ही नित्य उदयरूप समयसार या शुद्धात्मा का लाभ करके उसी का निरन्तर अनुभव करता रहता है, परम आनन्दी हो जाता है।

पुण्य को पाप जाने वही ज्ञानी है

जो पाउ वि सो पाउ मुणि सव्वु इ को वि मुणेइ।
जो पुण्णु वि पाउ वि भणइ सो बुह को वि हवेइ ॥७१॥

पापहिपापरु पुण्य को, पुण्य कहत सब लोइ।
कहे पुण्य को पाप जो, बिरला पंडित कोइ ॥७१॥

अन्वयार्थ—(जो पाउ वि सो पाउ मुणि) जो पाप है उसको पाप जानकर (सव्वु इ को वि मुणेइ) सब कोई उसे पाप ही जानता है (जो पुण्णु वि पाउ भणइ) जो कोई पुण्य को भी पाप कहता है (सो बुह को वि हवेइ) वह बुद्धिमान कोई बिरला ही है।

भावार्थ—जगत के सर्व ही प्राणी सांसारिक दुःखों से डरते हैं

तथा इन्द्रिय सुख को चाहते हैं। साधारणतः यह बात प्रसिद्ध है कि पाप से दुःख होता है व पुण्य से सुख होता है जब धर्म की चर्चा होती है तब यही विचार किया जाता है कि पाप कर्म न करो, पुण्यकर्म करो। पुण्य से उच्च कर्म मिलते हैं, धन का, पुत्र का, बहु कुटुम्ब का, राज्य का व अनेक विषयभोगों की सामग्री का लाभ एक पुण्य ही से होता है। इन्द्रपद, अहमिन्द्र पद, चक्रवर्ती पद, नारायण व प्रतिनारायण पद, कामदेव, तीर्थंकर पद आदि महान महान पद पुण्य से ही मिलते हैं। यहाँ आचार्य कहते हैं कि जो संसार के भोगों के लोभ से पुण्य को ग्रहणयोग्य मानते हैं वे मिथ्यादृष्टी अज्ञानी हैं। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी पाप के समान पुण्य को भी बन्धन जानते हैं, वे पुण्य को भी पाप कहते हैं। जिससे संसार में रहना पड़े, विषयभोगों में फँसना पड़े, यह स्वाधीनता का घातक पुण्य भी पाप ही है। ज्ञानी को तो एक आत्मीक आनन्द ही प्यारा है। उसका पूर्ण लाभ व अनन्तकाल के लिये निरन्तर लाभ तब ही होता है जब यह जीव संसार से मुक्त होकर सिद्ध परमात्मा हो जावे, पुण्य पाप से रहित हो जावे। इसलिए ज्ञानी जीव पुण्य पाप दोनों दोषों को बन्धन की अपेक्षा समान जानते हैं।

दोनों के बन्ध का कारण कषाय की मलीनता है, मन्द कषाय से पुण्य व तीव्र कषाय से पाप बन्धता है, कषाय आत्मा के चारित्र गुण के घातक हैं। दोनों का स्वभाव पुद्गल है। सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम, उच्च गोत्र, पुण्य कर्म व असातावेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम, नीच गोत्र तथा चार घातीय कर्म पापकर्म हैं। दोनों की कर्म-वर्गणाएँ हैं, आत्मा के चेतन स्वभाव से भिन्न हैं।

पुण्य का अनुभव सुखरूप है, पाप का अनुभव दुःखरूप है। ये दोनों ही अनुभव आत्मा के स्वाभाविक अनुभव से विरुद्ध हैं व शुद्धात्मा में रमण के घातक हैं दोनों ही अनुभव कषाय की कलुषता के स्वाद हैं। पुण्य व पाप दोनों ही पुनः बन्ध के कारण हैं। दोनों में तन्मय होने से कर्म का बन्ध होता है। यह बंध मोक्षमार्ग में विरोधी है, ऐसा जान कर ज्ञानी जीव पाप के समान पुण्य को भी भला व ग्रहण योग्य नहीं मानते हैं, वे शुभ भावों से व अशुभ भावों से दोनों से विरक्त रहते

है। कर्म अपकारक व आत्मानन्दनाशक एक शुद्धोपयोग को ही मान्य करते हैं।

सम्यग्दृष्टी अविरती होने पर भी व गृहस्थ में धर्म, अर्थ, काम, पुरुषार्थ साधन में अनुरक्त होने पर भी सब ही शुभ अशुभ कार्यों को चारित्रमोहनीय के उदय के आधीन होकर करता है, परन्तु इस सर्व काम को अपना आत्मीक हित नहीं मानता है। वह तो यही मानता है कि निरन्तर आत्मीक बाग में रमण करूँ, वीतरागता का ही सेवन करूँ।

कषाय के उदय को आत्म वीर्य की कमी से सहन नहीं कर सकता है इसलिये सर्व ही गृहस्थ योग्य काम करता है परन्तु उनमें आसक्त व मगन नहीं होता है। पूजापाठ, परोपकार, दानादि कार्य को करके वह पुण्य का बन्ध व सांसारिक इन्द्रिय सुख नहीं चाहता है, वह तो कर्मरहित दशा का ही उत्साही व उद्यमी रहता है यद्यपि शुभ भावों का फल पुण्य का बंध है तथापि ज्ञानी उसको भी पाप के समान बंध ही जानता है। ज्ञानी निर्वाण का पथिक है वह मात्र निश्चय रत्नत्रय स्वभावमई धर्म को या स्वानुभव को ही उपादेय या ग्रहण योग्य मानता है पुण्य को भी पाप के समान ही वह जानकर छुड़ाना चाहता है। समयसार कलश में कहा है—

> संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना,
> संन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा।
> सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतुर्भव-
> न्नै :कर्म्यप्रतिबद्धमुद्धतरसज्ञानं स्वयं धावति ॥१०-४॥

भावार्थ—मोक्ष के अर्थी को सर्व ही कर्म त्यागना चाहिये। सर्व ही कर्म का त्याग आवश्यक है, तब वहां पुण्य पाप की क्या कथा है। ऐसे ज्ञानी के भीतर सम्यग्दर्शन आदि अपने स्वभाव को लिये हुए व कर्मरहित भाव में तन्मयरूप, शांतरस से पूर्ण मोक्ष का कारण ऐसा आत्मज्ञान स्वयं विराजता है।

———※———

पुण्य कर्म सोने की बेड़ी है

जह लोहम्मिय णियड बुह तह सुण्णम्मिय जाणि ।
जे सुह असुह परिच्चयहि ते वि हवंति हु णाणि ॥७२॥

जैसी बेड़ी लोह की, त्यों सोने की जान ।
बुरी भली निश्चय करे, सो न सुधी अज्ञान ॥७२॥

अन्वयार्थ—(**बुह**) हे पंडित ! (**तह लोहम्मिय णियड तह सुण्णमिय जाणि**) जैसे लोहे की बेडी है वैसे ही सुवर्ण की बेड़ी है ऐसा समझ (**जे सुह असुह परिच्चयहि**) जो शुभ अशुभ दोनों प्रकार के भावों का त्याग करते है (**ते वि हु णाणि हवंति**) वे ही निश्चय करके ज्ञानी है।

भावार्थ—पुण्य पाप कर्म दोनों ही बन्धन है, पुण्य को सोने की तथा पाप को लोहे की बेड़ी कह सकते है । दोनों ही कर्म संसार वास मे रोकने वाले है । जब दोनों बेड़ियों का विघठन होता है तब ही यह जीव स्वाधीन मोक्षसुख को पाता है । अतएव ज्ञानी को उचित है कि पुण्य पाप दोनो ही प्रकार के बन्धनो को हेय समझे । मद कषाय के भावों को शुभोपयोग व तीव्र कषाय के भावों को अशुभोपयोग कहते है। दोनों से ही बध होता है । चार घातीय कर्म या बंध दोनो उपयोगों से होता है।

अघातीय मे सातावेदनीयादि पुण्य प्रकृतियों का बंध शुभ भावों से व असातावेदनीयादि पाप प्रकृतियों का बध अशुभ भावों से होता है । मद कषाय से आयु के सिवाय सर्व ही कर्मों में स्थिति थोड़ी व तीव्र कषाय से स्थिति अधिक पडती है। आयुकर्म मे नरक स्थिति तीव्र कषाय से अधिक व मंदकषाय से कम पड़ती है । तब तिर्यंच, मनुष्य, देव तीन आयु की स्थिति मदकषाय से अधिक व तीव्र कषाय से कम पड़ती है । किन्तु अनुभाग पाप कर्मों मे अर्थात् चार घातीय व असाता वेदनीयादि पाप कर्मों मे तीव्र कषाय से अधिक पडता है, मंदकषाय से कम पडता है किन्तु सातावेदनीयादि पुण्यकर्मों में तीव्र कषाय से कम व मन्दकषाय से अनुभाग अधिक पडता है । पापकर्म के फल से नरक, तिर्यंच या क्षुद्र मानव भवों मे दुःख भोगना पड़ना है । पुण्य के फल से देवगति में या उत्तम मानव भव मे पाँच इन्द्रियों के भोग की प्रचुर सामग्री का लाभ होता है ।

संसारी प्राणी के भाव निमित्ताधीन प्राय: होते हैं। विषयभोग की अधिक सामग्री पाकर उनके भोगने की तीव्र लालसा होती है। अज्ञानी प्राणी विषयभोगों में लीन हो जाते हैं। विषयभोग की तृष्णा विषयभोग से और बढ़ जाती है तब विषयभोगों में अधिक मगन हो जाते हैं तब आत्मा का हित भूल जाते है। विषयासक्त मानव अनेक प्रकार के अन्याय से धन का संचय करते हैं व इच्छित भोगों की प्राप्ति का यत्न करते हैं, नहीं मिलने पर दु:खी होते हैं, मिलने पर भोग करके तृष्णा अधिक बढ़ा लेते है, वियोग होने पर शोक करते हैं।

पुण्य के फल से प्राप्त विषयभोगों के भीतर फँस जाने से विषयी मानव नरक निगोदादि मे चले जाते हैं। देवगति वाले भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी व दूसरे स्वर्ग पर्यत के देव मर के एकेन्द्रिय पृथ्वी, जल, वनस्पति काय में जन्म ले लेते है। बारहवें स्वर्ग तक के देव पंचेन्द्रिय पशु तक हो जाते हैं। नौग्रेवेयिक तक के देव मानव जन्मते हैं। विषयभोगों की आकुलता सो तृष्णा रोग है, उस रोग से पीड़ित प्राणी घबड़ा कर विषयभोगो में तृष्णा के शमन के लिये जाता है। भोग करके क्षणिक तृप्ति उस समय तक पाकर फिर और अधिक तृष्णा को बढ़ा लेता है। दु.खो के साधनों में जो आकुलता होती है वैसी ही आकुलता तृष्णारूपी रोग के बढ़ने में होती है।

इस जीव ने बार-बार देवगति तथा मनुष्यगति के पाँच इन्द्रियों के विषयभोग किये है, परन्तु तृष्णा की दाह शमन न हो सकी। इसलिए ज्ञानीजन विषय सुख को हेय समझते है, तब विषय सुख के कारण पुण्य कर्म को हेय जानते है तब पुण्यबन्ध के कारण शुभोपयोग को भी हेय समझते है। मात्र शुद्धोपयोग की भावना करते हैं जिससे तिर्यंच में भी अतीन्द्रिय सुख होता है, कर्मों का क्षय होता है व मोक्षमार्ग तय होता है। शुद्धोपयोग में ठहरने की शक्ति नही होने पर ज्ञानी जीव शुभोपयोग में वर्तते हैं, परन्तु पुण्य की इच्छा नहीं रखते हैं। वस्तु स्वभाव से पुण्यबन्ध होता है। इसलिये बन्धकारक शुभोपयोग से विरक्त रहकर शीघ्र ही शुद्धोपयोग पाने का यत्न किया करते है।

प्रवचनसार में कुन्दकुन्द महाराज कहते हैं—

जदि संति हि पुण्णाणि य परिणाम समुब्भवाणि विविहाणि ।
जणयंति विसयतण्हं जीवाणं देवदंताणं ॥७४॥
ते पुण उदिण्ण तण्हा दुहिदातण्हाहि विसयसोक्खाणि ।
इच्छंति अणुहवंति य आमरणं दुःखसंतत्ता ॥७५॥

भावार्थ—शुभोपयोग से बांधे हुए नाना प्रकार पुण्यकर्म देव-पर्यन्त शरीरों को विशेष सामग्री का संयोग मिलाकर विषयोंकी तृष्णा पैदा कर देते हैं। वे देवादि तृष्णा के कारण दुःखी होते हैं। तृष्णा के रोग से पीड़ित होकर विषय सुख चाहते हैं। मरणपर्यंत भोगते रहते हैं तौभी दुःखों से संतापित रहते हैं। तृष्णा नहीं मिटती है।

——:०:——

भावनिर्ग्रन्थ ही मोक्षमार्गी है

जइया मणु णिग्गंथु जिय तइया तुहुं णिग्गंथु ।
जइया तुहुं णिग्गंथु जिय तो लब्भइ सिवपंथु ॥७३॥

हे जिय जो निर्ग्रन्थ मन, तो तू भी निर्ग्रन्थ ।
रागादिक मल त्याग से, पावेगा शिव पंथ ॥७३॥

अन्वयार्थ—(**जिय जइया मणु णिग्गंथु**) हे जीव ! जब तेरा मन निर्ग्रंथ है (**जइया तुहुं णिग्गंथु**) हे जीव ! जब तू निर्ग्रंथ है (**तो सिवपंथु लब्भइ**) तो तूने मोक्षमार्ग पा लिया।

भावार्थ—निर्ग्रंथ पद ही साधुपद है। संयम का साधन साधु ही कर सकता है, क्योंकि वही आरम्भ परिग्रह को त्याग कर अहिंसादि पाँच महाव्रतों को यथार्थ पाल सकता है। गृहस्थावस्था में आरम्भ परिग्रह के कारण हिंसादि पाँच पापों के विकल्प नहीं मिटते हैं। मन में निश्चलता की बाधक परिग्रह की चिन्ता है। उत्तम धर्मध्यान प्रत्याख्यान कषाय के उदय से व निमित्त पूर्ण वैराग्य के न होने से गृहस्थी के नहीं हो सकता। इसलिए तीर्थंकरादि महापुरुषों ने भी गृहस्थपद त्यागकर साधुपद धारण किया।

बाहरी परिग्रह का त्याग इसलिये जरूरी है कि परिग्रह मूर्छा-भाव के पैदा करने के निमित्त हैं। इसी ममता के त्याग के लिये महापुरुष, स्त्री, पुत्र, धन राज्य, सम्पदा को त्याग कर प्रकृति रूप में हो जाते हैं वस्त्राभूषण त्याग कर बालक के समान नग्न हो जाते हैं। जहाँ तक वस्त्र का ग्रहण है वहाँ तक परिग्रह कापूर्ण त्याग नहीं है। दिशाओं को ही जहाँ वस्त्र कल्पा जावे वही दिगम्बर या निर्ग्रंथ भेष है। यह निर्ग्रंथ का नग्न भेष जहाँ मोरपिच्छिका जीवदया के लिये व काठ का कमण्डल शौच के लिये या कभी शास्त्रज्ञान के लिए रखा जाता है। अन्तरंग, निर्ग्रंथ होने का निमित्त साधन है। निमित्त के बिना उपादान काम नहीं करता है। जब आग पानी का निमित्त होता है तब ही चावल पक कर भात बनता है।

अन्तरंग में मन को ग्रन्थरहित करना चाहिये मन से सर्व राग-द्वेष मोह हटाना चाहिये। बुद्धिपूर्वक चौदह प्रकार के अन्तरंग परिग्रह का त्याग होना चाहिये। मिथ्यादर्शन, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य रति, अरति, शोक भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद नपुंसकवेद भावों का त्याग करके सम्यग्दृष्टी कष्ट दिये जाने पर भी उत्तम क्षमावान, विद्या व तप संयम होने पर भी परम कोमल, मन, वचन, काय का वर्तन सरल रख के परम आर्जव गुणयुक्त, सर्व पर वस्तु का लोभ त्याग के परम सन्तोषी व पवित्र, हास्य रहित गम्भीर, रति व अरति रहित समभावी, शोक रहित परम प्रसन्न, भय रहित निर्मल, घृणा रहित वस्तु स्वभाव के मर्मी, तीन वेद भाव रहित परम ब्रह्मचारी रहना योग्य है।

मन के भीतर से सर्व ममता का, रागद्वेष का मैल निकाल कर फेंक देना चाहिये, परम वीतराग, समदर्शी, सर्व प्राणी मात्र पर करुणा-भाव, परम सन्तोषी, आत्मरस पिपासु, विषयरस विरत होना ही भाव निर्ग्रंथ पद है। धान्य का बाहरी छिलका हटाए बिना भीतर का पतला छिलका दूर नहीं हो सकता, शुद्ध चावल नहीं मिल सकता। कोई बाहरी छिलका ही हटावे, भीतरी नहीं हटावे तो वह शुद्ध चावल नहीं पा सकेगा, इसी तरह बाहरी परिग्रह के त्याग बिना अन्तरंग रागभाव नहीं मिट सकता। बाहरी निर्ग्रंथ हुए बिना अन्तरंग निर्ग्रंथ नहीं हो

सकता। यदि कोई बाहरी निर्ग्रंथ हो जावे परन्तु भीतर से निर्ग्रंथ न हो, वीतरागी न हो, समदर्शी न हो, आत्मानन्द रसिक न हो तो वह निर्ग्रंथ नहीं है।

भाव निर्ग्रंथ ही वास्तव मे मोक्ष का मार्ग है, केवल व्यवहार-चारित्र मोक्षमार्ग नही है। रत्नत्रयमई अन्तरंग स्वानुभव रमणरूप निश्चयचारित्र है, यही यथार्थ शिवपंथ है, इसी पर चलकर ज्ञानी मोक्षनगर में पहुंच जाते हैं। **पुरुषार्थसिद्धयुपाय** में कहा है—

मिथ्यात्ववेदरागास्तथैव हास्यादयश्च षड्दोषाः।
चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः ॥११६॥
निजशक्त्या शेषाणां सर्वेषामन्तरङ्गसंगानाम्।
कर्तव्य परिहारो मार्दवशौचादिभावनया ॥१२६॥
बहिरङ्गादपि संगाद्यास्मात्प्रभवत्यसयमोऽनुचितः।
परिवर्जयेदशेष तमचित्तं वा सचित्तं वा ॥१२७॥

भावार्थ—मिथ्यात्वादि चौदह प्रकार अन्तरंग ग्रन्थ हैं। अपनी शक्ति से इन सर्व अन्तरग परिग्रह का त्याग करे। मार्दव, शौच आदि भावना से भाव को पवित्र रक्खे, क्योंकि बाहरी परिग्रह से अनुचित असंयम होता है, इसलिये सर्व ही सचित्त व अचित्त परिग्रह को त्याग करे। उभय प्रकार निर्ग्रंथ हो जावे

—:०:—

देह में भगवान होता है

जं वडमज्झहं बीउ फुडु बीयहं वडु वि हु जाणु।
तं देहहं देउ वि मुणहि जो हइलोय-पहाणु ॥७४॥

यथा बीज में बड़ प्रगट, बड़ में बीज सुजान।
तथा देह में जीव है, अनुभव से पहिचान ॥७४॥

अन्वयार्थ—(**जं वडमज्झहं बीउ फुडु**) जैसे वर्गद के वृक्ष में उसका बीज स्पष्टपने व्यापक है (**बीययं वडु वि हु जाणु**) वैसे वर्गद के वृक्ष को भी जानो (**तं देहह देउ वि मुणहि**) तैसे इस शरीर में उस

देव को भी अनुभव करो (सो तइलोय-पहाणु) जो तीन लोक में प्रधान है।

भावार्थ—अपना आत्मा अपने शरीर में व्यापक है—शरीर प्रमाण है। शरीर-प्रमाण आकार लिये शरीर में है। जैसे बगंद में बीज व बीज में बगंद व्यापक है। यह आत्मा स्वयं तीन लोक में मुख्य पदार्थ परमात्मा देव है। ज्ञानी को यह विचारना चाहिए कि मेरा आराधने योग्य या ध्यान करने योग्य मेरा ही आत्मा है। आसन लगाकर बैठ जाओ तब यही विचार करे कि जैसा इस मेरे शरीर का आकार है, वैसा ही आकार मेरे आत्मीक प्रभु का है।

आत्मा असंख्यात प्रदेशी होकर भी शरीरप्रमाण रहता है। आत्मा देव को तैजस, कार्मण, औदारिक तीनों शरीरों से भिन्न देखे। सर्व रागादि भावों से भिन्न देखे। कर्म के निमित्त से होने वाले औदयिक, औपशमिक क्षायोपशमिक भावों से भिन्न एक शुद्ध पारिणामिक स्वभावधारी देखे। द्रव्य दृष्टि से जीव के साथ कर्मों का संयोग नहीं दिखता है तब कर्म की अपेक्षा से होने वाले भाव भी नहीं दिखते हैं। क्षायिक भाव यद्यपि अपने ही आत्मा के निज भाव हैं परन्तु कर्मों के क्षय से प्रगटे हैं, इस दृष्टि से कर्म सापेक्ष हो जाते हैं। कर्मों की अपेक्षा न लेने वाले द्रव्यार्थिक नय में इस क्षायिक भाव का भी विचार नहीं आ सकता है। अनादि से अनन्तकाल तक सब वस्तु को अपने मूल स्वभाव में दिखाने वाला द्रव्यार्थिक नय है।

इस दृष्टि से देखते हुए आत्मा के साथ न कभी कर्म का सम्बन्ध था, न है, न होगा। तीन काल में एक स्वरूप में शुद्ध स्फटिकमणि के समान दिखने वाला यह आत्मा है। यद्यपि कर्मों के संयोग से नर नारक पशु देव बार-बार हुआ, यह विचार पर्याय की दृष्टि से है तो भी द्रव्य दृष्टि से यह आत्मा जैसा का तैसा बना रहा। इस आत्मा ने अपने स्वरूप का कुछ भी खोया नहीं। पर्याय दृष्टि से यह चंचल दिखता है। इसमें मन वचन काय के निमित्त से प्रदेशों का कम्पन होता है व योगशक्ति कर्म नोकर्म को ग्रहण करती है तथापि द्रव्यदृष्टि

से वह मन वचन काय से रहित है, चंचलता रहित परम निश्चल है; कर्म नोकर्म को ग्रहण नहीं करता है पर के ग्रहण व स्वगुण के त्याग से रहित है।

भेद दृष्टि से यह आत्मा अस्तित्व वस्तुत्व, प्रमेयत्व द्रव्यत्व अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व इन छः प्रकार के सामान्य गुणों से व ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यग्दर्शन, चारित्र आदि शुद्ध गुणों का धारी है तो भी अभेद दृष्टि से यह एक रूप अखंड सर्व गुणों का पिंड एक शुद्ध द्रव्य ही दिखता है। यद्यपि पर्याय दृष्टि से रागद्वेष मोहादि विभावों से संतापित व अशांत दिखता है तो भी द्रव्यदृष्टि से यह बिल्कुल विभावों से रहित परम शान्त दिखता है। द्रव्यार्थिक नय से अपने शरीर के भीतर शुद्ध स्वरूपी अपने आत्मा को देखना चाहिए। वैसे ही जगत में सर्व आत्माओं को एकाकार शुद्ध देखना चाहिये। छः द्रव्यों मे पुद्गलादि पाँच अचेतन है, उन पर शत्रुता मित्रता नहीं हो सकती। आत्मा मात्र सचेतन है।

जब सर्व को एक समान शुद्ध देखा गया तब न कोई मित्र है: न कोई शत्रु है, सर्व को व अपने को समान देखते हुए रागद्वेष का पता नहीं रहता है। समभाव व शांत रस बहता है। निर्ग्रंथ मुमुक्षु को उचित है कि इस तरह समभाव में रमण करके सामायिक चारित्र को पाले। स्वानुभव में लीन होकर सर्व नयों के विचार से भी रहित होकर आत्मानन्द में मस्त हो जावे। यही आत्मसमाधि है।

समाधिशतक में कहा है—

आत्मानमन्तरे दृष्ट्वा दृष्ट्वा देहादिकं बहिः।
तयोरन्तरविज्ञानादभ्यासादच्युतो भवेत् ॥७९॥
अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः।
क्व रुष्यामि क्व तुष्यामि मध्यस्थोऽहं भवाम्यतः ॥४६॥

भावार्थ—जो अपने आत्मा को भीतर देखकर व शरीरादि को अपने से बाहर देखकर शरीर व आत्मा के भेदविज्ञान से आत्मा को शुद्ध अभेद जानकर उसी के अनुभव का अभ्यास करता है वह मुक्त हो

जाता है। ज्ञानी विचारता है कि जो इन्द्रियों से झलकता है वह सब अचेतन जड़ है। जो चेतन आत्माएँ हैं वे इन्द्रियों से दिखती नहीं, तब फिर मैं किस पर प्रसन्न रहूँ व किस पर रोष करूँ? मैं वीतरागी व समभावी ही रहता हूँ।

आप ही जिन हैं यह अनुभव मोक्ष का उपाय है

जो जिण सो हउं सो जि हउं एहउ भाउ णिभंतु।
मोक्खहँ कारण जोइया अण्णु ण तंतु ण मंतु।।७५।।

यथा जीव परमात्मा, तैसा मैं न अन्य।
यंत्र मंत्र से शिव नहीं, यों निश्चय सो धन्य।।७४।।

अन्वयार्थ—(**जो जिण सो हउं**) जो जिनेन्द्र परमात्मा है वह मैं हूँ (**सो जि हउं**) वही मैं हूँ (**एहउ णिभंतु भाउ**) ऐसी ही शंका रहित भावना करे (**जोइया**) हे योगी! (**मोक्खहं कारण अण्णु तंतु ण मंतु ण**) मोक्ष का उपाय यही है और कोई तंत्र या और कोई मन्त्र नहीं है।

भावार्थ—मोक्ष का उपाय संक्षेप में यही है कि अपने आत्मा को निश्चय नय से जैसा का तैसा समझे। मूल स्वभाव से यह आत्मा स्वयं जिनेन्द्र परमात्मा है। कर्म रहित आत्मा को जिनेन्द्र कहते हैं। अपना आत्मा निश्चय से द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित है, व्यवहार नय से या पर्याय की दृष्टि से मेरा आत्मा कर्म सहित अशुद्ध है परन्तु शुद्ध होने की शक्ति रखता है। कारण समयसार है और श्री जिनेन्द्र का आत्मा शुद्ध व कर्म समयसार है। यह भेद दिखता है परन्तु निश्चय नय से या द्रव्यदृष्टि से वह भेद नहीं दिखता है।

आत्मा परमात्मा सब तरह समान है। केवल सत्ता की अपेक्षा भिन्नता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव जो एक आत्मा का है वही दूसरी

आत्मा का है। सर्व आत्माओं का चतुष्टय समान है, सदृश है, एक नहीं है—एक समान है। जैसे हजार गेहूँ दाने समान आकार व गुणों के हों वे सब समान हैं तो भी सब दाने अलग-अलग हैं। हरएक आत्मा का द्रव्य अपने अनन्तगुण व पर्यायों का अभेद व अखण्ड पिंड है।

हरएक आत्मा क्षेत्र से असंख्यात प्रदेशी है, हरएक आत्मा समय-समय परिणमनशील है शुद्ध स्वभाव में सदृश परिणमन अगुरु-लघुत्व गुण के द्वारा कर रहा है। हरएक आत्मा ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त, चारित्र आदि शुद्ध भावों का धारी है तब निश्चय से अपने आत्मा को परमात्मारूप देखना ही व अनुभव करना ही वीतरागभाव की प्राप्ति का उपाय है। जहां वीतरागता जितने अंश होती है उतने अंश कर्मों का संवर व उनकी निर्जरा होती है।

नूतन कर्म का न आना व पुराने बाँधे हुए कर्मों का झडना ही मोक्ष होने का उपाय है। सोऽहं मन्त्र के द्वारा अपने भीतर यही भावना भावे कि मैं ही परमात्मा हूँ। मेरा कोई सम्बन्ध रागादि भावों से व पाप पुण्य से व किसी प्रकार के कर्म से या मन, वचन, काय की क्रिया से नही है

मैं परम निर्मल अपने स्वभाव में रहने वाला हूँ। वास्तव में जो कोई अरहंत व सिद्ध परमात्मा को ठीक-ठीक पहचानता है वह आत्मा के द्रव्य, गुण पर्याय को ठीक-ठीक जानता है पर वस्तु से दृष्टि सकोच करके अपने ही आत्मा पर दृष्टि जमाकर रखने से आत्मा का ध्यान हो जाता है। यही कर्म खास करने योग्य माना है। यही स्वानुभव की कला है, यही तन्त्र है, यही मन्त्र है, और कोई मन्त्र तन्त्र नही है, जिससे आत्मा मुक्ति प्राप्त कर सके। बाहरी चारित्र मन को संकल्प विकल्पों से हटाने के लिए आवश्यक है। पर कार्यों की चिन्ता का अभाव करना जरूरी है। इसलिये पूर्ण व शुद्ध आत्मध्यान के लिये निर्ग्रंथ होना योग्य है। बाहरी व अन्तरंग परिग्रह का त्याग करके निर्जन स्थानों में ध्यान का अभ्यास करना जरूरी है।

अनेकांत के ज्ञान से विभूषित रहे कि पर्याय की अपेक्षा मैं कर्म सहित हूँ, अशुद्ध हूँ, द्रव्य की अपेक्षा कर्मरहित शुद्ध हूँ। दोनों अपेक्षाओं का ज्ञान रखके पर्याय की दृष्टि से उपयोग को हटाले, द्रव्य की दृष्टि से उपयोग को जोड़े तब अपने को ही जिन भगवान समझे व ऐसी ही भावना करे। भावना करते-करते जब उपयोग उपयोगवान आत्मा में घुल जायगा, एकमेक हो जायगा, लवण की डली जैसे पानी में घुल जाती है वैसे उपयोग रम जायगा, ध्याता ध्येय का भेद मिट जायगा व स्वानुभव हो जायगा तब द्रव्य दृष्टि का विचार भी बन्द हो जायगा, अर्हंत भाव में ठहर जायगा, यही मोक्ष का उपाय है।

प्रवचनसार में कहा है—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥८०॥
जीवो ववगदमोहो उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं।
जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लहदि शुद्धं ॥८१॥

भावार्थ—जो कोई अरहंत भगवान को द्रव्य, गुण, पर्यायों के द्वारा यथार्थ जानता है वही अपने आत्मा को पहचानता है, उसीका दर्शन मोह या मिथ्यात्व भाव दूर हो जाता है। ऐसा मोह रहित सम्यग्दृष्टी जीव भले प्रकार अपने आत्मा के तत्व को पाकर यदि राग द्वेष छोडकर वीतराग हो जाता है तो वह अपने आत्मा को शुद्ध कर लेता है।

———❀———

आत्मा के गुणों की भावना करे

बे ते चउ पंच वि णवहँ सत्तहँ छह पंचाहँ।
चउगुण-सहियउ सो मुणह एयइँ लक्खण जाहँ ॥७६॥

दो त्रय चार रु पांच नव, सप्त छै पंच रु चार।
गुण युत सो परमात्मा, इन लक्षण युतसार ॥७६॥

अन्वयार्थ—(स) उस अपने आत्मा को (बे ते चउ पंच वि णवहँ सत्तहँ छह पंचाहँ चउगुण सहियउ मुणह) दो, तीन, चार, पाँच,

नव, सात, छः, पाँच और चार गुण सहित जाने (अहँ एयइँ लक्खण) उस परमात्मा के या आत्मा के ये ही लक्षण हैं।

भावार्थ—आत्मा के ध्यान के लिये आत्मा के स्वरूप की भावना करनो योग्य है। निश्चय से यह आत्मा एक सत् पदार्थ है, ज्ञायक अखण्ड प्रकाशरूप है। केवल अनुभव योग्य है। व्यवहार नय से यह अनेक प्रकार विचारा जा सकता है। दो प्रकार विचार करे तो यह गुण पर्यायवान है, अपने भीतर अनेक गुण व पर्यायों को रखता है या यह ज्ञान दर्शन स्वरूप है। यह एक ही काल अपने को व सर्व परपदार्थों को देखने जानने वाला है। तीन प्रकार विचार करे तो यह उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है। समय-समय पर्यायों के पलटने से उत्पाद् विनाश करते हुए भी अपने स्वभाव से अविनाशी है, अथवा यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप है।

चार प्रकार विचार करे तो यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-चारित्र व सम्यक्तप, इन चार आराधनास्वरूप है या यह अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनन्त सुख, अनत वीर्य इन चार अनंत चतुष्टय स्वरूप है या यह सुख, सत्ता, चैतन्य, बोध चार भाव प्राणों का धारी है या यह आत्मा अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का स्वामी है। पाँच प्रकार विचार करे तो यह अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, क्षायिक सम्यक्त, क्षायिक चारित्र तथा अनंत वीर्य स्वरूप है या इसमें औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, औदयिक व पारिणामिक पाँच भावों में परिणमन की शक्ति है या यह आत्मा अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु परमेष्ठी पद धारी है या यह आत्मा नारक, पशु, देव, मनुष्य, सिद्ध गति इन पाँच गतियों में जाने की शक्ति रखता है। छ. प्रकार विचार करे तो यह अनंतज्ञान, अनन्त दर्शन, अनंत वीर्य, अनन्त सुख, क्षायिक सम्यक्त, क्षायिक चारित्र गुण स्वरूप है या पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर ऊपर नीचे छ. दिशाओं में जाने की शक्ति धारक है अथवा यह आत्मा अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व व अगुरुलघुत्व इन छः सम्यक्त गुणों का धारी है।

यदि सात प्रकार विचार करें तो यह आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन अनन्त सुख, अनन्त ज्ञान चेतना, अनन्त वीर्य, क्षायिक सम्यक्त, क्षायिक चारित्र, इन सात गुणस्वरूप है। अथवा स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादवक्तव्य, स्यादस्तिनास्ति, स्यादस्तिअवक्तव्य, स्यान्नास्ति-अवक्तव्य स्यादस्तिनास्तिअवक्तव्य इन सातभंगों से सिद्ध होता है या इस जीव के कारण जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, इन सात तत्वों की व्यवस्था होती है। वा यह आत्मा नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़, एवं भूत, इन सात नयों से विचारा जाता है।

नौ प्रकार विचार करें तो यह आत्मा नौ केवल लब्धिरूप है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त दान, अनन्त लाभ, अनन्त भोग, अनंत उपभोग, अनन्त वीर्य, क्षायिक सम्यक्त, क्षायिक चारित्ररूप है। या यह आत्मा पुण्यपाप सहित सात तत्व ऐसे नौ पदार्थों में तिष्ठता है। जीव की अपेक्षा नौ पदार्थों का विचार है। इस तरह आत्मा को अनेक गुणों का व स्वभाव का धारी विचार करे जिससे वस्तु का विचार समभाव से हुआ करे, रागद्वेष को व सांसारिक विकल्पों को जीता जा सके। गुणों की भावना करते-करते ही स्वानुभव शक्ति होती है। विकल्प रहित भाव में आना ही स्वानुभव है।

समयसारकलश में कहा है—

> चित्रात्मशक्तिसमुदायमयोऽयमात्मा,
> सद्यः प्रणश्यति नयेक्षणखण्ड्यमानः।
> तस्मादखण्डमनिराकृतखण्डमेक—
> मेकान्तशान्तमचलं चिदहं महोऽस्मि ॥२४-११॥

भावार्थ— यह आत्मा नाना प्रकार की शक्तियों का समुदाय है। एक एक नय से एक एक गुण की पर्याय या शक्ति का विचार करने से आत्मा का खंड रूप विचार होता है इसलिये खंड विचार को छोड़कर मैं अपने को ऐसा अनुभव करता हूं कि यह अखण्ड है तौ भी अनेक भेदों को रखता है, एक है, परम शांत है, निश्चल है, चैतन्यमई ज्योति स्वरूप है।

——※——

दो को छोड़कर दो गुण विचारे

बे छंडिवि बे गुण सहिउ जो अप्पाणि वसेइ ।
जिणु सामिउ एमइं भणइ लहु णिव्वाणु लहेइ ॥७७॥

दो त्यागी दो गुण सहित, जो आत्म रसलीन ।
जिनवर भाखे सो लहैं, मुक्ति कर्म कर क्षीण ॥७७॥

अन्वयार्थ—(**जो बे छंडिवि**) जो दो को अर्थात् रागद्वेष को छोड़कर (**बे गुण सहिउ अप्पाणि वसेइ**) ज्ञान, दर्शन दो गुणधारी आत्मा मे तिष्ठता है (**लहु णिव्वाणु लहेइ**) वह शीघ्र ही निर्वाण पाता है (**एमइँ जिणु सामिउ भणइ**) ऐसा जिनेन्द्र भगवान कहते है ।

भावार्थ—बन्ध के मूल कारण रागद्वेष है उनका त्याग करे। त्याग करने का क्रम यह है कि पहले मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय सम्बन्धी रागद्वेष को छोड़े। मिथ्यादृष्टी, जीव के भीतर पर पदार्थ को आत्मा मानने की भूल करता है जिससे यह पर मे अहकार व ममकार भाव करता है। इन्द्रियजनित पराधीन सुख को सच्चा सुख मानता है। इस मिथ्याभाव के कारण जिन विषयो के सेवन से इन्द्रिय सुख की कल्पना करता है उन पदार्थो मे रागभाव करता है व जिनसे विषयभोग मे हानि पड़ती है व जो विषय रुचते नही हैं उनसे द्वेष करता है। रागद्वेष के चार प्रकार है—

चार कषाय नौ नोकषाय में लोभ, माया कषाय को व हास्य, रति, स्त्रीवेद, पुवेद, नपुसकवेद इन पाँच नोकषाय को राग कहते है। तथा क्रोध व मानकषाय को व अरति, शोक, भय जुगुप्सा चार नोकषाय को द्वेष कहते है। अनन्तानुबंधी सम्बन्धी रागद्वेष, अप्रत्याख्यान कषाय सम्बन्धी रागद्वेष, प्रत्याख्यान सम्बन्धी रागद्वेष, सज्वलन सम्बन्धी रागद्वेष इस तरह रागद्वेष के चार भेद है।

मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी रागद्वेष के मिटाने के लिये सम्यग्दर्शन का लाभ जरूरी है। इस सम्यक्त के पाने का उपाय अपने

आत्मा के यथार्थ स्वभाव का ज्ञान है कि यह आत्मा ज्ञानदर्शन स्वभाव का धारी है सूर्य के समान स्वपर प्रकाशक है, सर्वज्ञ व सर्वदर्शी है, पूर्ण वीतराग है, पूर्ण आनन्दमय है, स्वयं परमात्मा रूप है, आठ कर्म, रागादि भाव कर्म, शरीरादि नोकर्म से भिन्न है। अतीन्द्रिय सुख ही सच्चा सुख है, ऐसी प्रतीति लाकर बारबार अपने ज्ञान दर्शन स्वभाव-धारी आत्मा की भावना करते रहने से मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी कषाय का उपशम, क्षयोपशम वा क्षय हो जायगा। तब यह जीव सम्यग्दर्शन गुण को प्रकाश कर सकेगा, मूढ़ता चली जायगी, सम्यग्ज्ञान हो जायगा। तब इसे निर्वाण पद पर पहुंचने की योग्यता हो जायगी, संसार सागर से पार होने की तीव्र रुचि हो जायगी।

बारह प्रकार कषाय व नौ नोषाय का उदय अभी है, इसलिये चारित्र में कमी है। अविरत सम्यक्‌दृष्टी के इक्कीस प्रकार चारित्र मोहनीय के उदय से राग द्वेष हो जाता हे उसको वह रोग जानता है। आत्मबल की कमी से गृहस्थ के योग्य विषय भोग करता है व धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थ सेवन करता है। परन्तु इन मन, वचन, काय की क्रिया को आत्मा का कर्तव्य नही जानता है। भावना त्याग की रखता है। २१ कषायो की शक्ति घटाने के लिये यह देवपूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय व सामायिक के द्वारा अपने आत्मा के शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव का मनन करता है। आत्मानुभव का अभ्यास करता है। इस आत्मीक पुरुषार्थ से जब अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय नहीं रहता है, केवल १७ कषाय का उदय रहता है तब वह श्रावक के चारित्र को स्वीकार करके श्रावक ही हो जाता है।

जैसे-जैसे प्रत्याख्यान कषाय का उदय आत्मानुभव के अभ्यास से कम होता जाता है वह ग्यारह प्रतिमा रूप से चारित्र बढ़ता रहता है। जब प्रत्याख्यान कषाय का उदय भी नही रहता है तब केवल तेरह कषायों के उदय को रख कर वस्त्रादि परिग्रह त्याग कर साधु हो जाता है।

साधु पद में धर्म ध्यान के अभ्यास से कषायों का बल कम करता है। उपशम श्रेणी पर शुक्लध्यान के द्वारा १३ कषायों को

दबाकर वीतरागी हो जाता है। क्षपक श्रेणी में इनका क्षय करके वीतरागी हो जाता है। तब वह मोक्षगामी क्षपक श्रेणी पर ही चढ़कर क्षीण-मोह गुणस्थान में आकर शेष तीन घातीय कर्मों का क्षय करके केवली भगवान अरहंत परमात्मा हो जाता है। ज्ञान दर्शन गुण की भावना करते-करते अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, अनन्त सुख को प्रकट कर देता है।

इस तरह राग द्वेष त्याग करके ज्ञान दर्शन गुण वाले आत्मा को प्राप्त करे।

समयसार कलश में कहा है—

अध्यास्यशुद्धनयमुद्धतबोधचिह्नमैकाग्रयमेव कलयन्ति सदैव ये ते।
रागादिमुक्तमनसः सततं भवन्तः पश्यन्ति बन्धविधुरं समयस्यसारं ॥८॥

भावार्थ— महान ज्ञान के लक्षणधारी शुद्ध निश्चयनय के द्वारा जो सदा ही अपने आत्मा के एक स्वभाव का अनुभव करते हैं वे रागादि भावों से छूटकर बंध रहित शुद्ध आत्मा को देख लेते हैं।

——ॐ——

तीन को छोड़ तीन गुण विचारे

तिहिं रहियउ तिहिं गुण सहिउ जो अप्पाणि वसेइ।
सो सासय-सुह-भायणु वि जिणवरु एम भणेइ ॥७८॥

तीन रहित त्रिय गुण सहित, स्वात्म करे निवास।
सो पावे सुख सास्वता, जिनवर कहत प्रकाश ॥७८॥

अन्वयार्थ—(**तिहिं रहियउ**) तीन राग द्वेष मोह से रहित होकर (**तिहिं गुण-सहिउ अप्पाणि जो वसेइ**) तीन गुण सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित्र सहित आत्मा में जो निवास करता है (**सो सासय-सुह-भायणु वि**) सो अविनाशी सुख का भाजन होता है (**जिणवरु एम भणेइ**) जिनेन्द्र ऐसा कहते हैं।

भावार्थ— सम्यग्दृष्टी जीव को यह निश्चय होता है कि आठों

हो बंध आत्मा के स्वभाव से भिन्न हैं। इनमें मोहनीय कर्म मुख्य है इसीके उदय या प्रभाव से जीव का उपयोग रागद्वेष मोह से मलीन हो जाता है व सर्व ही कर्म का बंध इन राग द्वेष मोह की मलीनता से होता है। जैसे विवेकी जीव मलीन पानी में निर्मली डालकर मिट्टी को पानी से अलग करके निर्मल पानी को पीता है। वैसे ही ज्ञानी जीव भेद विज्ञान के बल से राग द्वेष मोह को आत्मा से भिन्न करके वीतराग विज्ञानमय आत्मा का अनुभव करता है। रागद्वेष मोह के हटाने के लिये ज्ञानी जीव मोहनीय कर्म से, राग द्वेष मोह भावों से तथा उनके उत्पन्न करने वाले बाहरी द्रव्यों से परम उदास हो जाता है।

व्यवहार नय से देखने पर संसारी जीवों में भेद दिखता है। मित्र शत्रु का, माता पिता का, पुत्र पुत्री का, स्वामी सेवक का, ध्याता ध्येय का सुन्दर असुन्दर का, रोगी निरोगी का, धनिक निर्धन का, विद्वान मूर्ख का, बलवान निर्बल का, कुलीन अकुलीन का, साधु गृहस्थ का, राजा प्रजा का, देव नारकी का, पशु मानव का, स्थावर त्रस का, सूक्ष्म बादर का, पर्याप्त अपर्याप्त का, प्रत्येक साधारणका, पापी पुण्यात्मा का, लोभी सन्तोषी का, मायावी व सरल का, मानवी विनय वाले का, क्रोधी व कपटी वाले का, स्त्री पुरुष का, बालक व वृद्ध का, अनाथ व सनाथ का, सिद्ध व संसारी का, ग्रहण योग्य व त्यागने योग्य का भेद दिखता है तब विषय भोग का लोलुपी व कषाय का धारी जीव इष्ट से राग व अनिष्ट से द्वेष करता है। यह सब बाहरी व्यवहार में दीखने वाला जगत राग द्वेष मोह को पैदा करने का निमित्त हो जाता है। इसलिये ज्ञानी को राग द्वेष मोह भावों की मलीनता के न पाने के लिये निश्चयनय से जगत को देखना चाहिये। तब सर्व ही छः द्रव्य अपने मूल स्वभाव में अलग-अलग दीख पड़ेंगे।

सर्व पुद्गल परमाणु रूप धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, असंख्यात कालाणु सब ही अपने-अपने स्वभाव में दीख पड़ेंगे तथा सर्व ही जीव एक समान शुद्ध दीख पड़ेंगे। आप भी अपने को शुद्ध देखेगा तब समभाव हो जायगा। राग द्वेष मोह का बाहरी निमित्त बुद्धि से निकल गया तो आस्रव बिना उन भावों का भी निरोध हो

जाता है। इस तरह ज्ञानी जीव आत्मानुभव के लिये राग द्वेष क्रोध को दूर करे, फिर अपने आत्मा के तीन गुणों को ध्यावे।

सम्यक्त ज्ञान चारित्र तीनों ही आत्मा के गुण हैं। आत्मा स्वभाव यथार्थ प्रतीति का धारी है। आपको आप, पर को पर यथार्थ श्रद्धान करने वाला है व सर्व लोकालोक के द्रव्य गुण पर्यायों को एक साथ जानने वाला है। व चारित्र गुण से यह परम वीतराग है, रत्नत्रय स्वरूप यह आत्मा अभेद दृष्टि से एक रूप है। शुद्ध स्फटिक के समान निर्मल है। परम निरजन, निर्विकार, परम ज्ञानी, परम शांत व परमानद मय है। इस तरह बार-बार अपने आत्मा को ध्यावे। तब परिणामो की स्थिरता होने पर स्वयं आत्मानुभव प्रगट होगा, यही मोक्ष का मार्ग है।

आत्मानुभव के समय अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आयगा। इसी स्वाद को लेते हुए आत्मानुभव करते हुए क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर अरहंत परमात्मा होकर अनतसुख भोगने वाला हो जाता है।

समयसार कलश मे कहा है—

सर्वतः स्वरसनिर्भरभाव चेतये स्वयमह स्वमिहैक।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोह शुद्ध चिद्घनमहोनिधिरस्मि ॥३०-१

भावार्थ- मै अपने से ही अपने आत्मीक शुद्ध रस से पूर्ण चेतन-प्रभु का अनुभव करता हूँ। मैं केवल शुद्ध ज्ञान का भडार हूँ। मेरा मोह कर्म से बिलकुल कोई सम्बन्ध नही है।

चार को त्याग चार गुणसहित ध्यावे

चउ कसाय सण्णा रहिउ चउ गुण सहियउ वुत्तु।
सो अप्पा मुणि जीव तुहुं जिम परु होहि पवित्तु ॥७६॥

चार कषाय रहित सहित, अनन्त चतुष्टयसार।
स्वात्म में जो रच रहा, सो पवित्र अविकार ॥७६॥

अन्वयार्थ—(**चउ कसाय**) चार क्रोधादि कषाय (**सण्ण**) चार सज्ञा आहार भय मैथुन परिग्रह (**हिरउ**) रहित (**चउ गुण सहियउ**

अप्पा वुत्तु) व दर्शन ज्ञान सुख वीर्य चार गुण सहित आत्मा कहा गया है **(जीव तुहुं सो मुणि)** हे जीव तू ! उसका ऐसा मनन कर **(जिम परु पवित्ति होहि)** जिससे तू परम पवित्र हो जावे ।

भावार्थ—आत्मा को मलीन करने वाले चार कषाय हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ चारित्र मोहनीय कर्म की प्रकृतियाँ हैं जब इनका उदय होता है तब क्रोधादि भाव प्रगट होते हैं वे कषाय आत्मा के स्वभाव नहीं हैं। आत्मा के तत्व को इनसे रहित परम वीतरागी जाने व साधक स्वयं को भी इन कषायोंके होने का निमित्त बचावे, सदा ही शात भाव से व सम भाव से रहने का उद्यम करे। व्यवहार में गौण भाव रक्खे।

निश्चयनय से जगत को देखने का अधिक अभ्यास करे। वस्तु स्वरूप को विचार करके किसी अपराधी पर क्रोध न करके उसको सुधारने का प्रयत्न करे। जैसे रोगी पर दया रखनी चाहिये वैसे अपराधी पर दया रखनी चाहिये।

उसको ठीक मार्ग पर चलाने का उद्यम करना चाहिये। क्रोध शीघ्रता से विना विचारे निर्बल पर ही आ जाता है। यदि कुछ समय विचार को दिया जावे तो कारण विचार लेने पर निर्बल पर दया आ जावेगी। क्षणभगुर गृहलक्ष्मी आदि का व विद्या का व तप का मान कदापि न करना चाहिये। फल के भार से वृक्ष जैसे झुके रहते है वैसे ही ज्ञानी को सम्पत्ति विद्या व तप बल होने पर विशेष कोमल व विनयवान होना चाहिए। पर ठगने का भाव मन से अलग करके मायाचार से नही बर्तना चाहिये। सरल सीधा सत्य व्यवहार ज्ञानी को रखना चाहिये। लोभ मन को मैला रखता है, सन्तोष से उसे जीतना चाहिये।

आहार, भय, मैथुन, परिग्रह ये चार संज्ञाएँ हैं। लोभ कषाय, भय नोकषाय, वेद नोकषाय ये संज्ञाएँ होती हैं। आत्मा का स्वभाव इनसे बाहर है, आत्मा का स्वभाव परम निस्पृह है, ज्ञानी को सन्तोष के द्वारा आहार संज्ञा को, निर्भयता के द्वारा भय को ब्रह्मचर्य के द्वारा

मैथुन को व अपरिग्रह व तृष्णा रहित भाव से परिग्रह संज्ञा को जीतना चाहिये। आत्मा को उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच इन चार गुण सहित व ज्ञान, दर्शन, सुख वीर्य चार अनन्त चतुष्टय सहित ध्याना चाहिये।

पवित्र होने का उपाय पवित्र का ध्यान करना है। कषाय रहित व संज्ञाओं से रहित शुद्धात्मा मैं हूँ व सर्व ही विश्व की आत्माएँ शुद्ध हैं, इस तरह भावना करने से स्वानुभव का लाभ होता है। स्वानुभव को ही धर्म ध्यान तथा शुक्लध्यान कहते हैं।

कषाय ही कर्मों में स्थिति व अनुभाग बंध के कारण हैं तब वीतरागभाव कर्मों की स्थिति व अनुभाग को सुखाने वाले हैं। जैसे अग्नि की ताप से अशुद्ध सुवर्ण शुद्ध होता है वैसे ही आत्मध्यान की प्राप्ति के प्रताप से अशुद्धात्मा पवित्र हो जाता है। जैसे मलीन वस्त्र पर मसाला रगडने पर साफ होता है वैसे ही यह कर्मों से मलीन आत्मा ज्ञान वैराग्य के मसाले के साथ ध्यान पूर्वक रगड़ने से या स्वानुभ के अभ्यास से शुद्ध होता है। मुमुक्षु को निरन्तर आत्मा के उपवन में रमण करना चाहिये।

आत्मानुशासन मे कहा है—

हृदयसरसि यावन्निर्मलेऽप्यत्यगाधे वसति खलु कषायग्राहचक्रं समं तत्।
श्रयति गुणगणोऽयं तन्न तावद्विशङ्कं समदमयंशेषैस्तान्विजेतुं यतस्व।२१३

भावार्थ– गम्भीर व निर्मल मन के सरोवर के भीतर जब तक चारो तरफ से कषाय रूपी मगरमच्छों का वास है तब तक गुणों के समूह शका रहित होकर वहाँ नही ठहर सकते। इसलिये तू समताभाव, इन्द्रिय दमन व विनय के द्वारा उन कषायों के जीतने का यत्न कर।

——:०:——

पांच के जोड़ों से रहित व दस गुण सहित आत्मा को ध्यावे

वे-पंचहँ रहियउ मुणहि वे पंचहं संजुत्तु ।
वे-पंचहं जो गुणसहिउ सो अप्पा णिरवुत्तु ॥८०॥

संग रहित दश सहित, दशलक्षण दश गुणयुक्त ।
सोही निश्चय आत्मा, होइ जगत से मुक्त ॥८०॥

अन्वयार्थ—(**वे-पंचहँ रहियउ**) दो प्रकार पाँचों से रहित होकर अर्थात् पाँच इन्द्रियों को रोक कर व पाँच अव्रतों को त्याग कर (**वे-पंचहँ संजुत्तु मुणहि**) दो प्रकार पाँच अर्थात् पाँच इन्द्रियनमनरूप संयम व पाँच महाव्रत सहित होकर आत्मा का मनन करो (**जो वे-पंचहँ गुणसहिउ सो अप्पा णिरवुत्तु**) जो दश गुण उत्तम क्षमादि सहित है व अनंतज्ञानादि दश गुण सहित है उसको निश्चय से आत्मा कहा जाता है।

भावार्थ—आत्मा का मनन निश्चिन्त होकर करना चाहिए। पाँच इन्द्रियों के विषयों में उलझा हुआ उपयोग आत्मा का मनन नहीं कर सकता। इसलिए पाँच इन्द्रियों को संयम में रखना चाहिए। इन्द्रियविजयी होना चाहिए व जगत के आरम्भ से छूटने के लिए हिंसा असत्य, स्तेय, अब्रह्म, परिग्रह इन पाँच अविरत भावों से विरक्त होकर अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, परिग्रह त्याग इन पाँच महाव्रतों को पालना चाहिए। साधुपद में द्रव्य व भाव दोनों रूप से निर्ग्रंथ होकर एकाकी भाव से शुद्ध निश्चयनय के द्वारा अपने शुद्धात्मा का मनन करना चाहिए।

भेद दृष्टि से आत्मा का मनन करते हुए उसको दश लक्षणरूप विचारना चाहिए। यह आत्मा क्रोध विकार के अभाव से पृथ्वी के समान उत्तम क्षमा गुणधारी है। मान के अभाव से उत्तम मार्दव गुण धारी है। माया के अभाव से उत्तम आर्जव गुणधारी है। असत्य ज्ञान

के अभाव से उत्तम सत्य धर्मधारी है। लोभ के अभाव से उत्तम शौच गुण धारी है। असंयम के अभाव से स्वरूप में रमण रूप उत्तम संयम गुणधारी है। सर्व इच्छाओं का अभाव होने से आत्मा का एक शुद्ध वीतराग भाव से तपना एक उत्तम गुण है, यह आत्मा परम तपस्वी है। यह आत्मा अपनी शुद्ध परिणति को या आत्मानन्द को आपके लिए दान करता है, यही इसका उत्तम त्याग धर्म है। इस आत्मा के उत्तम आकिंचन्य गुण है। इस आत्मा के भीतर अन्य आत्माओं का, पुद्गल द्रव्य का, धर्म, अधर्म, काल, आकाश का अभाव है, यह पूर्ण अपरिग्रह-वान है, परम असंग है। यह आत्मा उत्तम ब्रह्मचर्य गुण का धारी है, निरन्तर अपने ब्रह्मभाव में मगन रहने वाला है। इस तरह दश लक्षणों को विचारे अथवा अपने आत्मा को दश गुण सहित विचारे।

यह आत्मा अनन्त ज्ञान, अनंत दर्शन, क्षायिक सम्यक्त, क्षायिक चारित्र, अनन्त दान, अनन्त लाभ, अनंत भोग, अनन्त उपभोग, अनंत वीर्य, अनन्त सुख इन दश विशेष गुणों का धारी परमात्मा स्वरूप है। यह सर्वज्ञ व सर्वदर्शी होकर भी आत्मज्ञ व आत्मदर्शी है। यह ज्ञेय की अपेक्षा सर्वज्ञ सर्वदर्शी कहलाता है। शुद्ध सम्यग्दर्शन का धारी होकर निरन्तर आत्म प्रतीति में वर्तमान है। सर्व कषाय भावों के अभाव से परम वीतराग यथाख्यात चारित्र से विभूषित है। आपके आनंद को आपको देता है, अनन्त दान करने वाला है। निरन्तर स्वात्मानन्द का लाभ करना ही अनन्त लाभ है। स्वात्मानन्द का ही निरन्तर भोग है। अपने आत्मा का ही बार-बार उपभोग है। गुणों के भीतर परिणमन करते हुए कभी भी खेद नही पाता यही अनन्तवीर्य है। ज्ञानावरण दर्शनावरण, मोह व अन्तराय कर्मो से रहित होकर अनन्तसुख का समुद्र है।

अभेदनय से एक अखण्ड आत्मा को ध्यावे तब स्वानुभव का लाभ होगा। यही आत्मदर्शन है व यही सुखशान्ति प्रदायक भाव है। यही आत्मसमाधि है, यही निश्चय रत्नत्रय की एकता है। मुमुक्षु जीव को निश्चिन्त होकर परम प्रेमभाव से अपने आत्मा का ही आराधना करना चाहिए। **बृहत् सामायिक पाठ** में कहा है—

ध्यावृत्त्येन्द्रियगोचरोरुगहने लोलं चरिष्णुं चिरं,
दुर्वारं हृदयोदरे स्थिरतरं कृत्वा मनोमर्कटं।
ध्यानं ध्यायति मुक्तये श्रममतेर्निर्मुक्तभोगस्पृहो,
नोपायेन विना कृता हि विधयः सिद्धिं लभंते ध्रुवं ॥५४॥

भावार्थ—दुर्वार मन रूपी बन्दर चिरकाल से लोलुपी होकर पाँच इन्द्रियों के महान वन में रमण कर रहा था, उसको वहाँ से रोक कर अपने हृदय के भीतर स्थिर रूप से बाँध कर रखे। तथा सर्व भोगों की अभिलाषा त्याग करके, परिश्रम करके केवल मोक्षके ही हेतु आत्मा का ध्यान करे। क्योंकि उपाय के बिना कार्य की सिद्धि नहीं होती। उपाय से निश्चय काम सिद्ध होता है।

—:०:—

आत्मरमण में तप त्यागादि सब कुछ है

अप्पा दंसणु णाणु मुणि अप्पा चरणु वियाणि।
अप्पा संजमु सील तउ अप्पा पच्चक्खाणि ॥८१॥

आत्म दर्शन ज्ञान मय, आत्म चारित्रवान।
आत्म संयम शील तप, आत्म प्रत्याख्यान ॥८१॥

अन्वयार्थ—(**अप्पा दंसणु णाणु मुणि**) आत्मा को ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान जानो (**अप्पा चरणु वियाणि**) आत्मा को सम्यक्चारित्र समझो (**अप्पा संजमु सील तउ**) आत्मा ही संयम है, शील है, तप है, (**अप्पा पच्चक्खाणि**) आत्मा ही प्रत्याख्यान या त्याग है।

भावार्थ—आत्मा के स्वभाव में रमणता होने पर ही सर्व ही मोक्ष के साधन निश्चयनय से प्राप्त हो जाते हैं। व्यवहारनय से देव शास्त्र गुरु का तथा जीवादि सात तत्त्वों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। निश्चय से वह आत्मा का ही निज गुण है। जहाँ श्रद्धा व रुचि सहित आत्मा में थिरता से तिष्ठना होता है वही भाव निक्षेपरूप यथार्थ परि-

णमनशील सम्यग्दर्शन है। व्यवहार में आगमज्ञान सम्यग्ज्ञान है, निश्चय से ज्ञान में अपने आत्मा का शुद्ध स्वभाव झलकना ही सम्यग्ज्ञान है।

व्यवहार में साधु या श्रावक का महाव्रत या अणुव्रतरूप आचरण सम्यक्चारित्र है। निश्चय से वीतराग भाव ही सम्यक्चारित्र है। जहाँ आत्मा में स्थिरता है वहाँ निश्चय सम्यक्चारित्र है। व्यवहार में पाँच इन्द्रिय व मन निरोध इन्द्रियसंयम व पृथ्वीकायादि छः प्रकार प्राणियों की रक्षा प्राणिसंयम है। निश्चय से अपने ही शुद्ध स्वभाव में अपने को संयमरूप रखना, बाहर कहीं भी रागद्वेष न करना आत्मा का धर्म संयम है।

व्यवहार से मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना को नौ प्रकार काम विकार को टाल कर शील पालना ब्रह्मचर्य है। निश्चय से ब्रह्मस्वरूप आत्मा में ही चलना निश्चय ब्रह्मचर्य है, सो आत्मारूप ही है। व्यवहार से बारह प्रकार तप पालना तप है। निश्चय से आत्मा के शुद्ध स्वरूप में तपना तप है। आत्मीक भाव में प्रकाश पाने के लिए ये तप सहाई हैं। तपस्वी को, योगी को उचित है कि इन्द्रियमन व मन, वचन, काय की शुद्धि के लिए उपवास करता रहे। भोजन ऊनोदर करे, मात्रा से कम ले, जिससे ध्यान स्वाध्याय में प्रमाद न आवे, निद्रा को विजय करे व शरीर निरोगी रहे।

भिक्षा लेने के लिए कोई नियम ऐसा ले जिससे गृहस्थ को कोई आरम्भ विशेष न करना पड़े व अपने परिणामों की जाँच हो कि नियम न पूरा होने पर यह सन्तोष से निराहार रह सके, सो वृत्ति परिसंख्यान तप है। जिह्वा इन्द्रिय के वश करने को व शरीर में मद न बढ़ने देने के लिए व राग के घटाने के लिए दूध, दही, घी, तेल, लवण, शक्कर इन छहों को या कम को साधु त्याग कर नित्य आहार करते हैं।

शरीर की स्थिति के लिए मात्र धर्म सेवनार्थ आहार सन्तोष से करते हैं सो रस परित्याग है। साधुजन स्त्री, पुरुष, नपुंसक, पशु आदि, भावों में विचार के निमित्त कारण जहाँ न हों ऐसे एकांतस्थान में शयन

व आसन करते हैं व ध्यान स्वाध्याय की सिद्धि करते हैं सो विविक्त-शय्यासन तप है। शरीर के सुखिया व आलसी स्वभाव को मिटाने के लिए कठिन-कठिन निर्जन स्थानों में आसन जमाकर ध्यान करते हैं।

नदीतट, वृक्षतल, पर्वत, गुफा में बैठकर नग्न तन होते हुए शीत ताप सहते हैं। दूसरों को दीखता है कि काय को क्लेश दे रहे हैं, परन्तु मुमुक्षु आत्मानन्द में मगन रहते हैं सो कायक्लेश तप है। जैसे कपड़े पर मैल लगने पर पानी से धोकर साफ किया जाता है वैसे मन, वचन, काय सम्बन्धी कोई दोष हो जाने पर उसका प्रायश्चित्त लेकर व प्रतिक्रमण करके शुद्ध करना, भावों को निर्मल करना सो प्रायश्चित्त तप है। रत्न-त्रय धर्म की व धर्म धारकों की भक्ति रखना व व्यवहार में विनयशील रहना विनय तप है।

अन्य साधु को थका हुआ, रोगी व अशक्त देखकर शरीर से व उपदेश से तथा गृहस्थों को व जगत के प्राणियों को धर्मोपदेश से उनकी आत्माओं को शान्ति व सन्तोष पहुंचाना वैयावृत्य तप या सेवाधर्म है। आत्मज्ञान की निर्मलता के लिये व छः द्रव्यों के गुण पर्यायों का विशेष ज्ञान होने के लिए जिनवाणी के ग्रन्थों का पठन पाठन मनन व कंठस्थ करना स्वाध्याय तप है यह बड़ा ही उपकारी है।

अन्तरंग में विभावों से, बाहर में शरीरादि पर वस्तुओं से विशेष ममता का त्याग सो व्युत्सर्ग तप है। धर्मध्यान का एकान्त में अभ्यास करना सो ध्यान तप है। इन बारह प्रकार के तपों से वर्तते हुए अपने आत्मा को तपना सो ही निश्चय तप है। नियम या यम रूप से किन्हीं भोजन पानादि का व किन्हीं वस्तुओं का त्याग करना व्यव-हार प्रत्याख्यान है।

अपने आत्मा को सर्व परद्रव्य से व परभावों से भिन्न अनुभव करना सो निश्चय प्रत्याख्यान है। अभिप्राय यह है कि जब यह उपयोग अपने ही आत्मा के शुद्ध स्वरूप में रमण करके स्वानुभाव में रहता है तब ही वास्तव में रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग है। तप ही संयम है, शील है, तप है, प्रत्याख्यान है, अतएव आत्मस्थ रहना योग्य है।

समयसार में कहा है—

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥१८॥

भावार्थ—निश्चय से मेरे ज्ञान में, दर्शन में, चारित्र में आत्मा ही है। जब मैं रत्नत्रय में रमण करता हूँ तब आत्मा ही के पास पहुंचता हूँ। त्याग भाव में रहना भी आत्मा में तिष्ठना है। आस्रव निरोध संवर भाव में या एकाग्र योगाभ्यास में भी आत्मा ही सम्मुख रहता है।

——:०:——

पर भावों का त्याग ही संन्यास है

जो परयाणइ अप्प परु सो परु चयइ णिभंतु।
सो सण्णासु मुणेहि तुहुं केवल णाणिं उत्तु ॥८२॥

जो पहिचाने आप पर, सो निश्चय पर त्याग।
सो ही है संन्यास वर, भाषे जिन बड़भाग ॥८२॥

अन्वयार्थ—(**जो अप्प परु परयाणइ**) जो आत्मा व पर को पहचान लेता है (**सो णिभंतु परु चयइ**) वह बिना किसी भ्रान्ति के पर को त्याग कर देता है (**तुहुं सो सण्णासु मुणेहि**) तू उसे ही संन्यास या त्याग जान (**केवल णाणिं उत्तु**) ऐसा केवल ज्ञानी ने कहा है।

भावार्थ—अन्तरंग में पर भावों के ममत्व के त्याग को संन्यास कहते हैं। बाहरी परिग्रह का त्याग अन्तरंग त्याग भाव का निमित्त साधक है।

इस संन्यास का प्रारम्भ सम्यग्दृष्टी अविरति के हो जाता है। सम्यग्दृष्टी भले प्रकार जानता है कि मेरा स्वामीपना मेरे ही एक आत्मा से है, मेरे आत्मा का अभेदरूप द्रव्यत्व मेरा द्रव्य है, मेरे आत्मा का असंख्यात प्रदेशी क्षेत्र मेरा क्षेत्र है, मेरे आत्मा के गुणों का समय समय परिणमन मेरा काल है, मेरे आत्मा के शुद्ध गुण मेरा भाव है, मैं सिद्ध के समान शुद्ध निरंजन निर्विकार हूँ, मैं पूर्ण ज्ञानदर्शनवान

हूँ, पूर्ण आत्म वीर्य का धनी हूँ, परम आनन्दमय अमृत का अगाध सागर हूँ। मैं परम कृतकृत्य हूँ, जीवन्मुक्त हूँ।

मेरा कोई सम्बन्ध न अन्य आत्माओं से है न पुद्गल के कोई परमाणु व स्कन्ध से है। न धर्म, अधर्म, आकाश व काल द्रव्य से है, न मेरे में आठ कर्म हैं, न शरीरादि हैं, न रागादि भाव हैं, न मेरे में इन्द्रिय के विषयों की अभिलाषा है, न मैं इन्द्रिय सुख को सुख जानता हूँ, मैं अतीन्द्रिय ज्ञान व अतीन्द्रिय सुख को सच्चा ज्ञान व सुख जानता हूँ, सो मेरा धन मेरे पास है। इस तरह सम्यग्दृष्टी त्यागी श्रद्धा व ज्ञान परिणति की अपेक्षा परम संन्यासी है, परम त्यागी है। जैसे कोई प्रवीण पुरुष अपने भीतर होने वाले रोगों को पहचान कर व उनसे अहित जानकर उन रोगों से पूर्णपने उदासीन हो जावे, वैसे सम्यक्ती जीव खास कर्मों के संयोग से होने वाले रागादि भाव व शरीरादि रोगों को रोग व आत्मा के लिए हानिकारक जानकर उनसे पूर्ण वैरागी हो जाता है। अब रोग निवारण का उद्यम करना ही रोगी के लिये शेष रहा है सो प्रवीण रोगी बड़े भाव से प्रवीण वैद्य द्वारा बताई हुई औषधि को सेवन करता हुआ धीरे-धीरे निरोगी हो जाता है। उसी तरह सम्यक्ती जीव चारित्र मोहनीय के विकारों को दूर करने के लिये पूर्णपने कटिबद्ध हो जाता है। यह भी उसने श्री गुरु परम वैद्य से जाना है कि भाव कर्म के रोग को मिटाने के लिये सत्ता में बैठे कर्मों को नाश करने के लिये व नवीन रोग के कारण से बचने के लिये शुद्धात्मानुभव ही एक परम औषधि है। यह सम्यक्ती समय निकाल कर स्वानुभव करता रहता है। कषायों के अनुभाग को सुखाता रहता है। आत्मबल बढ़ने पर व मन्द कषाय के उदय होने पर यह अधिक समय थिरता पाने के लिये श्रावक के चरित्र को निमित्त कारण जानकर धारण कर लेता है। धीरे-धीरे जैसे-जैसे रागभाव बढ़ता है वह श्रावक की ग्यारह श्रेणी रूप प्रतिमाओं पर चला जाता है। जब स्वानुभव की शक्ति इतनी बढ़ा लेता है कि एक अन्तर्मुहूर्त से अधिक स्वानुभव से बाहर नहीं रह सके, घड़ी-घड़ी पीछे बार-बार आत्मतत्त्व का स्वाद

देवे व ममत्व का कोई प्रपंच नहीं रुचे व आत्मरस में मानो उन्मत्त हो जावे, तब बाहरी सकल त्याग करके संन्यासी या निर्ग्रन्थ हो जाता है। श्रद्धान व ज्ञान की अपेक्षा तो संन्यासी अविरत सम्यक्त के चौथे गुणस्थान में ही हो गया था तब छठे सातवें गुण स्थान में रहकर चारित्र की अपेक्षा भी संन्यासी हो गया है। निर्ग्रन्थ पद में रह कर दिन-रात स्वानुभव का अभ्यास करता है। यदि तद्भव मोक्षगामी होता है तो क्षायिक श्रेणी पर चढ़कर शीघ्र ही चार घातीय कर्मों का क्षय करके केवल ज्ञानी हो जाता है। यहाँ तात्पर्य कि आत्मा के सिवाय सर्व पर के साथ राग-द्वेष मोह का त्याग ही संन्यास है।

समयसारकलश में कहा है—

संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना,
संन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा।
सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतुर्भव—
न्नैः कर्मप्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति ॥१०-४॥

भावार्थ—मोक्ष के चाहने वाले महात्मा को उचित है कि सर्व हो क्रियाकांड को व मन वचन काय की क्रिया का ममत्व त्याग देवे व जहाँ आत्मा के निज स्वभाव के सिवाय सर्व का त्याग हो वहाँ पुण्य व पाप के त्याग की क्या बात ? इन दोनों का त्याग है ही। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र आदि स्वभावमें रहना ही मोक्ष का मार्ग है। इस मार्ग में जो रहता है उसके पास कर्म रहित भाव से प्राप्त व आत्मीक रस से पूर्ण ऐसा केवल ज्ञान स्वयं दौडकर आ जाता है।

——:०:——

रत्नत्रय धर्म ही उत्तम तीर्थ है

रयणत्तय-संजुत्त जिउ उत्तिमु तित्थु पवित्तु ।
मोक्खहँ कारण जोइया अण्णु ण तंतु ण मंतु ॥८३॥

सम्यग दर्शन है यही, आत्म विमल श्रद्धान ।
फिर फिर ध्यावे आत्म ही, सो मुनि चारित्रवान ॥८३॥

अन्वयार्थ– (**जोइया**) हे योगी ! (**रयणत्तयसंजुत्त जिउ उत्तिमु पवित्तु तित्थु**) रत्नत्रय सहित जीव उत्तम व पवित्र तीर्थ है (**मोक्खहं कारण**) यही मोक्ष का उपाय है (**अण्णु तंतु ण मंतु ण**) और कोई तन्त्र या मन्त्र नहीं है ।

भावार्थ—कर्मबन्ध से छूटने का उपाय या भवसागर से पार होने का उपाय रत्नत्रय धर्म है । इसके सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है । निश्चय रत्नत्रय साक्षात् मोक्षमार्ग है या उपादान कारण है । व्यवहार रत्नत्रय उपादान के प्रकाश के लिये बाहरी निमित्त है । कार्य की सिद्धि उपादान और विभिन्न दोनों कारणों के होने पर होती है । मलीन सुवर्ण आग व मसालों का निमित्त पाकर स्वयं साफ होता है । मलीन वस्त्र मसाले व पानी का निमित्त पाकर स्वयं उजला होता है । चावल आग पानी का निमित्त पाकर स्वयं भात बन जाता है । चने के दाने चक्की का निमित्त पाकर स्वयं चूर्ण हो जाते हैं । पानी का निमित्त पाकर तिलों में से तेल निकलता है ।

मिट्टी स्वयं घड़ा रूप हो जाती है, कुम्हार का चाक आदि निमित्त है । कार्यरूप स्वयं उपादान कारण हो जाता है । जब तक कार्य न हो तब तक वह निमित्त सहायक होता है फिर निमित्त बिलकुल अलग रह जाता है । आत्मा अपनी शुद्धि में या उन्नति में आप ही उपादान कारण है, निमित्त शरीरादि अनेक बाहरी क्रिया हैं । यदि उनसे शरीर वज्रवृषभनाराच संहनन, उत्तम आर्य क्षेत्र, चतुर्थ दुखमा सुखमा काल, साधु का बाहरी निर्ग्रन्थ भेष व चारित्र न हो तो मोक्ष के लिये आत्मा का भाव विशुद्धि को नहीं पाता है ।

अतएव व्यवहार रत्नत्रय के आलम्बन से निश्चय रत्नत्रय का आराधन कार्यकारी है। यह अपना आत्म द्रव्य स्वभाव से परम शुद्ध है, ज्ञाता दृष्टा है, अनंत वीर्य व अनन्त सुख का सागर है, परम वीतराग है, सर्व अन्य द्रव्यों की सत्ता से रहित है।

स्वयं ज्ञान चेतनामय है, परम निराकुल है, यही परमात्मा देव है, ऐसा दृढ़ श्रद्धान निश्चय सम्यग्दर्शन है, इसकी प्राप्ति का उपाय अन्तरंग निमित्त अनन्तानुबन्धी कषाय व मिथ्यात्व का उपशम है व बाहरी उपाय देव शास्त्र गुरु का श्रद्धान व जीवादि सात तत्वों का पक्का श्रद्धान है तथा आत्मा व पर का भेद विज्ञान पूर्वक विचार है। मन वचन काय की सर्व क्रिया निमित्त है। अन्तरंग व बहिरंग निमित्त होने पर निश्चय सम्यग्दर्शन आत्मा की ही भूमिका से उपज जाता है। आत्मा ही उपादान कारण है। आत्मा का आत्मारूप यथार्थ ज्ञान निश्चय सम्यग्ज्ञान है। आगम द्वारा तत्वों का व द्रव्यों का मनन व्यवहार सम्यग्ज्ञान है, निमित्त है। आत्मा के अभ्यास से व गुरू के उपदेश के निमित्त से भीतर उपादान आत्मा में ज्ञान का प्रकाश होता है। अन्तरग विभिन्न ज्ञानावरणीय व दर्शनावरणीय व अन्तरंग कर्म का क्षयोपशम निमित्त है।

आत्मा का आत्मा के भीतर आत्मा के द्वारा ही पर के आलम्बन रहित रमण करना निश्चय सम्यक्चारित्र है। निमित्त साधन अन्तरंग चारित्र मोहनीय कर्म का उपशम है, बाहरी साधन श्रावक का एकदेश व साधु का सकल चारित्र है।

आत्मानुभव ही तीर्थ है, जहाज है वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र तीन आत्मीक धर्मों से रचित है। इस जहाज पर जो आत्मा आप ही चढ़कर उस जहाज को अपने ही आत्मारूपी समुद्र पर चलाता है वह आप ही मोक्षद्वीप को पहुच जाता है। वह द्वीप भी आप ही है, अपना पूर्ण भाव कार्य है, अपूर्णभाव कारण है। इस तरह जो कोई निश्चिन्त होकर आत्मा का सतत अनुभव करता है वही परमानन्द का स्वाद पाता हुआ व कर्मों का संवर व उनकी निर्जरा करता हुआ उन्नति करता जाता है। यही कर्तव्य है।

तत्वार्थसार के उपसंहार में अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं—

निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः ।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद्द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥२॥
श्रद्धानाधिगमोपेक्षाः शुद्धस्य स्वात्मनो हि याः ।
सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा मोक्षमार्गः स निश्चयः ॥३॥
श्रद्धानाधिगमोपेक्षा याः पुनः स्युः परात्मना ।
सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा स मार्गो व्यवहारतः ॥४॥

भावार्थ—मोक्षमार्ग निश्चय तथा व्यवहार से दो प्रकार का है। निश्चय मार्ग साध्य है, व्यवहार साधन है। अपने ही शुद्ध आत्मा का श्रद्धान ज्ञान व सर्व पर से उदासीन भावरूप उपेक्षा या स्वरूप में लीनता ऐसा निश्चय रत्नत्रय स्वरूप आत्मा का शुद्ध भाव निश्चय मार्ग है। षट् पदार्थों की अपेक्षा से श्रद्धान ज्ञान व त्याग करना व्यवहार रत्नत्रय मोक्षमार्ग है। व्यवहार के सहारे निश्चय को प्राप्त करना चाहिये।

रत्नत्रय का स्वरूप

दंसणु जं पिच्छियइ बुह अप्पा विमल महंतु ।
पुणु पुणु अप्पा भावियए सो चारित्त पवित्तु ॥८४॥

रत्नत्रय युत आत्मा, वर तीर्थ शिव हेतु ।
तंत्र मंत्र शिव हेतु ना, एक न मुनि शिव देत ॥८४॥

अन्वयार्थ—(**अप्पा विमल महंतु**) यह आत्मा मल रहित शुद्ध व महान परमात्मा है (**जं पिच्छियइ बुह दंसणु**) ऐसा जो श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन है व ऐसा जानना सो ज्ञान है (**पुणु पुणु अप्पा भावियए सो चारित्त पवित्तु**) बार-बार इस आत्मा की भावना करनी सो पवित्र या निश्चय शुद्ध चारित्र है।

भावार्थ—अपने आत्मा का यथार्थ स्वरूप जानकर श्रद्धान

करना चाहिये। यह आत्मा द्रव्य परिणमनशील है गुणों का समूह है। गुणों में स्वभाव परिणमन होना द्रव्य का धर्म है। परिणमन शक्ति से ही गुणों की समय समय पर्यायें होती हैं, व्यवहारनय से यह अपना आत्मा कर्मसहित मलीन दिखता है। कर्मों के संयोग से चौदह गुणस्थान व चौदह मार्गणारूप आत्मा की अवस्थाएँ जो होती हैं वे आत्मा का निज शुद्ध स्वभाव नहीं है। जब निश्चयनय से जाना जावे तो यह आत्मा यथार्थ में जैसा मूल द्रव्य है वैसा जानने में आता है।

यह आत्मा सत् पदार्थ है, कभी न जन्मा न कभी नाश होगा, स्वत: सिद्ध है, किसी ने उसको पैदा नहीं किया, न यह किसी को पैदा करता है। यह लोक अनादिकाल से है, छः द्रव्यों के समूह को लोक कहते हैं। वे सब द्रव्य अनादि से अनन्त काल तक सदा ही बने रहते हैं। अनन्त जीव हैं, अनन्तानन्त पुद्गल है, असंख्यात कालाणु हैं, एक धर्मास्तिकाय है, एक अधर्मास्तिकाय है, एक आकाश है। आत्मा-आत्मारूप से सब समान हैं तथापि हरएक आत्मा की सत्ता दूसरी आत्मा की सत्ता से निराली है।

अपने आत्मा को एकाकी देखे, इसमें न आठ कर्मों का बंध है, न इसमें रागादि विकारी भाव है न कोई स्थूल औदारिक व वैक्रयिक शरीर है। यह आत्मा शुद्ध स्फटिकमणि के समान परम निर्मल है। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणों का सागर है। यह आत्मा न किसी का उपादान कारण है, न किसी का निमित्त कारण है। संसार दशा मे आत्मा शरीर नाम कर्म के उदय से चंचल होकर मन, वचन, काय के द्वारा योगों में परिणमन करता है व कषाय के उदय से शुभ व अशुभ उपयोग होता है। ये योग व उपयोग ही लौकिक कार्यों में निमित्त हैं। कुम्हार घड़ा पकाता है। मिट्टी घड़े का उपादान कारण है, कुम्हार का मन, वचन, काय योग व अशुद्ध उपयोग निमित्त कारण है। शुद्ध आत्मा में न योगों का कार्य है न कोई शुभ या अशुभ उपयोग है आत्मा स्वभाव से अकर्ता व अभोक्ता है। न तो परभावों का कर्ता है न पर भावों का भोक्ता है। आत्मा स्वभाव से अपनी शुद्ध परिणति का कर्ता है व सहज शुद्ध सुख का

भोक्ता है। यह आत्मा परम निराकुल व समभाव का धारी परम पवित्र निश्चल रहने वाला परम पदार्थ परमात्मा है। मैं ऐसा ही हूं। ऐसा निश्चय अनुभवपूर्वक होना ही सम्यग्दर्शन गुण का प्रगट होना है।

सो मिथ्यात्व कर्म व अनन्तानुबन्धी कषाय के उपशम बिना नहीं होता है। शास्त्रों को ठीक-ठीक जानने पर भी जहाँ तक स्वानुभव न हो वहाँ तक ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता है। सम्यग्दर्शन के प्रकाश होते ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है मुमुक्षु को उचित है कि आत्मा के श्रद्धान व ज्ञान में बार-बार रमण करे। बार-बार भावना भावे। भावना में चलना सो चारित्र है जहाँ आत्मा आप से आप में स्थिर हो जाता है वहाँ रत्नत्रय की एकता होती है। वही मोक्षमार्ग है। रत्नत्रय धर्म निज आत्मा का स्वभाव ही है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है—

दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः ॥२१६॥
सम्यक्त्वचरित्रबोधलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः।
मुख्योपचाररूपः प्रापयति परं पदं पुरुषम् ॥२२२॥

भावार्थ—अपने आत्मा का निश्चय होना सम्यग्दर्शन है। अपने आत्मा का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है अपने आत्मा में स्थिरता सम्यक्चारित्र है। इन तीनों से कर्मबन्ध नहीं होता है। निश्चय व्यवहार रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग यही आत्मा को परमपद में पहुंचा देता है।

———

आत्मानुभव में सब गुण हैं

जहिं अप्पा तहिं सयलगुण केवलि एम भणंति ।
तिहि कारणएँ जोइ फुडु अप्पा विमलु मुणंति ।।८५।।

जहाँ जीव तहँ सकल गुण कहत केवली एम ।
प्रगट स्वानुभव आपका, निर्मल करो सप्रेम ।।८५।।

अन्वयार्थ—(**जहिं अप्पा तहिं सयल-गुण**) जहाँ आत्मा है वहाँ उसके सर्व गुण हैं। (**केवलि एम भणंति**) केवली भगवान ऐसा कहते है (**तिहि कारणएँ जोइ फुडु विमलु अप्पा मुणंति**) इस कारण योगीगण निश्चय से निर्मल आत्माका अनुभव करते हैं।

भावार्थ—शुद्धात्मा का जहाँ श्रद्धान है, ज्ञान है व उसी का ध्यान है अर्थात् जहाँ शुद्धात्मा का अनुभव है, उपयोग पाँच इन्द्रिय व मन के विषयों से हटकर एक निर्मल आत्मा ही की तरफ तन्मय है, वही यथार्थ मोक्षमार्ग है।

जब आत्मा का ग्रहण हो गया तब आत्मा के सर्व गुणों का ग्रहण हो गया, क्योंकि द्रव्य के सर्व गुण उसके भीतर ही रहते हैं। मिश्री को ग्रहण करने से मिश्री के सर्व गुण ग्रहण मे आ जाते हैं। आम को ग्रहण करने से आम के स्पर्शादि सर्व गुण ग्रहण मे आ जाते हैं। इसी तरह आत्मा के ग्रहण होते हुए आत्मा के सर्व गुण ग्रहण में आ जाते हैं।

एक-एक गुण का ग्रहण करने से आत्मा का एक-एक अंश ग्रहण में आयगा, सर्व आत्मा ग्रहण में नही आयगा। परन्तु अखण्ड व अभेद एक आत्मा को ग्रहण करते हुए उसके भीतर व्याप कर रहे हुए सर्व गुण ग्रहण मे आ जायँगे। इसलिये योगीगण निश्चल होकर एक निज आत्मा को ही ध्याते है। आत्मा का ध्यान करते हुये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तीनों रत्नत्रय है। वही सम्यक् तप है। आत्मा के भीतर रमण करने वाला राग द्वेष के अभाव से निश्चय अहिंसा व्रत का पालक है। सर्व असत् पर पदार्थों के त्याग से व सत्

निज पदार्थ के यथार्थ ग्रहण से आत्मा में ही निश्चय सत्य व्रत है।

पुद्गलादि की गुण पर्याय की स्थिति को ग्रहण न करके अपनी आत्मीक सम्पदा में सन्तोष रखने से आत्मा में ही निश्चय अचौर्य व्रत है आत्मा के सिवाय पर पदार्थ में न जाकर एकाग्र बने, पर-ब्रह्म स्वरूप आत्मा में ही विहार करने से आत्मा में ही निश्चय ब्रह्मचर्य व्रत है रागादि सर्व विभावों के व मूर्छा के त्याग से आत्मा के एक असंग भाव में रमण करने से आत्मा में ही परिग्रह त्याग व्रत है आत्मा आत्मा में सत्य भाव से जब ठहरा है तब वहाँ निश्चय से सामायिक है। जब आत्मा का अनुभव करते हुए वीतरागता होती है तब दीर्घ-काल के बन्धे हुए कर्मों से वीतरागता होती है व वे कर्म स्वयं निर्जरा को प्राप्त होते जाते हैं, इसलिये वहीं निश्चय प्रतिक्रमण है।

आत्मा में जब रमणता है तब भावी होने वाले विभावों का भी त्याग है, इसलिए निश्चय प्रत्याख्यान है। आत्मा अपने आत्मा के गुणों में या गुणी आत्मा में परम एकाग्र भाव में लीन है, यही निश्चय स्तुति है। आत्मा आत्मा का ही आराधना व विनय कर रहा है, यही निश्चय वन्दना है।

आत्मा से शरीरादि सर्व पर द्रव्यों से मोह त्याग दिया है व आप से आप में थिरता की है, यही निश्चय कायोत्सर्ग है। मन, बचन, काय के सर्व विकारों से भिन्न होकर आत्मा आत्मा में ही गुप्त किले में विराजित है, यही तीन गुप्ति का पालन है। पांचों इन्द्रियों के विषयों से उपयोग रुक कर एक आत्मा में ही तन्मय हो, यही पाँच इन्द्रिय निरोध संयम है।

क्रोधादि चारों कषायों से रहित आत्मा में विराजमान होने से पूर्ण उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच धर्म है। आत्मा परम शान्त है, परम कोमल है, परम सरल है, परम शुचि है। आत्मा के दर्शन गुण है, वीर्य गुण है, आनन्द गुण है, ज्ञान चेतना है, सर्व ही शुद्ध गुणों का निवास आत्मा में है। जिसने आत्मा का आराधन किया उसने सर्व आत्मीक गुणों का आराधन कर लिया

आत्मा के ध्यान से ही आत्मा के गुण विकसित होते हैं। श्रुत ज्ञान की पूर्णता होती है। अवधि ज्ञान व मनःपर्यय ज्ञान की रिद्धि प्रगट होती है। केवलज्ञान का लाभ होता है। निर्वाण का परम उपाय एक आत्मा का ध्यान है। तत्वानुशासन में कहा है—

यो मध्यस्थः पश्यति जानात्यात्मानमात्मनाऽऽत्मन्यात्मा।
दृगवगमचरणरूपस्य निश्चयान्मुक्तिहेतुरिति जिनोक्तिः ॥३२॥

भावार्थ—जो वीतरागी आत्मा आत्मा के भीतर आत्मा के द्वारा आत्मा को देखता व जानता है वह स्वयं सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप होता है। इसलिये निश्चय मोक्षमार्ग स्वरूप है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान कहते हैं।

एक आत्मा का ही मनन कर

एक्कलउ इन्दिय रहियउ मण वय काय ति-सुद्धि।
अप्पा अप्पु मुणहि तुहुं लहु पावहि सिव-सिद्धि ॥८६॥

एकाकी इन्द्रिय रहित, मन वच तन कर शुद्ध।
स्वातम का अनुभव करे, शीघ्र लहें शिव बुद्ध ॥८६॥

अन्वयार्थ—(**एक्कलउ**) एकाकी निर्ग्रंथ होकर (**इन्दिय रहियउ**) पाँचों इन्द्रियों से विरक्त होकर (**मण वय काय ति सुद्धि**) मन वचन काय की शुद्धि से (**तुहुं अप्पा अप्पु मणेहि**) तू आत्मा के द्वारा आत्मा का मनन कर (**सिव-सिद्धि लहु पावहि**) मोक्ष की सिद्धि शीघ्र ही कर सकेगा।

भावार्थ—आत्मा का मनन निश्चिन्त होकर करना चाहिये। इसलिये गृहस्थी का त्याग जरूरी है। गृहस्थ को व्यवहार धर्म, पैसा कमाना, काम भोग करना, इन तीनों कामों के लिये मन वचन काय को चंचल व राग द्वेष से पूर्ण व आकुलित रखना पड़ता है व पाँचों इन्द्रियों के भोगों में उलझना पड़ता है।

जब सर्व चिन्ताएँ न रहेंगी तब ही मन स्थिर होकर संकल्प विकल्प से रहित होकर अपने आत्मा के शुद्ध स्वभाव का मनन कर सकेगा। अतएव निर्ग्रंथ पद धारण करके निराकुल हो जाना चाहिये। स्त्री पुत्रादि कुटुम्ब की चिन्ताओं से मुक्त हो जाना चाहिये। परिग्रह व आरम्भ का त्याग बिना यथाजात रूप धारे नहीं हो सकता। इसलिए बालक के समान नग्न व निर्विकार हो जाना चाहिये। प्राकृतिक जीवन में आ जाना चाहिये। तिल तुष मात्र परिग्रह नहीं रखना चाहिये। शरदी, गर्मी, डांस, मच्छर आदि बाईस परीषहों के सहने की शक्ति प्राप्त करना चाहिये। ऊँचा आत्मध्यान, निर्ग्रंथ व निर्विकार हुये बिना हो नहीं सकता। जहाँ तक काम विकार की वासना न मिटे, स्त्री पुरुष का भेद न मिटे, लज्जा का भाव दिल से न हटे, वहाँ तक इस ऊँचे पद को ग्रहण न करे।

श्रावक के पद में रहकर एक देश आत्म ध्यान का साधन करे। निर्वाण का साक्षात् उपाय निर्ग्रंथ पद ही है। इस ही पद को धार कर सर्व ही प्राचीनकाल के तीर्थंकरों व महात्माओं ने उक्त प्रकार का आत्म ध्यान करके धर्म ध्यान व शुक्ल ध्यान करके निर्वाण लाभ किया था। सर्व चिन्ताओं से रहित एकाकी होना जरूरी है। अपने आत्मा को एकाकी समझना चाहिये। इसका संयोग पुद्गल से अनादि काल का होने पर भी यह बिल्कुल उससे निराला है। यह शुद्ध चैतन्यमूर्ति है। न तो कर्मों का न शरीरादि का न रागादि भाव कर्मों का कोई सम्बन्ध इस आत्मा से है न अन्य आत्माओं का कोई सम्बन्ध है। हर एक आत्मा की सत्ता निराली है, मैं एकाकी सदा से हूँ व रहूँगा। एकत्व की भावना सदा भावे। पांचों इन्द्रियों के विषयों का पूर्ण विजयी होना चाहिए।

जहाँ तक इन्द्रियों के विषयों की लालसा न छूटे वहाँ तक गृहस्थ में स्त्री सहित रह कर ही यथाशक्ति आत्मा का मनन करे। जब लालसा विषयों की न रहे, मन से विषय, विकार निकल जावे व अतीन्द्रिय आत्मीक सुख का प्रेम बढ़ जावे व अभ्यास भी ऐसा हो

जावे कि आत्मीक रस के स्वाद बिना और सब विषय रस के स्वाद फीके भासें तब ही वह जिन या जितेन्द्रिय होकर आत्मा का मनन कर सकता है। मन की शुद्धि हो। मन में से राग-द्वेष मोह को हटाया जावे। वीतराग के रस का रसिक मन को बनाया जावे। सर्व ही अप-ध्यानों को दूर किया जावे। आर्त रौद्र ध्यानों से मन को निर्मल किया जावे। मन में सहज वैराग्य प्राप्त किया जावे, कष्ट व उपसर्ग आने पर मन को सहनशील बनाया जावे।

क्रोध, मान, माया, लोभ के आक्रमणों से मन को बचाया जावे, वचनों का प्रयोग केवल आवश्यक धर्मोपदेश में किया जावे। मौन रहने की आदत डाली जावे। स्त्री-कथा, भोजन-कथा, देश-कथा, नृपति-कथा से विरक्त रहा जावे। भाषा मीठी अमृत समान स्वपर प्रिय धर्म रस गर्भित बोली जावे, वचन शुद्धि पाली जावे।

शरीर को शुद्ध निर्विकार रक्खा जावे, स्नानादि त्याग कर शृङ्गार व शोभा रहित व शांत रखा जावे। निश्चय से रस नीरस आहार जो प्राप्त हो उसको ऊनोदर लेकर शरीर को रोग रहित व हलका रखा जावे। इस तरह मन, वचन, काय को शुद्ध रख के निर्जन स्थानों में तिष्ठ कर एकाकी शुद्ध अतीन्द्रिय आत्मा का मनन या अनु-भव किया जावे। इसी उपाय से मोक्ष की सिद्धि होगी।

आत्मानुशासन में कहा है—

मुहुः प्रसार्य्य सज्ज्ञानं पश्यन् भावान् यथास्थितान्।
प्रीत्यप्रीती निराकृत्य ध्यायेदध्यात्मविन्मुनिः ॥१७७॥

भावार्थ—आत्मज्ञानी मुनि को योग्य है कि बार-बार सम्यग्ज्ञान को भीतर फैला रखें। पदार्थों को जैसा का तैसा देखते हुए राग-द्वेष न करते हुए समता भाव से आत्मा को ध्यावे।

—:०:—

सहज स्वरूप में रमण कर

जइ बद्धउ मुक्कउ मुणहि तो बंधियहि णिभंतु ।
सहज-सरूवइ जइ रमहि तो पावहि सिव सन्तु ।।८७।।

बन्ध मोक्ष की भ्रांति से, बंधे जीव के कर्म ।
सहज रमे निज रूप में, तो पावे शिव शर्म ।।८७।।

अन्वयार्थ—(**जइ बद्धउ मुक्कउ मुणहि**) यदि तू बन्ध मोक्ष की कल्पना करेगा (**तो णिभंतु बंधियहि**) तो निःसन्देह तू बन्धेगा (**जइ सहज सरूवइ रमहि**) यदि तू सहज स्वरूप में रमण करेगा (**तो सन्तु सिव पावहि**) तो शान्त मोक्ष को पावेगा ।

भावार्थ—निर्वाण का उपाय एक शुद्धात्मानुभव है, जहाँ मन के विकल्प या विचार सब बन्द हो जाते हैं, काय स्थिर होती है, वचन नहीं रहता है वहाँ ही स्वानुभव का प्रकाश होता है । इसी को निर्विकल्प समाधि कहते हैं । यही आत्मस्थ भाव है, यही यथार्थ में मोक्ष का मार्ग है, यही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की एकता है, यही राग-द्वेष रहित वीतराग भाव है, यही परम समता है, यही एक अद्वैत भाव है, यही संवर व निर्जरा तत्व है । अतएव ज्ञानी को व्यवहारनय के विचार को तो बिल्कुल छोड़ देना चाहिये ।

व्यवहारनय से ही यह देखा जाता है कि आत्मा में कर्मों का बंध है, आत्मा के साथ शरीर है, आत्मा में क्रोध, मान, माया, लोभ भाव हैं, आत्मा अशुद्ध है, इसको शुद्ध करना है, मोक्ष का लाभ करना है । हम चौथे पाँचवें छठे या सातवें गुणस्थान में हैं, गुण स्थानों की उन्नति करके अरहन्त व सिद्ध होना है, हम मनुष्यगति में हैं, हम सैनी पंचेन्द्रिय त्रस हैं, मन, वचन, काय योगों के धारी हैं, हम पुरुषवेदी हैं, हमारे कषाय भाव है, हमारे मति श्रुत ज्ञान हैं, हमारे असंयम या देश संयम या सकल संयम है, हमारे चक्षु या अचक्षु दर्शन है, हमारे शुभ या अशुभ लेश्या है, हम भव्य हैं, हम सम्यग्दृष्टी हैं, हम सैनी हैं, हम आहारक हैं । इस तरह गुणस्थान तथा मार्गणा स्थानों का विचार या

कर्मों के आस्रव भावों का विचार व चार प्रकार बन्ध का विचार या संवर व निर्जरा के कारणों का विचार; यह सब व्यवहारनय के द्वारा विचार-चंचलता है, शुभोपयोगमय है अतएव बन्ध के कारण हैं। क्योंकि इन विचारों में संसार दशा त्यागने योग्य व मोक्ष दशा ग्रहण योग्य भासती हैं। संसार से द्वेष व मोक्ष से राग है। वीतराग दशा को पाने के लिये व्यवहारनय के सर्व विचारों को बन्द रख के केवल निश्चयनय के द्वारा अपने को व जगत को देखना चाहिए तब यह जगत छह शुद्ध द्रव्यों का समुदाय दीखेगा। सर्व ही परमाणु रूप पुद्गल अवन्ध दीखेंगे व सर्वही जीव शुद्ध वीतराग दीखेंगे। इस तरह देखने से राग द्वेष के कारण सर्व ही दृश्य दृष्टि में से निकल जायेंगे। समताभाव आ जायगा। फिर केवल अपने ही आत्मा को द्रव्यरूप शुद्ध देखें।

जहां तक विचार है वहाँ तक मन का विकल्प है। जब विचार करते करते मन थिर हो जायगा तब सहज स्वरूप में रमण हो जायगा व स्वानुभव हो जायगा। इसी से बहुत कर्मों की निर्जरा होती है। इसी के लाभ को मोक्ष मार्ग जानो। जब जब स्वानुभव है तब तब मोक्षमार्ग है। स्वानुभव के सिवाय मन के विचार को व शास्त्र पाठकों या काय के वर्तन को या महाव्रत अणुव्रत पालन को मोक्षमार्ग कहना यथार्थ नहीं है, व्यवहार मात्र है। जैसे तलवार सोने की म्यान में है उसको सोने की तलवार कहना।

लाल रंग के मिलने से पानी को लाल कहना, अग्नि के संयोग से पानी को उष्ण कहना घी के संयोग से घड़े को घी का घड़ा कहना, वैसे मन, वचन, काय की क्रिया को मोक्षमार्ग कहना व्यवहार है। साधक अवस्था में यह स्वानुभव बहुत अल्पकाल रहता है। वज्रवृषभ-नाराच संहनन के धारी में यदि मुहूर्त से कुछ कम देर तक हो जावे तो चार घातीय कर्म के बन्धन कट जावें और केवलज्ञान का लाभ हो जावे।

स्वानुभव के छुटने पर साधक को निश्चयनय या द्रव्यार्थिकनय के द्वारा शुद्ध तत्व का विचार करना चाहिये। यदि उपयोग न जमे

तो व्यवहारनय या पर्यायार्थिकनय के द्वारा सात तत्व, बारह भावना, दस धर्म गुणस्थान, मार्गणा आदि का विचार करे, शास्त्र पढ़े, उपदेश दे आदि व्यवहार धर्म को करे, परन्तु भावना यही रखे कि मैं शीघ्र ही स्वानुभव में पहुंच जाऊँ। इस उपाय से जो कोई तत्वज्ञानी सहजात्मा स्वरूप को मनन करेगा वही परम शांत निर्वाण के सुख का भाजन होगा समयसार में कहा है—

जह बंधे चिंतंतो बंधणबद्धो ण पावदि विमोक्खं।
तह बंधे चिंतंतो जीवोवि ण पावदि विमोक्खं ॥२११॥
जह बंधे छित्तणय बंधणबद्धो दु पावदि विमोक्खं।
तह बंधे छित्तूणय जीवो संपावदि विमोक्खं ॥२१३॥

भावार्थ—जैसे कोई बंधन में बंधा है वह बंध की चिन्ता किया करे तो चिन्ता मात्र से वह बंध से नहीं छूट सकता वैसे ही कोई जीव यह चिन्ता करे कि यह कर्मबन्ध है, कर्म से मुक्त होना है वह इस चिंता से मुक्त नहीं होगा। जैसे बंधन में बंधा पुरुष बंध को काट करके ही बंध से छूटेगा वैसे ही भव्य जीव बंध को छेद करके ही मुक्त होगा। बंध के छेद का उपाय एक स्वानुभव है।

सम्यग्दृष्टि सुगति पाता है

सम्माइट्ठी-जीवडहँ दुग्गइ-गमणु ण होइ
जइ जाइ वि तो दोसु णवि पुव्व-किउ खवणेइ ॥८८॥

सम्यग्दृष्टी जीव का, दुर्गति गमन न होय।
पूर्व बन्ध वश जाय तो, सम्यक दोष न कोय ॥८८॥

अन्वयार्थ—(सम्माइट्ठी-जीवडहँ दुग्गइ-गमणु ण होइ) सम्यग्दृष्टी जीव का गमन खोटी गतियों में नहीं होता है (जइ जाइ वि तो दोसु णवि) यदि कदाचित् खोटी गति जावे तो हानि नहीं (पुव्वकिउ खवणेइ) यह पूर्वकृत कर्म का क्षय करता है।

भावार्थ—आत्मा के शुद्ध स्वरूप की गाढ़ रुचि व अतींद्रिय सुख से परमप्रेम रखने वाले भव्यजीव को सम्यग्दृष्टी कहते हैं, वह मोक्ष के

नगर का पथिक बन जाता है। संसार की तरफ पीठ रखता है। उसके भीतर आठ लक्षण या चिह्न प्रगट हो जाते हैं—

संवेओ णिव्वेओ णिंदा गरुहा उपसमो भत्ति।
बन्धनं अणुकंपा गुणट्ठ सम्मत जुत्तस्स ॥

(१) **संवेग**—धर्म से प्रेम।

(२) **निर्वेद**—संसार शरीर भोगों से वैराग्य। संसार के भीतर चारों गतियों में आकुलता है यह शरीर कारागार है, इन्द्रियों के भोग अतृप्तिकारी व नाशवन्त हैं।

(३) **निन्दा**—अपने अवगुणों को बुरा समझना।

(४) **गर्हा**—आत्मबल की कमी से व कषाय के उदय से लाचार होकर जो उसे लौकिक कार्यों में प्रवर्तना पड़ता है व अरम्भादि करना पड़ता है उसी के लिये वह अपने मन में अपनी निन्दा करता रहता है व दूसरों से भी अपनी कमी की निन्दा करता रहता है। वह तो निर्वाण के लाभ को ही उत्तम जानता है। अपनी मन, वचन, काय की क्रिया को त्यागने योग्य समझता है।

(५) **उपशम**—शांत भाव सम्यक्ती के भीतर रहता है। ज्ञान-पूर्वक हर एक काम करता है। आत्मानुभव के प्रताप से सहज शांत भाव जागृत रहता है। एकदम क्रोधादि में नहीं परिणमता है, विपरीत कारणों पर कर्मों का उदय फल विचार लेता है।

(६) **भक्ति**—सम्यक्ती जिनेन्द्रदेव, निर्ग्रंथ गुरु, जिनवाणी की गाढ़ भक्ति रखता है। स्तुति, वंदना, पूजा, स्वाध्याय किया करता है। उनको मोक्ष का सहकारी जानता है।

(७) **वात्सल्य**—साधर्मी भाई व बहनों पर धार्मिक प्रेम रखता है, धर्मभाव से उनकी सेवा करता है।

(८) **अनुकम्पा**—प्राणी मात्र पर दयाभाव रखता है। मन, वचन, काय, से किसी प्राणी को कष्ट देना नहीं चाहता है। शक्ति को न छिपा कर प्राणी मात्र का हित करता है।

किसी प्राणी के साथ अन्याय का व्यवहार नहीं करता है। ऐसा तत्वज्ञानी जीव दुर्गति ले जाने वाले पाप कर्मों को नहीं बाँधता है।

मिथ्यात्व गुणस्थान से बंधने वाली १६ सोलह का, अर्थात् १-मिथ्यात्व, २-हुंडक संस्थान, ३-नपुंसक वेद, ४-असंप्राप्त संहनन ५-एकेन्द्रिय, ६-स्थावर, ७-आताप, ८-सूक्ष्म, ९-साधारण, १०-अपर्याप्त, ११-द्वेन्द्रिय, १२-तेन्द्रिय, १३-चौन्द्रिय, १४-नरकगति, १५-नरकगत्यानुपूर्वी, १६-नरक आयु का।

तथा सासादन गुणस्थान तक बंधने वाली २५ पच्चीस का अर्थात् ४ अनन्तानुबन्धी कषाय, ५ स्त्यानगृद्धि, ६ निद्रा निद्रा, ७ प्रचला प्रचला, ८ दुर्भग ९ दुःस्वर, १० अनादेय, ११-१४ चार संस्थान न्यग्रोधादि १५-१८ चार संहनन वज्रनाराचादि, १९ अप्रशस्त विहायोगति, २० स्त्रीवेद, २१ नीच गोत्र, २२ तिर्यंचगति, २३ तिर्यंच-गत्यानुपूर्वी, २४ तिर्यंच आयु, २५ उद्योत की। इस तरह ४१ प्रकृतियों का बंध नहीं करता है। वह तो देवगति या मनुष्यगति में ही जन्म लेता है। यदि तिर्यंच या मनुष्य सम्यक्ती हुआ तो स्वर्ग का देव होता है। यदि नारकी व देव सम्यक्ती हुआ तो उत्तम मनुष्य होता है।

सम्यक्त लाभ होने के पहले यदि मनुष्य या तिर्यंच ने नरकआयु व तिर्यंच आयु या मनुष्यायु बांध ली हो तो सम्यक्त सहित पहले नर्क, व भोगभूमि में तिर्यंच व मनुष्य जन्मता है वहाँ भी समभाव से दुःख सुख भोग लेता है। सम्यक्ती सदा ही सुखी रहता है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है—

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥३५॥
ओजस्तेजोविद्यावीर्ययशोवृद्धिविजयविभवसनाथाः।
महाकुलाः महार्था मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः ॥३६॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शन से शुद्ध जीव व्रत रहित होने पर भी ऐसा पाप नहीं बांधते जिससे नारकी हो, तिर्यंच हो, नपुंसक हो स्त्री हो, नीच कुल में पैदा हो, अंगहीन हो अल्पायु हो या दरिद्री हो।

सम्यग्दर्शन से पवित्र जीव ओज, तेज, विद्या, वीर्य यश, वृद्धि व विजय को पाने वाले महाकुलवान, महाधनवान मनुष्यों में मुख्य होते हैं।

——:०:——

सम्यग्दृष्टी का श्रेष्ठ कर्तव्य

अप्प-सरूवहं जो रमइ छंडिवि सहु ववहारु ।
सो सम्माइट्ठी हवइ लहु पावइ भवपारु ॥८९॥

निज स्वरूप में जो रमे, त्याग सर्व व्यवहार ।
सम्यग्दृष्टी होय सो शीघ्र, लहे भव पार ॥८९॥

अन्वयार्थ—(**जो सहु ववहारु छंडिवि**) जो सर्व व्यवहार को छोड कर (**अप्प-सरूवहं रमइ**) अपने आत्मा के स्वरूप में रमण करता है (**सो सम्माइट्ठी हवइ**) वही सम्यग्दृष्टी है (**लहु पावइ भवपारु**) वह शीघ्र ही संसार से पार हो जाता है ।

भावार्थ—जिसको निर्वाण ही एक ग्रहणयोग्य पद दिखता है, जो चारों गतियों की सर्व कर्मजनित दशाओं को त्यागने योग्य समझता है, जो अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य के लाभ को परम लाभ समझता है, जो निश्चय से जानता है कि मैं सर्व शुद्ध सिद्ध सम हूँ, व्यवहार दृष्टि मे कर्म का संयोग है सो त्यागने योग्य है, जो संसार वास में क्षण मात्र भी रहना नहीं चाहता है वही सम्यग्दृष्टी है । वह जानता है कि निर्वाण का उपाय मात्र एक अपने ही शुद्ध आत्मा के शुद्ध स्वभाव में रमण है आत्मानुभव है । उसका निश्चितपने अभ्यास तब ही संभव है जब सर्व व्यवहार को त्याद दिया जावे, गृहस्थ के प्रबन्ध को हटा दिया जावे ।

स्त्री पुत्रादि कुटुम्ब की चिन्ता को मेट दिया जावे । धन, धान्य, भूमि, मकानादि परिग्रह को त्याग दिया वोवे । तीर्थंकर के समान यथाख्यात रूप नग्न दिगम्बर पद धारण किया जावे, जहाँ बालक के समान सरल व शांत भाव से रहकर निर्जन स्थानों में आत्मा का अनुभव किया जावे । साधु पद में उतना ही व्यवहार रह जाता है जिससे भिक्षावृत्ति द्वारा शरीर का पालन हो व जब उपयोग आत्मीक भाव में न रमे तब शुद्धात्मा के स्मरण कराने वाले शास्त्रों के मनन में व धर्म-चर्चा में स्तुति वंदना पाठादि पढ़ने में उपयोग को रखा जावे ।

व्यवहार धर्मध्यान व धर्म की प्रभावना करना इतना व्यवहार रहता है। आहार विहार व व्यवहार धर्म को करते हुए साधु इस व्यवहार से भी उदास रहते हैं, आत्मवीर्य की कमी से वर्तते हैं। जैसे-जैसे आत्म ध्यान की शक्ति बढ़ती जाती है वैसे-वैसे यह व्यवहार भी छूटता जाता है, तो भी साधुपद में इतनी अधिक आत्मरमणता का अभ्यास हो जाता है कि एक अन्तर्मुहूर्त से अधिक आत्मानुभव से बाहर नहीं रहता है।

साधु के जब तक वह उपशम या क्षपक श्रेणी पर न चढ़े, छठा व सातवाँ दो गुणस्थान होते हैं। हरएक का काल एक अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं है। व्यवहार धर्म व क्रिया का पालन छठे गुणस्थान में होता है। यदि इन व्यवहार कार्यों में अन्तर्मुहूर्त से अधिक समय लगे तो बीच-बीच में सातवाँ गुणस्थान क्षणभर के लिए आत्मनुभवरूप हो जाता है।

सम्यग्दृष्टी के गृह त्याग व साधुपद का ग्रहण तब ही होता है जब उसके भीतर प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय न होने पर सहसा वैराग्य जग जाता है। वह दृढ़ता पूर्वक बिना परिणामों की उच्चता प्राप्त हुए किसी ऊँची क्रिया को धारण नहीं करता है। जब तक सहज वैराग्य न आवे वह परिणामों के अनुसार श्रावक पद के भीतर रहकर यथा सम्भव दर्शन प्रजिमा से लेकर उद्दिष्टत्यग ग्यारहवीं प्रतिमा तक के चारित्र को पालकर आत्मानुभव के लिये अधिकाअधिक समय निकालता है। क्रम क्रम से व्यवहार को घटाता है व निश्चय में रमण को बढ़ाता है।

यह श्रावक का पंचम गुणस्थान भी तब ही होता है जब सम्यक्ती के भीतर अप्रत्याख्यान कषाय के उदय न होने पर एकदेश सहज वैराग्य पैदा हो जाता है। यदि ऐसा भाव न हो तो यह चौथे गुणस्थान में ही रहकर यथासम्भव समय निकालता है। जब वह सर्व व्यवहार मन, वचन, काय की क्रिया को छोड़कर शुद्धात्मा का मनन करके स्वानुभव करता है, व्यवहार की चिन्ता अधिक होने से वह अधिक समय स्वानुभव में नहीं ठहर सकता है। प्रयत्न एक यही रहता

है कि स्वानुभव दशा में अधिक रहूँ। कषाय के उदय से व आत्मवीर्य की कमी से वह लाचार हो जाता है। सम्यग्दृष्टी का लक्ष्य एक निर्वाण ही हो जाता है। वह अवश्य निर्वाणपुर में पहुंच जायगा।

देवसेनाचार्य तत्वसार से कहते हैं—

लहइ ण भव्वो मोक्खं जावइ परदव्ववावडो चित्तो।
उग्गतवंपि कुणंतो सुद्धे भावे लहुं लहइ ॥३३॥

भावार्थ—जब तक चित्त परद्रव्य के व्यवहार में रहता है व संलग्न है तब तक भव्य जीव कठिन-कठिन तप करता हुआ भी मोक्ष को नहीं पाता है परन्तु शुद्ध आत्मीक भावों का लाभ होने पर वह शीघ्र ही मोक्ष को पा लेता है।

सम्यक्ती ही पंडित व मुखिया है

जो सम्मत्त-पहाण बुहु सो तइलोय-पहाणु।
केवल-णाण वि लहु लहइ सासय-सुक्ख-णिहाणु ॥९०॥

अजर अमर गुण का निलय, सम्यक श्रद्धावान।
करे न बन्ध नवीन विधि, पूर्व निर्जरा ठान ॥९०॥

अन्वयार्थ—(**जो सम्मत्त-पहाण**) जो सम्यग्दर्शन का स्वामी है (**बुहु**) वह पंडित है (**सो तइलोय-पहाणु**) वही तीन लोक में प्रधान है (**सासय सुक्ख णिहाणु केवल-णाण वि लहु लहइ**) सो अविनाशी सुख के निधान केवलज्ञान को शीघ्र ही पा लेता है।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन सर्व गुणो मे प्रधान है। इसके होते हुए ज्ञान सम्यग्ज्ञान व चारित्र सम्यक्चारित्र हो जाता ह। जैसे १ के अंक सहित बिन्दी सफल होती है, नही तो निष्फल है, वैसे सम्यक्त सहित ज्ञान व चारित्र मोक्ष की तरफ ले जाने वाले हैं। यदि सम्यक्त न हो तो केवल पुण्य बाध के ससार के भ्रमण के ही कारण है।

जैसे मूल बिना वृक्ष नहीं, नीव बिना घर नहीं, वैसे ही सम्यक्त

के बीज बिना धर्मरूपी वृक्ष नहीं उगता है। जिसको अनेक शास्त्रों का ज्ञान हो, परन्तु सम्यक्त के होते हुए ही वह ज्ञानी है, उसका शास्त्र ज्ञान सफल है। द्वादशांग वाणी का सार यही है—जो आत्मा को पर-द्रव्यों से पर-भावों से भिन्न व शुद्ध द्रव्य जाना जावे व शंका रहित विश्वास लाया जावे। यही निश्चय सम्यग्दर्शन है।

तीन लोक की सम्पदा सम्यग्दर्शन के लाभ के सामने कुछ नहीं है एक नीच चाण्डाल पुरुष यदि सम्यग्दर्शन सहित है तो वह पूजनीय देव है, परन्तु एक नवम ग्रैवेयिक का अहमिंद्र सम्यक्त के बिना पूज्य नहीं है। एक गृहस्थ सम्यग्दर्शन सहित हो तो वह उस मुनि से उत्तम है जो मिथ्यादर्शन सहित चारित्र पालता है। सम्यग्दर्शन सहित नरक का वास भी उत्तम है। सम्यग्दर्शन रहित स्वर्ग का वास भी ठीक नहीं है।

सम्यग्दर्शन का इतना माहात्म्य इसीलिये कहा गया है कि इसके लाभ से अनादिकाल का अन्धेरा मिट जाता है व प्रकाश हो जाता है। जो संसार प्रिय भासता था वह त्यागने योग्य भासने लगता है। जो सांसारिक इन्द्रिय सुख ग्रहण करने योग्य भासता था वह त्यागने योग्य भासता है। जिसे अतीन्द्रिय स्वाधीन सुख की खबर ही नहीं थी उसका पता लग जाता है व उसका स्वाद भी आने लगता है। सम्यग्दृष्टी के भीतर सच्चा ज्ञान होता है कि मेरा आत्मद्रव्य परम शुद्ध ज्ञातादृष्टा परमात्मस्वरूप है। मेरी सम्पत्ति मेरे ही अविनाशी ज्ञान, दर्शन, सुख वीर्यादि गुण हैं। मेरा अहंभाव अब अपने आत्मा में है व ममकार भाव अपने ही गुणों में है। पहले मैं कर्मजनित अपनी अवस्थाओं को अपनी मानता था कि मैं नारकी हूँ, तिर्यंच हूँ, मनुष्य हूँ, देव हूँ, मैं सुन्दर हूँ, असुन्दर हूँ, रोगी हूँ, निरोगी हूँ, क्रोधी हूँ, मानी हूँ, मायावी हूँ, लोभी हूँ, स्त्री हूँ, पुरुष हूँ, नपुंसक हूँ, शोकी हूँ, भगवान हूँ, दुःखी हूँ, सुखी हूँ, पुण्य का कर्ता हूँ, पाप का कर्ता हूँ, परोपकारी हूँ, दानी हूँ, तपस्वी हूँ, विद्वान हूँ, व्रती हूँ, श्रावक हूँ, मुनि हूँ, राजा हूं, प्रधान हूं। इसी तरह पर वस्तुओं को अपनी मानकर ममकार करता था कि मेरा धन है, खेत है, मकान है, ग्राम है, राज्य

है, मेरे वस्त्र हैं, आभूषण हैं, मेरी स्त्री है, मेरे पुत्र पुत्री हैं, मेरी भगिनी है, मेरी माता है, मेरा पिता है, मेरी सेना है, मेरे हाथी-घोड़े हैं, मेरी पालकी है। इस अहंकार ममकार में अन्धा होकर रात-दिन कर्मजनित संयोगों में ही क्रीड़ा किया करता था। इष्ट के ग्रहण व अनिष्ट के त्याग में उद्यमी था। इस अज्ञान का नाश होते ही सम्यक्ती का पर-भावों में अहंकार व परपदार्थों में ममकार बिल्कुल दूर हो जाता है।

वह गृहस्थी में जब तक रहता है तब तक कर्मों के उदय को उदय मानकर सर्व गृहस्थ सम्बन्धी लौकिक क्रिया को अपने आत्मीक कर्तव्य से भिन्न जानता है। लिप्त नहीं हो जाता है। भीतर वैरागी रहता है। कषाय का उदय जब शमन होता है तब गृह त्यागकर साधु हो जाता है। सम्यक्ती जीव सदा ही भेद विज्ञान के द्वारा अपने शुद्धात्मा को भिन्न ध्याता है। धीरे धीरे आत्मा को निर्मल करता है। सम्यक्ती साधु ही क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर मोह का व शेष ज्ञानावरणादि का पूर्ण क्षय करके केवलज्ञानी अरहंत परमात्मा हो जाता है तब अविनाशी अनन्त सुख का भोगने वाला हो जाता है। सम्यक्त के समान कोई मित्र नहीं है, यही सच्चा मित्र है जो संसार के दु:ख से छुड़ाकर निर्वाण में पहुंचा देता है।

आत्मानुशासन मे कहा है—

शमबोधवृत्ततपसां पाषाणस्येव गौरवं पुंस:।
पूज्यं महामणेरिव तदेव सम्यक्त्वसंयुक्तम् ॥१५॥

भावार्थ—शांत भाव, ज्ञान, चारित्र, तप का मूल्य कंकड़, पाषाण के समान सम्यग्दर्शन के बिना तुच्छ है। यदि सम्यग्दर्शन सहित हो तो उनका मूल्य महान रत्न के समान हो जाता है।

———❀———

आत्मा में स्थिरता संवर व निर्जरा का कारण है

अजर अमर गुण-गण-णिलउ जहि अप्पा थिर ठाइ ।
सो कम्मेहिं ण बंधियउ संचिय-पुव्व विलाइ ॥९१॥

जो सम्यक्त प्रधान नर, सो ज्ञानी धीमान ।
सो प्रधान त्रैलोक में, शास्वत सुक्ख निधान ॥९१॥

अन्वयार्थ—(**जहि अजर अमर गुण-गण-णिलउ अप्पा थिर ठाइ**) जहाँ अजर अमर गुणों का निधान आत्मा स्थिर हो जाता है (**सो कम्मेहिं ण बंधियउ**) वहाँ वह आत्मा नवीन कर्मों से नहीं बंधता है (**पुव्व संचिय विलाइ**) पूर्व में संचित कर्मों का क्षय करता है।

भावार्थ—यह आत्मा निश्चय से जन्म, जरा, मरण से रहित अविनाशी है तथा सामान्य व विशेष गुणों का समूह है। कर्मों से व शरीरों से भिन्न जब अपने आत्मा को देखा जाता है तो वह शुद्ध ही दिखता है। जैसे मिट्टी सहित पानी को जब पानी के स्वभाव की अपेक्षा देखा जावे तो पानी शुद्ध ही दिखता है। भेदविज्ञान की शक्ति से अपने आत्मा को कर्मों से भिन्न व कर्मोदयजनित भावों से भिन्न सहज ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य का सागर निरंजन परमात्मादेव ही देखना चाहिये। सम्यग्दृष्टी को ऐसा ही श्रद्धान होता है।

इस श्रद्धान व ज्ञान के बल से सम्यग्दृष्टी जीव अपने आत्मा में स्थिर होने का पुरुषार्थ करता है। जब तक स्वानुभव या आत्मा में थिरता प्राप्त करता है तब तक पूर्व बाँधे कर्मों की निर्जरा बहुत होती है। गुणस्थानों की रीति के अनुसार बंध नियमित प्रकृतियों का होता है। तथापि घातीय कर्मों में अनुभाग बहुत अल्प पड़ता है। अघातीय में पाप कर्मों का बन्ध नहीं होता है, पुण्य कर्मों का ही होता है। उनमें अनुभाग अधिक पड़ता है, स्थिति आयु के सिवाय सात कर्मों की कम पड़ती है।

बन्ध का उदय सूक्ष्मसांपराय दसवें गुणस्थान तक चलता है। क्योंकि वहाँ तक लोभ कषाय का उदय है। यहीं तक सांपरायिक आस्रव है। यहीं तक उपयोग की चञ्चलता है। उपशांत कषाय का काल अन्तर्मुहूर्त है। यहाँ वीतरागता है। क्षीण कषाय में भी वीतरागता है, संयोग केवली मे भी वीतरागता है। इन तीनों गुणस्थानों में योगों की चंचलता नही है। इसमें ईर्यापथ आस्रव एक सातावेदनीय कर्म का होता है। कर्म आते हैं, फल देकर चले जाते हैं।

जहाँ आत्मा में थिरता है वहाँ विशेष कर्मों की निर्जरा होती है। क्षीणमोह गुणस्थान मे थिरतारूप एकत्व वितर्क अवीचार नाम का दूसरा शुक्लध्यान पैदा हो जाता है तब एक ही अन्तर्मुहूर्त में ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय कर्म की निर्जरा होती है। और यह आत्मा अरहन्त परमात्मा हो जाता है। तेरहवें व चौदहवें में आत्मा में परम स्थिरता है इससे बन्ध नही होता है। पुरातन कर्म झड़ते जाते हैं। चौदहवें के अन्त में यह आत्मा कर्म रहित होकर सिद्ध हो जाता है।

आत्मा में स्थिरता होने का काम चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ हो जाता है। वहाँ स्वरूपाचरण चारित्र है जो अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय के न होने पर प्रगट हो जाता है।

पाँचवे देशसयम गुणस्थान मे अप्रत्याख्यान कषाय का उदय नहीं होता है इससे स्वरूपाचरण मे अधिक स्थिरता होती है व निर्मलता भी होती है। पंचम गुणस्थान मे ग्यारह श्रेणियाँ हैं, उनमे चढ़ते हुए जैसे जैसे प्रत्याख्यान कषाय का उदय मन्द होता है वैसे वैसे स्वरूप मे स्थिरता अधिक होती जाती है।

प्रमत्त गुणस्थान मे प्रत्याख्यान कषाय का उदय नही रहता है तब और भी अधिक स्वरूपाचरण मे थिरता होती है। अप्रमत्त में सज्वलन कषाय का मन्द उदय है तब प्रमाद भाव से रहित अधिक निश्चलता होती है। अपूर्वकरण गुणस्थान में और भी संज्वलन मन्द पड़ जाता है तब अधिक स्थिरता होती है। अनिवृत्तिकरण में बहुत ही मन्द कषाय होती है तब और भी अधिक थिरता होती है।

सूक्ष्मसांपराय में केवल सूक्ष्म लोभ का उदय है, अधिक थिरता व शांति है। इस तरह जैसे जैसे राग-द्वेष विकार दूर होते जाते हैं वैसे वैसे आत्मा में स्थिरता बढ़ती जाती है। शुद्धात्मा के स्वभाव में थिर होना या आत्मीक आनन्द का पान करना ही एक उपाय है, जिससे संवर व निर्जरा होकर मोक्ष का उपाय बनता है। इसलिये मुमुक्षु को पुरुषार्थ करके अपने ही शुद्धात्मा की भावना नित्य करना चाहिये।

इष्टोपदेश में कहा है—

अविद्याभिदुरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत्।
तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं तद्द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः ॥४९॥

भावार्थ—मोक्ष के प्रेमियों का कर्तव्य है कि वे आत्मा के ही सम्बन्ध में प्रश्न करें, उसी का प्रेम करें व उसी को देखें व अनुभव करें। वह आत्मज्योति अज्ञान से रहित है, परम ज्ञानमय है व सबसे महान है।

—: ० :—

आत्मरमी कर्मों से नहीं बंधता

जह सलिलेण ण लिप्पियइ कमलणि-पत्त कया वि।
तह कम्मेहिं ण लिप्पियइ जइ रइ अप्प-सहावि ॥९२॥

ज्यों जल लिप्त न हो कमल, तैसे सम्यकवान।
लिप्त न होवे कर्ममल, स्वातम बुद्ध महान ॥९२॥

अन्वयार्थ—(**जह कमलणि-पत्त कया वि सलिलेण ण लिप्पियइ**) जैसे कमलिनी का पत्ता कभी भी पानी से लिप्त नहीं होता (**तह जइ अप्प-सहावि रइ कम्मेहिं ण लिप्पियइ**) वैसे ही यदि आत्मीक स्वभाव में रत हो तो जीव कर्मों से लिप्त नहीं होता है।

भावार्थ—आत्मा में लीन भव्यजीव मोक्षमार्गी है। रत्नत्रय की एकता को रखता है। वीतराग व समभाव में लीन होता है। राग-द्वेष विहीन होता है। इससे कर्मों से नहीं बंधता है। बन्धनाशक वीत-

राग भाव है। बन्धकारक राग-द्वेष मोह है। मोह मिथ्यात्व भाव को कहते हैं। रागद्वेष कषाय को कहते हैं। सम्यक्ती चौथे गुणस्थान में ही तो अपने आत्मरमणता की गाढ़ श्रद्धावश ४१ इकतालीस प्रकृति का बन्ध नहीं करता है, उनको हम पहले गिना चुके हैं। सम्यक्ती नरक, तिर्यंचगति ले जाने वाली कर्म प्रकृतियों को नहीं बांधता है। फिर जैसे जैसे गुणस्थान में चढ़ता है, आत्मरमणता की शक्ति विशेष प्रकट होती जाती है, तब और अधिक बन्ध को घटाता जाता है। बन्ध की इससे १२० प्रकृतियें गिनी गई हैं।

ज्ञानावरणीय की ५ + दर्शनावरणीय की ६ + वेदनीय की २ + मोहनीय की २६ (सम्यक्त व मिश्र का बन्ध नहीं होता है) + आयु की ४ + नाम की ६७ पांच बन्धन, पाँच संघात न गिन के पाँच शरीर के साथ मिला दिये वर्णादि २० की अपेक्षा चार ही जानें। इस तरह १०+१६=२६ कर्म ६३ में घट गये+गोत्र की २+ अन्तराय की ५=१२०—ये प्रकृतियाँ नीचे लिखे प्रकार गुणस्थानों में व्युच्छित्ति पाती है। जिन गुणस्थान में जितनी प्रकृतियों की व्युच्छित्ति है वे प्रकृतियाँ आगे के गुणस्थानों में नहीं बँधती हैं—

(१) **मिथ्यात्व**—१६-मिथ्यात्व, हुण्डक संस्थान, नपुंसक वेद, असं० संहनन, एकेन्द्रिय, स्थावर, आताप, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त, द्वेइन्द्रिय, तेंद्रिय, चौइन्द्रिय, नरकगति, नरक गत्या० नरक आयु=१६।

(२) **सासादन**—२५ अनन्तानुबन्धी ४ कषाय, स्त्यानगृद्धि, निद्रा निद्रा, प्रचला प्रचला, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, न्यग्रोधादि ४ संस्थान, वज्रनाराचादि ४ सहनन, अप्रशस्त विहायोगति, स्त्री वेद नीचगोत्र, तिर्यंच-गति, तिर्यंच गत्या०, उद्योत, तिर्यंच आयु=२५

(३) **मिश्र** ० ०

(४) **अविरत सम्यक्त**—१० अप्रत्याख्यान कषाय ४ वज्रवृषभ नाराच संहनन, औदारिक शरीर, औ०

अंगोपांग, मनुष्यगति, मनुष्यगत्या०, मनुष्य आयु=१०

(५) देशविरत—४-प्रत्याख्यान कषाय ४

(६) प्रमत्तविरत—६-अथिर, अशुभ, असातावेदनीय, अयश, अरति, शोक=६

(७) अप्रमत्तविरत—१ देवायु

(८) अपूर्वकरण—३६ निद्रा, प्रचला, तीर्थंकर, निर्माण, प्रशस्त विहायोगति, पंचेन्द्रिय, तैजस, कार्मण, आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग, समचतुरस्र संस्थान, देवगति, देवगत्या०, वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक अंगोपांग, वर्णादि ४, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा=३६

(९) अनिवृत्तिकरण—५, पुंवेद, संज्वलन कषाय ४=५

(१०) सूक्ष्मसांपराय—१६, ज्ञानावरण ५, दर्शना० ४, अन्तराय ५, यश, उच्च गोत्र=१६

(११) उपशांत कषाय—० ०

(१२) क्षीणकषाय—० ०]

(१३) सयोगकेवली—१ सातावेदनीय।

१२०

आत्मानुभव के प्रताप से कर्मबन्ध घटता जाता है। सयोग-केवली पूर्ण आत्मरमी हैं। योगों की चंचलता नहीं है। इससे कोई कर्म का बंध नहीं होता है। समयसार कलश में कहा है—

रागद्वेषविमोहानां ज्ञानिनो यदसंभवः।
तत एव न बन्धोऽस्य ते हि बन्धस्य कारणम् ॥७-५॥

भावार्थ—ज्ञानी के राग द्वेष मोह नहीं होते इसलिये ज्ञानी को बन्ध नहीं होता, वे ही बन्ध के कारण हैं। आत्मरमण तत्व से वीत-रागभाव बढ़ता है, बन्ध रुकता है।

समसुख भोगी निर्वाण का पात्र है

जो समसुक्ख णिलीण, बुहु पुण पुण अप्पु मुणेइ ।
कम्मक्खउ करि सो वि फुडु लहु णिव्वाण लहेइ ॥६३॥

जो समता रसलीन हो, फिर फिर करता भ्यास ।
अखिल कर्म सो छय करे, पावे शिवपुर बास ॥६३॥

अन्वयार्थ—(जो बुहु समसुक्ख णिलीणु पुण पुण अप्पु मुणेइ) जो ज्ञानी सब सुख में लीन होकर बार-बार आत्मा का अनुभव करता है **(सो वि फुडु कम्मक्खउ करि लहु णिव्वाणु लहेइ)** वही प्रगटपने कर्मों का क्षय करके शीघ्र ही निर्वाण को पाता है ।

भावार्थ—निर्वाण का उपाय कष्ट सहन नहीं है किन्तु समभाव के साथ सुख का भोग है । अपने आत्मा का आत्मा रूप श्रद्धान, ज्ञान व उसी में चर्या अर्थात् आत्मानुभव ही निश्चय रत्नत्रय स्वरूप मोक्ष-मार्ग है । वहाँ आत्मा, आत्मा में ही रत होता है, मन के विचार बन्द हो जाते हैं, वचन व काय की क्रिया थिर हो जाती है । परिणाम रागद्वेष से रहित सम व शांत हो जाते हैं तब ही आत्म स्थिति के होते ही आत्मीक सुख का स्वाद आता है ।

जैसे मिश्री के खाने से मीठेपन का, नीम के खाने से कड़ुवापन का, लवण के खाने से खारेपन का, स्वाद आता है । वैसे ही आत्मा के शुद्ध स्वभाव में रमण करने से आत्मानन्द का स्वाद आता है । उसी समय पूर्व बाँधे हुये कर्मों की स्थिति घटती है । आयु कर्म को छोड़कर शेष की स्थिति कम होती है । पाप कर्मों का रस सूखता है, वे विशेष गिरने लगते हैं, बिना फल दिये चले जाते हैं, पुण्य कर्मों का रस बढ़ता है, वे प्रचुर फल देकर जाते हैं । घातीय कर्म निर्बल पड़ते हैं, नवीन कर्मों का भी संवर होता है । आत्मानुभव के समय गुणस्थान की परिपाटी के अनुसार जिन-जिन घातीय कर्म की प्रकृतियों का बंध होता है, उनमें स्थिति व अनुभाग अल्प पड़ता है । अघातीय में पुण्य कर्म

का बंध है, कर्म स्थिति व अधिक रसदार होता है। जब आस्रव कम व निर्जरा अधिक तब मोक्षमार्ग का साधन होता है।

सच्चे सुख का भोग सम्यग्दृष्टी को भले प्रकार आत्मा के सन्मुख होने से होता है। आत्म ध्यान ही मोक्ष मार्ग है। आत्म ध्यानी ही गुणस्थानों की श्रेणी पर चढ़ सकता है। मुमुक्षु को एक आत्म ध्यान का ही अभ्यास करना चाहिये। इसके दो भेद हैं—**निर्विकल्प आत्मध्यान, सविकल्प आत्मध्यान।** निर्विकल्प आत्म ध्यान के द्वारा निर्विकल्प आत्म ध्यान होता है। निर्विकल्प ध्यान ही वास्तव में ध्यान है यही मोक्ष का साक्षात् उपाय है। सविकल्प ध्यान अनेक प्रकार हैं। निश्चयनय से अपने आत्मीक तत्व का विचार करना यह निकट साधन है। आत्मा के गुणों की भावना करते-करते यकायक थिरता होती है। निश्चयनय से अपने आत्मा को ही शुद्ध देखे व जगत की सर्व आत्माओं को भी शुद्ध देखे शेष पाँच द्रव्यों को मूल स्वभाव में देखे। इस दृष्टि के दीर्घ अभ्यास सें रागद्वेष न रहेंगे, द्वेष भाव की मात्रा घटती जायगी।

व्यवहारनय के द्वारा देखने से पूजक पूज्य, बंध मोक्ष की कल्पना होती है। निश्चयनय से आप ही पूज्य है, आप ही पूजक है, बंध मोक्ष का विकल्प ही नहीं है। त्रिकाल शुद्ध आत्मा का दर्शन निश्चयनय कराता है। निश्चयनय का विचार भी सविकल्प ध्यान है। साधक की निर्बलता से साधु हो या गृहस्थ हो जब उपयोग निश्चयनय के विचार में थिर नहीं हो तो फिर व्यवहारनय से पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ ध्यान द्वारा व पाँच परमेष्ठी के स्वरूप मनन द्वारा—ॐ, अर्हं, ह्रीं श्रीं मन्त्र के द्वारा ध्यान करे।

कदाचित् इसमें भी उपयोग न जमे तो अध्यात्मिक ग्रन्थ पढ़े, स्तुति पढ़े, भक्ति या वन्दना करे, उपदेश देवे, ग्रन्थ लिखे, साधु-सेवा करे, अशुभ भावों से बचने के लिये शुभ भावों में वर्तना व व्यवहार धर्म के भेदों की साधना सब सविकल्प धर्म ध्यान है। गृहस्थी का मन जब निश्चयनय के विचार में न लगे तो वह देवपूजादि छः कर्मों का साधन करे। निष्काम भाव से जगत मात्र की सेवा करे, तीर्थ-यात्रा करे,

सर्व ही प्रकार के व्यवहार धर्म को करके उपयोग को अशुभ से बचाकर शुद्ध भाव में चढ़ने का प्रयत्न करे। निश्चय व व्यवहार धर्म दोनों की डोरी को हाथ में रख कर साधन करे। निश्चय धर्म को उपादान साधन व व्यवहार को निमित्त साधन जाने जो कोई निर्वाण का लक्ष्य रख के सब सुख को भोगता हुआ आत्मानुभव का अभ्यास करे वह शीघ्र ही निर्वाण का लाभ करेगा।

समयसार कलश में कहा है—

अत्यन्तं भावयित्वा विरतमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च,
प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञानसंचेतनायाः।
पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वर सपरिगतं ज्ञानसंचेतनां स्वां,
सानन्दं नाट्यन्तः प्रशमरसमितः सर्वकालं पिबन्तु ॥४०-१०॥

भावार्थ—कर्म करने के प्रपंच से व कर्म फल से निरन्तर विरक्तभाव की भले प्रकार भावना करे। सर्व प्रकार अज्ञान चेतना को नाश करने के भाव को भले प्रकार नाश करावे। अपने आत्मीक रस से पूर्ण अपने स्वभाव को जानकर ज्ञान चेतना को या आत्मानुभूति को आनन्द सहित केल करावे, व सर्व काल शांत रस का ही पान करे। यही ज्ञानी को प्रेरणा है।

—:०:—

आत्मा को पुरुषाकार ध्यावे

पुरिसायार-पमाण जिय अप्पा एहु पवित्तु।
जोइज्जइ गुण-गण-णिलउ णिम्मल-तेय-फुरंतु ॥९४॥

पुरुषाकार पवित्र अति, देखो आत्म रूप।
सो पवित्र हो शिव लहे, होवे त्रिभुवन भूप ॥९४॥

अन्वयार्थ—(जिय) हे जीव ! (एहु अप्पा पुरियासारपमाणु पवित्तु गुणगणनिलउ णिम्मलतेय-फुरंतु जोइज्जइ) इस अपने आत्मा को पुरुषाकार प्रमाण, पवित्र, गुणों की खान व निर्मल तेज से प्रकाशमान देखना चाहिये।

भावार्थ—आत्मा की भावना करने के लिये शिक्षा दी है कि आत्मा को ऐसा विचारना चाहिये कि उसका आत्मा अपने पुरुष के आकार प्रमाण है, सर्व शरीर में व्यापक है। यदि पद्मासन से बैठे तो आत्मा को पद्मासन विचारे। यदि कायोत्सर्ग आसन से खड़ा हो तो आत्मा को उसी प्रकार का विचारे। यद्यपि आत्मा असंख्यात प्रदेशी है तो भी जिस शरीर में रहता है, शरीर के आकार प्रमाण प्रायः करके रहता है। जैसे दीपक का प्रकाश जैसा वर्तन होता है वैसा व्याप कर रहता है। इस आकार के धारी आत्मा को पवित्र देखे कि यह निर्मल जल के समान शुद्ध स्फटिक के समान परम शुद्ध है। इसमें न कर्मों का मैल है न रागादि विकारों का मैल है न अन्य किसी शरीर का मैल है। द्रव्यार्थिकनय से आत्मा को सदा ही निरावरण देखे। न यह कभी बंधा था, न बंधा है, न कभी बंधेगा। फिर देखे कि सामान्य व विशेष गुणों का सागर है। यह ज्ञातादृष्टा है, वीतराग है। परमानन्दमय है, परम वीर्यवान है, शुद्ध सम्यक्त गुणधारी, है, परम निर्मल तेज में चमक रहा है। इस प्रकार अपने शरीर में व्यापक आत्मा को बार बार देख कर चित्त को रोके। यह ध्यान का प्रकार है। ध्याता को परम निश्चिन्त होना चाहिये। उत्तम ध्याता निर्ग्रन्थ साधु होते हैं। परिग्रह का स्वामी-पन होने से ध्यान के समय उसकी चिन्ता बाधा करती है। इसलिये साधुगण सर्व परिग्रह का त्याग करके धन कुटुम्ब क्षेत्रादि के रक्षणादि के विकल्पों से शून्य होते हैं। देशव्रती मध्यम ध्याता है, अविरत सम्यक्ती जघन्य ध्याता है। ध्याता को सम्यग्ज्ञान होना ही चाहिये। क्योंकि जब तक अपने आत्मा के शुद्ध स्वभाव का श्रद्धान नहीं होगा तब तक उसका प्रेम नहीं होगा। प्रेम के बिना उसमें आसक्ति या थिरता नहीं होगी। ध्याता को यह श्रद्धान होना ही चाहिए कि मैं ही परमात्मा रूप हूँ, मुझे जगत के इन्द्र चक्रवर्ती आदि पदों से कोई राग भाव नहीं है, केवल निर्वाण का ही ध्येय है।

माया मिथ्या निदान तीन शल्यों से रहित, सर्व शङ्काओं से रहित, परम निस्पृही, सर्व तृष्णा रहित होना चाहिए। ध्यान के समय सम्यग्ज्ञान व वैराग्य की मूर्ति हो जाना चाहिए। ऐसा ध्याता ध्यान

को ध्याने के लिये निराकुल क्षोभ रहित स्थान में बैठे । जितना एकांत होगा उतना ध्यान सिद्ध होगा । स्त्री, पुरुष, नपुंसकों के सम्पर्क रहित शीत गर्मी की व डाँस मच्छर की बाधा रहित परम शांत स्थान को ध्यान के लिये खोजे । ध्यान का समय अतिप्रातःकाल सर्वोत्तम है, मध्यम सायंकाल है, जघन्य मध्याह्नकाल है ।

ध्यान को भूमि पर, पाषाण शिला पर, काष्ठासन पर, चटाई पर, किसी समतल स्थान पर करे । जहाँ शरीर को स्थिर जमा कर रख सके । मन, वचन, काय शुद्ध हो, मन में ध्यान के सिवाय और कोई चिन्ता न हो । जब तक ध्यान करना हो दूसरे कामों का विचार न करे । ध्यान के समय मौन से रहे या मंत्र जपे । कोई वार्तालाप न करे, शरीर नग्न हो या यथासम्भव श्रावक का थोडे वस्त्र सहित हो, रोगी न हो, भरपेट न हो, भूख-प्यास से पीडित न हो, आसन जमा करके बैठे । निश्चल काय रहे, सीधा मुख हो । इस तरह बैठ कर कुछ देर बारह भावना विचार करके चित्त को वैराग्यवान बना दे, फिर निश्चयनय से जगत को देख कर राग द्वेष मिटा दे । फिर अपने ही आत्मा को देखे कि यह शुद्ध निरञ्जन परमात्मा है, शरीर में व्यापक परम निर्मल है । मन जल के समान या स्फटिक के समान देखकर बार बार ध्यावे । मन की स्थिरता के लिये कभी कभी कोई मन्त्र पढ़े कभी कभी गुणों का विचार करे । तत्वानुशासन में कहा है –

> माध्यस्थ्य समतोपेक्षा वैराग्य साम्यमस्पृह ।
> वैतृष्ण्य परम. शांतिरित्येकोऽर्थोऽभिधीयते ।।१३९।।
> दिधासुः स्व पर ज्ञात्वा श्रद्धाय च यथास्थिति ।
> विहायान्यदनर्थित्वात् स्वमेवावेतु पश्यतु ।।१४३।।

भावर्था—ध्याता को माध्यस्थ भाव, समता, उपेक्षा, वैराग्य, साम्यभाव, निस्पृहता, तृष्णा रहित परमभाव, शांत भाव में लीन होना चाहिये । इसका एक ही अर्थ है तथा आत्मा का व परका ज्ञान व श्रद्धान करके जैसा यथार्थ स्वरूप है वैसा जाने, फिर निःप्रयोजन जान कर पर को छोड़ कर केवल अपने आपको ही जाने व देखे ।

——❀——

आत्मज्ञानी सब शास्त्रों का ज्ञाता है

जो अप्पा सुद्धु वि मुणइ असुइ-सरीर-विभिन्नु ।
सो जाणउ सत्थइं सयल सासय-सुक्खहं लीणु ॥९५॥

अशुचि देह से भिन्न निज, शुद्ध लखे चिद्रूप ।
सो ज्ञाता सब शास्त्र का, पावे सुक्ख अनूप ॥९५॥

अन्वयार्थ—(**जो असुइ सरीर विभिन्न**) जो कोई इस अपवित्र शरीर से भिन्न (**सासय-सुक्खहं लीणु**) व अविनाशी सुख में लीन (**सुद्धु वि अप्पा मुणइ**) शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है (**सो सयल सत्थइं जाणइ**) वही सर्व शास्त्रों को जानता है।

भावार्थ—शास्त्रों का ज्ञान तब ही सफल है जब अपने आत्मा को यथार्थ पहचान ले, उसकी रुचि प्राप्त कर ले या उसके स्वभाव का स्वाद आने लग जावे। क्योंकि शुद्धात्मा का अनुभव ही मोक्षमार्ग है। शुद्ध स्वरूप की भावना से ही आत्मा शुद्ध होते होते परमात्मा हो जाता है। जिन वाणी के अभ्यास का भले प्रकार उद्योग करके अपने आत्मा को यथार्थ जानने का हेतु रक्खे।

वर्तमान में यह अपना आत्मा कर्म संयोग से मलीन दिख रहा है व इसकी यह मलीनता प्रवाह रूप से अनादि है। मलीन पानी को दो दृष्टियों से देखना योग्य है। व्यवहारनय से यह पानी मैला ही है। क्योंकि मिट्टी मिली है व मिट्टी की मलीनता ने जल की स्वच्छता को छिपा दिया है। निश्चयनय से देखा जावे तो मिट्टी भिन्न है, पानी भिन्न है, तब वह जल स्वभाव में निर्मल दिखता है। इसी तरह यह आत्मा कर्म पुद्गलों के संयोग से व्यवहारनय से अशुद्ध ही झलकता है, कर्मों ने इसके शुद्ध स्वभाव को ढक दिया है।

निश्चयनय से यही आत्मा इस अपवित्र औदारिक शरीर से व तैजस व कार्मण शरीर से व रागादि विकारी भावों से भिन्न परमानन्दमयी ही परम शुद्ध ज्ञाता दृष्टा परमात्मा रूप दीखता है। यही दृष्टि ध्याता के लिये परम उपकारी है। अतएव जिनवाणी के भीतर

दोनों नयों की मुख्यता से आत्मा के स्वरूप के बताने वाले ग्रंथों का भले प्रकार अभ्यास करे। जीव अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा व मोक्ष इन सात तत्वों को समझने से व्यवहारनय से आत्मा के अशुद्ध स्वरूप का व अशुद्ध से शुद्ध होने का सर्व ज्ञान होता है।

द्रव्यसंग्रह तथा तत्वार्थसूत्र ये दो ग्रन्थ बड़े उपयोगी हैं, उनका सूक्ष्मता से अभ्यास करके इनकी टीकाएँ देखे—बृहत् द्रव्यसंग्रह व सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक। विशेष जानने के लिए गोम्मटसार, जीवकांड व कर्मकांड का अभ्यास करे व आचार शास्त्रों से मुनि व श्रावक की बाहरी क्रिया के पालने की विधि जाने। मूलाचार व रत्नकरण्ड श्रावकाचार का मनन करे। महान् पुरुषों के जीवन चरित्र को भी जाने कि उन्होंने मोक्षमार्ग का किस तरह साधन किया। कर्म सापेक्ष आत्मा की अवस्था का ठीक परिचय प्राप्त करे। फिर निश्चयनय की मुख्यता से आत्मा को जीतने के लिये महान् योगी श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, अष्टपाहुड, समयसार, नियमसार का भले प्रकार अभ्यास करे, परमात्म-प्रकाश का मनन करे, तब दर्पण के समान विदित होगा कि मेरे ही शरीर के भीतर परमात्मादेव विराजमान है।

शास्त्रों के ज्ञान के लिए व्याकरण व न्याय को भी जाने। तब शब्द ज्ञान व युक्ति का ज्ञान ठीक ठीक होगा व अन्य दर्शन वालों के मत से जिन दर्शन को तुलना करके जानने की योग्यता प्राप्त होगी। जो केवल व्यवहारनय से ही आत्मा को जाने, निश्चयनय से न जाने, उसको अपने शुद्ध तत्व का निश्चय नहीं होगा और जो व्यवहार को न जाने, केवल निश्चय को ही जाने, वह अशुद्धता के मेटने का उपाय नहीं कर सकेगा।

दोनों नयों से विरोध रहित ज्ञान जब होगा तब ही भेदविज्ञान होगा। भेदविज्ञान के अभ्यास बिना तत्वज्ञान का लाभ नहीं होगा, तत्वज्ञान बिना आत्मा का यथार्थ मनन व अनुभव नहीं होगा। सम्यग्दर्शन का लाभ नहीं होगा। जो शास्त्रों को पढ़कर व्यवहार-

मगन रहे व आत्मीक आनन्द का स्वाद न ले उसका परिश्रम सफल नहीं होता। शास्त्रों के पढ़ने हेतु का केवल एक अपने आत्मा का यथार्थ ज्ञान है। पुरुषार्थ-सिद्धयुपाय में कहा है—

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा देशयन्त्यभूतार्थम्।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति ॥६॥
माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ॥७॥

भावार्थ—मुनिराजों ने अज्ञानी को समझाने के लिये असत्यार्थ को या अशुद्ध पदार्थ को कहने वाले व्यवहारनय का उपदेश किया है। परन्तु जो केवल व्यवहारनय से विस्तार को जाने व निश्चयनय के नियम को न जाने वह जिनवाणी का यथार्थ ज्ञाता नहीं हो सकता। बालक को बिलाव दिखा कर सिंह बता दिया जाता है। यदि कभी उसे सिंह का ज्ञान न कराया जावे तो वह बालक बिलाव को ही सिंह समझा करेगा, उसी तरह यदि निश्चय का ज्ञान न कराया जावे तो निश्चय को न जानने वाला व्यवहार को ही निश्चय व सत्य व मूल पदार्थ समझ बैठेगा।

—※—

परभाव का त्याग कार्यकारी है

जो णवि जाणइ अप्पु परु णवि परभाउ चएइ।
सो जाणउ सत्थइं सयल ण हु सिवसुक्खु लहेइ ॥९६॥

स्वपर रूप जाने न जो, नहीं तजे पर भाव।
सकल शास्त्र जाने तदपि, मिटे न भव भटकाव ॥९६॥

अन्वयार्थ—(**जो अप्पु परु णवि जाणइ**) जो कोई आत्मा को व परपदार्थ को नहीं जानता है (**परभाउ णवि चएइ**) व परभावों का त्याग नहीं करता है (**सो सयल सत्थइं जाणइ**) वह सर्व शास्त्रों को जानता है तो भी (**सिवसुक्खु ण हु लहेइ**) मोक्ष के सुख को नहीं पावेगा।

भावार्थ— अनेक शास्त्रों के पढ़ने का फल भेदविज्ञान की प्राप्ति है। अनादिकाल से आत्मा का व सूक्ष्म कर्म पुद्गलों का सयोग सम्बन्ध ऐसा गाढ़ है कि कोई भी समय देखो आत्मा के एक-एक प्रदेश में अनेक पुद्गल कर्मवर्गणाएँ पाई जाती है। उन कर्मों का उदय भी हर एक समय है, हर समय मोह व रागद्वेष से उसकी अनुभूति मलीन हो रही है। इसको कभी भी आत्मा के शुद्ध ज्ञान का अनुभव नहीं आता है। यह कर्मचेतना व कर्मफल चेतना मे ही लवलीन है। यह अपनी इन्द्रियों की तृष्णा की पूर्ति मे मन वचन काय से अनेक काम करने में तन्मय रहता है।

धन कमाने का, मकान बनाने का, वस्त्र सीने सिलाने का, आभूषण बनवाने का, शृङ्गार करने का, रसोई बनाने का, सामग्री एकत्र करने का, बाधको को दूर रखने का, परिग्रह की रक्षा का आदि उद्यम में तल्लीन होकर कर्मचेतना रूप वर्तता है। जब असाता का तीव्र उदय आ जाता है तब दुःख व सुख मे तन्मय होकर कर्मफल-चेतनारूप हो जाता है। उन्मत्त की तरह जगत के पदार्थो मे आसक्त रहता है, विषयसुख की रात दिन चाह किया करता है।

इसने कभी भी यह नही जाना कि मै आत्मा द्रव्य पुद्गल से सर्वथा भिन्न हू। मै न पशु हूँ, न पक्षी हू, न मानव हूँ, न रागी द्वेषी हू। मैं तो परम वीतरागी ज्ञान दर्शन सुख वीर्य का धारी कर्मकलक रहित परमात्मा हूँ। और सब प्रकार के भाव व पदार्थ उससे निराले है। जिन भावों मे अनादिकाल से आपा माना किया उन ही भावो को पर जानने की व अपने शुद्ध वीतराग विज्ञानमय भाव को पहचानने की आवश्यकता है। अतएव शास्त्रो के पढ़ने का फल यही है जो अपने आत्मा को आत्मा रूप व पर को पररूप जाने।

जिसकी बुद्धि में भेद विज्ञान का प्रकाश न हो उसका शास्त्र-ज्ञान मोक्षमार्ग में लाभकारी नहीं होगा। भेद विज्ञान होने पर यह प्रतीति जमनी चाहिये कि सच्चा आनन्द मेरे ही आत्मा का गुण है। जैसे मिश्री का स्वाद पाने के लिये मिश्री खाने मे उपयोग को जोड़ना पड़ता है। यदि उपयोग थिर न हो तो मिश्री का स्वाद नही आएगा।

इसी तरह आत्मानन्द के पाने के लिये कर्मकलंक रहित वीत-रागी व ज्ञातादृष्टा अपने आत्मा के भीतर श्रद्धा व ज्ञान सहित रमण करना पड़ेगा। तब अन्य सर्व पदार्थों में व भावों में से उपयोग को हटाना पड़ेगा। इसलिये परम सुख को अनन्तकाल के लिये निरन्तर भोग करने के लिये ज्ञान व वैराग्य सहित आत्मा का अनुभव प्राप्त करना चाहिये। जाने तो यह कि में निराला शुद्ध आत्माद्रव्य हूं। मैं ही परमेश्वर हूँ, मैं ही परमदेव हूं, मैं ही उपासना करने योग्य हूँ, व अपनी ही आराधना से ही मोक्ष लाभ होगा। अद्वैत निर्विकल्प ध्यान ही संवर व निर्जरा का कारण है। वैराग्य यह कि इस जगत के भोग विष के समान त्यागने योग्य हैं। लौकिक कोई पद इष्ट नहीं है, एक शिवपद कल्याणकारी है महान् वैराग्य यही है कि तीन लोक की सम्पत्ति से उदासीनता आ जावे एक निज स्वभाव से ही प्रेम उत्पन्न हो जावे। ज्ञान व वैराग्य बिना रत्नत्रयधर्म का स्वाद नहीं आयगा। मोक्ष के सुख का उपाय निजात्मीक सुख का वेदन है। आत्मानन्द का अनुभव ही ध्यान की आग है जो कर्मों को जला रही है। मुमुक्षु को योग्य है कि जिनवाणी का अभ्यास करके आत्मा को व पर पदार्थों को ठीक-ठीक जाने। जान कर परमसमभावी होगा। जैसे सूर्य का काम केवल जगत को प्रकाश करना है, किसी से रागद्वेष करना नहीं है, समभाव से निर्विकार रहना है वैसा ही आत्मा का स्वभाव समभाव से पदार्थों को यथार्थ जानना है, किसी से रागद्वेष नहीं करना है। जो समभाव में तिष्ठ कर निज आत्मा को ध्याता है वही निर्वाण के सुख को पाता है। **बृहत् सामयिक पाठ** में कहा है—

भवति भविनः सौख्य दुःख पुराकृतकर्मणः

स्फुरति हृदये रागो द्वेषः कदाचन मे कथं।

मनसि समतां विज्ञायेत्थं तयोर्विदधाति यः

क्षपयति सुधीः पूर्व्वं पापं चिनोति न नूतनं॥१०२॥

भावार्थ—प्राणी को सांसारिक सुख दुःख अपने पूर्व में बांधे कर्मों के उदय से होता है। तब ज्ञानी के मन में किस तरह रागद्वेष पैदा हो सकता है? ज्ञानी रागद्वेष का स्वरूप जान कर उनको त्याग

कर समता को मन में धारण करता है। इसी उपाय से वह पूर्व पाप को नाश करता है व नये कर्म का संग्रह नहीं करता है।
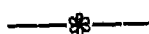
परम समाधि शिवसुख का कारण है

वज्जिय सयल-वियप्पइं परम-समाहि लहंति ।
जं विदहिं साणंदु क वि सो सिव-सुक्खं भणंति ॥९७॥

तज के विकल्प जाल जो, परम समाधि लहाय ।
आत्म सुख अनुभव करे, लहे मोक्ष सुख जाय ॥९७॥

अन्वयार्थ—सयल-वियप्पइं वज्जिय) सर्व विकल्पों को त्यागने पर (**परम समाहि लहंति**) जो परम समाधि को पाते है (**जं क वि साणंदु विदहि**) तब कुछ आनन्द का अनुभव करते हैं (**सिव सुक्खं भणंति**) इसी सुख को मोक्ष का सुख कहते हैं।

भावार्थ—मोक्ष का सुख आत्मा का पूर्ण स्वाभाविक सुख है जो सिद्धों को सदा काल निरन्तर अनुभव में आता है। ऐसे सुख का उपाय भी आत्मीक आनन्द का अनुभव करना है। सुखी आत्मा ही पूर्ण सुखी होता है। आत्मीक सुख के स्वाद पाने का उपाय अपने ही शुद्ध आत्मा में निर्विकल्प समाधि का प्राप्त करना है।

तत्वज्ञानी को उचित है कि वह प्रथम गाढ़ विश्वास करे कि मैं ही सिद्ध सम शुद्ध हूँ। मेरा द्रव्य कभी स्वभाव से रहित नहीं हुआ। कर्मों के मैल से स्वभाव रुक रहा है, परन्तु भीतर से नाश नहीं हुआ। जैसे मिट्टी के मिलने से पानी की निर्मलता ढक जाती है, नाश नहीं होती है। निर्मली फल डाल देने पर मिट्टी नीचे बैठ जाती है पानी साफ दिखता है। यह आत्मा अनादि से आठ प्रकार के कर्मों से मिला है तो भी अपना स्वभाव बना हुआ है। सम्यग्दृष्टी जीव शुद्ध निश्चयनय के द्वारा अपने आत्मा के साथ रहने वाले सर्व संयोगों को दूर करके आत्मा को शुद्ध देखते है।

आगम ज्ञान की श्रद्धा पर जब अपने आत्मा को बार-बार शुद्ध भाया जाता है तब भावना के दृढ़ संस्कार से गाढ़ रुचि हो जाती है। यही सम्यक्त है तब उपयोग स्वयं पर से छूट कर अपने आत्मा में ठहर जाता है। स्वानुभव की कला सम्यक्त होते ही जग जाती है। इस समय काया थिर होती है, वचन विलास नहीं होता है, मन का चिन्तवन बन्द हो जाता है। जब विकल्पों से रहित परम समाधि होती है, उसी समय आत्मीक आनन्द का स्वाद आता है। इसी से कर्म की निर्जरा भी अधिक होती है। इसी को ध्यान की आग कहते हैं।

सम्यक्ती को स्वानुभव के करने की रीति मिल जाती है। इसी को मोक्ष का उपाय जानकर सम्यक्ती बार-बार स्वानुभव का अभ्यास करके आत्मानन्द का भोग करता है। यदि कोई सम्यक्ती निर्ग्रंथ मुनि हो व वज्रवृषभ नाराच संहनन का धारी हो और उसका स्वानुभव यथायोग्य एक अन्तर्मुहूर्त तक जमा रहे तो वह चार घातीय कर्मों का क्षय करके परमात्मा हो जावे। एक साथ ही अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य को प्रकाश करले।

आत्म वीर्य की कमी से सर्व ही सम्यक्ती ऐसा नहीं कर सकते हैं तब शक्ति के अनुसार गृहस्थ में यदि रहते हैं तो समय निकाल कर आत्मानुभव के लिये सामायिक का अभ्यास करते हैं। अधिक देर तक सामायिक नहीं हो सकती है इसलिये सम्यक्ती गृहस्थ देर तक जिन-पूजा करते हैं, जिनेन्द्र गुणगान करते-करते स्वानुभव पा लेते हैं। कभी अध्यात्म ग्रन्थों का मनन करते हैं, कभी अध्यात्म चर्चा करते हैं कभी अध्यात्मीक भजन गाते हैं।

परिणामों को पाप के भावों से बचाने के लिये श्रावक बारह व्रत पालते हैं। निराकुल स्वच्छ भावों के होने पर ही स्वानुभव का काल अधिक रहता है। जब वैराग्य अधिक हो जाता है तब सम्यक्ती गृह त्याग करके साधु हो जाता है, तब परिग्रह के त्याग होने पर व आरम्भ न करने पर निराकुलता विशेष प्राप्त होती है। क्षोभ रहित मन ही निश्चयनय के द्वारा सर्व जीवों को समान देखकर रागद्वेष को जीतता है। वीतरागी होकर बार-बार आत्मानुभव करता है।

आत्मानुभव से सच्चा आत्मीक आनन्द पाता है। इसी उपाय से यह साधक मोक्षमार्ग को तय करता हुआ बढ़ता जाता है, कभी न कभी निर्वाण का लाभ कर लेता है। **तत्वानुशासन में कहा है**—

समाधिस्थेन यद्यात्मा बोधात्मा नानुभूयते।
तदा न तस्य तद्ध्यान मूर्छावान्मोह एव सः ॥१६९॥
तदेवानुभवँश्चायमेकाग्र्यं परमृच्छति।
तथात्माधीनमानन्दमेति वाचामगोचरं ॥१७०॥

भावार्थ—समाधि भाव में तिष्ठकर जो ज्ञान स्वरूप आत्मा का अनुभव न हो तो वह उसके ध्यान नही हैं वह मूर्छावान या मोही है। जब ध्यान करते हुए आत्मा का अनुभव प्रगट होता है तब परम एकाग्रता मिलती है तथा तब ही वह वचनों के अगोचर आत्मीक आनन्द का स्वाद भोगता है।

आत्म ध्यान चार प्रकार है

जो पिंडत्थु पयत्थु बुह रूवत्थु वि जिण-उत्तु।
रूवातीतु मणोहि लहु जिम परु होहि पवित्तु ॥९८॥

जो पिंडस्थ पदस्थ अरु, रूपस्थ रूपातीत।
जिन भाषित ये ध्यान, चतुः ध्यावो शुचिकर मीत ॥९८॥

अन्वयार्थ—(**बुह**) हे पण्डित ! (**जिण-उत्तु जो पिंडत्थु पयत्थु रूवत्थु रूवातीतु मुणेहि**) जिनेन्द्र द्वारा कहे गए जो पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ व रूपातीत ध्यान है उनका मनन कर (**जिम लहु परु पवित्तु होहि**) जिससे तू शीघ्र ही परम पवित्र हो जावे।

भावार्थ—जैसे मैले वस्त्र को ध्यान पूर्वक रगड़ने से साफ होता है वैसा ही यह अशुद्ध आत्मा आत्मा के ध्यान से शुद्ध हो जाता है। ध्यान करने की अनेक रीतियाँ है। ज्ञानार्णव ग्रन्थ में पिंडस्थादि चार प्रकार के ध्यानो का विस्तार से वर्णन है। यहाँ संक्षेप में कहा जाता है—

(१) **पिंडस्थ**—पिण्ड शरीर को कहते है उसमें विराजित आत्मा

का ध्यान सो पिण्डस्थ ध्यान है। इसकी पांच धारणाएँ हैं—पृथ्वी, अग्नि, पवन, जल, तत्व रूपवती।

(१) **पृथ्वी धारणा**—ध्याता ऐसा विचारे कि मध्यलोक एक क्षीर सागर है, उसके बीच में जम्बूद्वीप के बराबर एक हजार पत्तों का एक कमल है, उस कमल के बीच में मेरु पर्वत के समान कर्णिका है। मेरु पर्वत के पांडुक वन में पांडुक शिला है उस पर स्फटिकमणि का सिंहासन है, उस पर मैं कर्मों के क्षय करने के लिये पद्मासन बैठा हूँ। इतना स्वरूप ध्यान में जमा लेना पृथ्वी धारण है।

(२) **अग्नि धारणा**—यही ध्याता वही बैठा हुआ यह सोचे कि मेरे नाभि के स्थान पर एक १६ पत्तों का कमल है उस पर १६ स्वर लिखे है—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ॡ, ए, ऐ, ओ औ, अं अः। कमल के ऊपर उल्टा आठ पत्तो का विचारे। यही ज्ञानवरणीय आठ कर्म है ऐसा जाने र्हं की रेषा से धूआँ निकला फिर आग की लौ हो गई और कर्मों के कमल को जलाने लगा।

इसी आग की एक शाखा मस्तक पर अ।ई व शरीर के सब तरफ त्रिकोण रूप में हो गई। इस त्रिकोण मे र र र र र र अक्षर अग्निमय प्राप्त है। बाहर के तीन कोनों पर अग्निमय स्वस्तिक, भीतर तीन कोनों पर ॐ र्हं अग्निमय लिखा विचारे, यह बाहर की आग शरीर को जला रही है। इस तरह कर्म व शरीर जलकर राख हो रहे हैं, ऐसा ध्यान करे।

(३) **पवन धारणा**—पवन वेग से चल कर मेरे चारों तरफ घूमने लगी। गोल मण्डल बन गया। उसमें **स्वाय स्वाय स्वाय** लिखा विचारे। यह मण्डल राख को उड़ा रहा है, आत्मा स्वच्छ हो रहा है।

(४) **जल धारणा**—काले-काले मेघों से पानी बरस रहा है, अर्धचन्द्राकार जल मण्डल मेरे ऊपर हो गया, **प प प प प** लिखा है, यह जल की धाराएँ मेरे आत्मा को धो रही हैं, सब रज दूर हो रही है, ऐसा विचारे।

(५) **तत्व रूपवती**—आत्मा बिलकुल साफ हो गया, सिद्ध के

समान हो गया । परम शुद्ध शरीर के प्रमाण आत्मा को देखे । यही पिंडस्थ ध्यान है ।

(२) **पदस्थ ध्यान**—पदों के द्वारा ध्यान करना । जैसे ॐ को ह्रीं को मस्तक पर, भौंहों के बीच में, नाक की नोक पर, मुह में, गले में, हृदय में या नाभि में विराजमान करके देखे व पाँच परमेष्ठी के गुण कभी-कभी विचार करे ।

(२) एक आठ पत्तों का कमल हृदय में विचारे । एक-एक पत्ते पर णमो अरहंताण, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं, सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः, सम्यक्चारित्राय नम । इन आठ पदों को विराजित करके एक-एक पद का ध्यान क्रम से करे ।

(३) **रूपस्थ ध्यान**—अपने को समवसरण में श्री अरहन्त भगवान के सामने खडा देखे । अरहन्त भगवान पद्मासन परम शान्त विराजित है उनके स्वरूप का दर्शन करे अथवा किसी ध्यानमय तीर्थंकर की प्रतिमा को मन में लाकर उसका ध्यान करे ।

(४) **रूपातीत**—सिद्ध भगवान के पुरुषाकार ज्ञानानन्दमय स्वरूप का ध्यान करे। जब मन एकाग्र होता है वीतरागता प्रगट होती है तब बहुत कर्म झड़ते हैं, आत्मा आत्मध्यान के उपाय से ही परम पवित्र परमात्मा हो जाता है ।

तत्वानुशासन में कहा है—

येन भावेन यद्रूपं ध्यायत्यात्मानमात्मवित् ।
तेन तन्मयतां याति सोपाधिः स्फटिको यथा ॥१९१॥

भावार्थ—जिस भाव से व जिस रूप से आत्मज्ञानी आत्मा को ध्याता है उसी से वह तन्मय हो जाता है, जैसे रंग की उपाधि से स्फटिक पाषाण तन्मय हो जाता है ।

———

सामायिक चारित्र कथन

सव्वे जीवा णाणमया जो सम-भाव मुणेइ ।
सो सामाइउ जाणि फुडु जिणवर एम भणेइ ॥९९॥

सर्व जीव हैं ज्ञानमय, जाने समता धार ।
सो सामायिक जिन कहो, प्रकट करे भव पार ॥९९॥

अन्वयार्थ—(**सव्वे जीवा णाणमया**) सर्व ही जीव ज्ञान स्वरूपी हैं ऐसा (**जो समभाव मुणेइ**) जो कोई समभाव को मनन करता है (**सो फुडु सामाइउ जाणि**) उसी के प्रगटपने सामायिक जानो (**एम जिणवर भणेइ**) ऐसा श्री जिनेन्द्र कहते हैं।

भावार्थ—समभाव की प्राप्ति को सामायिक कहते हैं। यह भाव तब ही सम्भव है जब इस विश्व को निश्चयनय से या द्रव्यार्थिक नय से देखा जावे। पर्यायार्थिक या व्यवहारनय की दृष्टि को बंद कर दिया जावे। जगत में नाना भेद पर्याय की अपेक्षा से दीखते हैं। चार गति नाम कर्म के उदय से जीव नारकी, पशु, मानव व देव दिखते हैं।

जाति नाम कर्म के उदय से एकेन्द्रिय, द्वीइन्द्रिय, तेन्द्रिय, चौन्द्रिय, पंचेन्द्रिय सब दीखते हैं जीवों की अन्तरंग व बहिरंग अवस्थाएँ आठ कर्मों के उदय से विचित्र दीखती हैं। मोहनीय कर्म के उदय से जीव शरीरासक्त, क्रोधी, मानी, मायावी, लोभी, हास्य सहित, रति-वान, शोकी, अरतिवान, भयभीत, जुगुप्सा सहित, स्त्री वेदी, पुंवेदी, नपुंसकवेदी, तीव्रकषायी, मंदकषायी, पापी, पुण्यात्मा दीखते हैं। हिंसक व दयावान, असत्यवादी व सत्यवादी चोर व ईमानदार, कुशील व ब्रह्मचारी, परिग्रहवान व परिग्रह रहित, मोह की तीव्रता से या मंदता से दीखते हैं। ज्ञानावरणी कर्म के क्षयोपशम कम व अधिक होने से कोई मन्दज्ञानी, कोई तीव्र ज्ञानी, कोई शास्त्रों के विशेष ज्ञाता, कोई अल्पज्ञाता, कोई शीघ्र स्मृतिवान, कोई अल्प स्मृतिवान दीखते हैं।

दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से कोई चक्षु रहित, कोई चक्षुवान दीखते हैं। अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से कोई विशेष

आत्मबली, कोई कम आत्मबली दीखते हैं। नाना जीवों के नाना प्रकार के परिणाम घातीय कर्मों के कारण दीखते हैं। आयुकर्म के उदय से कोई दीर्घायु, कोई अल्पायु दीखते हैं। कोई जन्मते हैं, कोई मरते हैं। नामकर्म के कारण, कोई सुन्दर, कोई असुन्दर, कोई सुडौल शरीरी, कोई कुडौल शरीरी, कोई बलवान, कोई निर्बल, कोई रोगी, कोई निरोगी, कोई स्त्री, कोई पुरुष, कोई अन्धे, कोई बहिरे, कोई काने, कोई लंगड़े, कोई सुन्दर चाल चलने वाले, कोई बुरी चाल चलने वाले दीखते हैं। गोत्र कर्म के उदय से कोई उच्चकुली, कोई नीचकुली दीखते हैं।

वेदनीय कर्म के उदय से कोई धनवान, कोई निर्धन, कोई बहु कुटुम्बीजन, कोई कुटुम्ब रहित, कोई इन्द्रिय भोग सम्पन्न, कोई भोग रहित, कोई विशाल मकान का वासी, कोई वृक्षलत निवासी, कोई सवस्त्र साभूषण, कोई आभूषणरहित, कोई सुखी, कोई दुःखी दीखते हैं। आठ कर्मों के उदय से यह जगत का नाटक हो रहा है। प्राणी इन्द्रिय के विषयों के लोभी हैं व आहार, भय, मैथुन, परिग्रह संज्ञाओं में मूढ़ है। इसके कारण इष्ट पदार्थों में राग व अनिष्ट पदार्थों में द्वेष करते हैं।

व्यवहारदृष्टि रागद्वेष होने का निमित्त सामने रखती है। निश्चय दृष्टि से सब ही जीव चाहे सिद्ध हो या संसारी समान दीखते हैं। कर्म रहित, शरीर रहित, रागद्वेष रहित सब ही समान ज्ञानी, परम सुखी, परम सन्तोषी, परम शुद्ध एकाकार दीखते हैं। जितने गुण एक आत्मा में हैं उतने गुण दूसरी आत्मा में है। सत्ता सब आत्मा की निराली होने पर भी स्वभाव से सब समान दीखते हैं। पुद्गल सब परमाणुरूप दीखते हैं। धर्म, अध,र्म काल, आकाश चार अमूर्तीक द्रव्य स्वभाव से झलकते है। छोटे बडे, सुन्दर असुन्दर, स्वामी सेवक, आचार्य शिष्य, पूज्य पूजक आदि के भेद सब उड़ जाते हैं।

जो कोई इस तरह सम दृष्टि से देखता है उसी के रागद्वेष का विकार दूर हो जाता है, वह समभाव में आ जाता है। इस तरह

समभाव को लाकर ध्याता जब पर जीवों से उपयोग को हटाकर केवल अपने स्वभाव में जोड़ता है तब निश्चल हो जाता है, आत्मस्थ हो जाता है, आत्मानुभव में हो जाता है तब ही परम निर्जरा का कारण सामायिक चारित्र का प्रकाश होता है। विकल्प रहित भावों में रहना ही सामायिक है, यही मुनिपद है, यही मोक्षमार्ग है, यही रत्नत्रय की एकता है। **श्री योगेन्द्रदेव अमृताशीति में कहते हैं—**

सत्साम्यभावगिरिगह्वरमध्यमेत्य
पद्मासनादिकमदोषमिदं च बद्ध्वा।
आत्मानमात्मनि सखे ! परमात्मरूपं
त्वं ध्याय वेत्सि ननु येन सुखं समाधेः ॥२८॥

भावार्थ—हे मित्र ! सच्चे साम्यभाव की गुफा के बीच में बैठ कर व निर्दोष पद्मासन आदि बाँधकर अपने ही एक आत्मा के भीतर अपने ही परमात्मा स्वरूपी आत्मा को तू ध्याव, जिससे तू समाधि का सुख अनुभव कर सके।

——:o:——

रागद्वेष त्याग सामयिक है

राय-रोस बे परिहरिवि जो समभाउ मुणेइ।
सो सामाइउ जाणि फुडु केवलि एम भणेइ ॥१००॥

राग द्वेष को त्याग कर, धारे समता भाव।
सामायक चारित्र सो, तीर्थ पति दर्शाव ॥१००॥

अन्वयार्थ—(**जो राय-रोस बें परिहरिवि समभाउ मुणेइ**) जो कोई रागद्वेष को त्याग करके समागम की भावना करता है (**सो फुडु सामाइउ जाणि**) उसको प्रगटपने सामायिक जानो (**एम केवलि भणेइ**) ऐसा केवली भगवान ने कहा है।

भावार्थ—रागद्वेषका त्याग ही सामायिक है। मिथ्यादृष्टी शरीर अज्ञानी व इंद्रियों के विषयों का रागी होता है। इसलिये जिनसे अपना

मनोरथ सिद्ध होता जानता है, उनसे प्रीति करता है, जिनसे बाधा की शंका होती है उनसे द्वेष रखता है। वह कभी रागद्वेष से छूटता नहीं, घोर तप करते रहने पर भी वह कषाय की कालिमा से मुक्त नहीं होता है।

सम्यग्दृष्टी का भाव उलट जाता है, वह संसार के सुखों का श्रद्धावान नहीं रहता है। उसके गाढ़ श्रद्धान अतीन्द्रिय आत्मीक आनंद का होता है, वह एक मात्र सिद्ध दशा का ही प्रेमी रहता है। वह संसार शरीर व भोगों से पूर्ण वैरागी हो जाता है। परमाणु मात्र भी राग उसके भीतर सांसारिक पदार्थों की तरफ नहीं रहता है। वह जगत की दशाओं को समभाव से देखता है। सर्व सांसारिक जीवों के भीतर जो जो भीतर व बाहर दशा बर्तती है वह उनके स्वयं परिणमन शक्ति व कर्मों के उदय, उपशम, क्षय या क्षयोपशम के आधीन है। दूसरा जीव कोई उस दशा को बलात्कार पलट नहीं सकता है। निमित्त कारण मात्र एक दूसरे के परिणमन में हो सकते हैं तथापि अन्तरंग निमित्त व उपादान हरएक का हरएक के पास स्वतन्त्र है। ऐसा वस्तु का स्वभाव जान र ज्ञानी जीव अपने जीवन में व मरण में व दुःख या सुख में या अन्य किसी कार्य में समभाव रखता है, कर्मों के अच्छे या बुरे विपाक को समभाव से भोग लेता है।

दूसरों के जीवन मरण पर व दुःख सुख होने पर व अन्य किसी कार्य के होने पर भी समभाव रखता है। रागद्वेष करके आकुलित नहीं होता है। यदि स्त्री का मरण व पुत्र पुत्री का मरण हो जावे या अन्य किसी मित्र या बन्धु का मरण या वियोग हो जावे तो ज्ञानी समभाव से देखकर आकुलित नहीं होता है। वह जानता है कि सर्व जीवों को दुख सुख व उनका जीवन मरण उनके ही अपने कर्मों के उदय अनु-सार हैं। कर्मों के उदय को कोई मेट नही सकता है।

अपने जीवन की व दूसरों के जीवन की स्थितियों को देखकर रागद्वेष नहीं करता है। जैसे सूर्य का उदय होना, प्रकाश का फैलना, प्रकाश का कम होना व अन्धकार का हो जाना यह सब सूर्य के विमान की गति के स्वभाव का कारण है। ज्ञानी जीव कभी यह विचार नहीं

करता है कि दिन बढ़ जावे तो ठीक है, रात्रि बढ़ जावे या घट जावे तो ठीक है। प्रकाश सदा बना रहे व कभी नहीं हो ऐसा रागद्वेष ज्ञानी कभी नहीं करता है। सूर्य के परिणमन को समभाव में देखता है। इसी तरह जगत में परमाणु से अनेक स्कंध बनते हैं। स्कंधों से अनेक परमाणु बनते हैं। पुद्गल के कार्य उनके स्वभाव से होते रहते हैं। जैसे पानी का भाप बनना, मेघ बनना, पानी का बरसना, नदी का बहना, मिट्टी का कुप्पा होना, तूफान का आना, भूकंप होना, बिजली का चमकना, पर्वतों का चूर होना, मकानों का गिरना, जंगल में वृक्षों का उत्पन्न होना, जंगल में आग लगना, आदि अनेक प्राकृतिक कार्य होते रहते हैं। उनमें भी ज्ञानी रागद्वेष नहीं करता है। समभाव से देखता है। जगत का चरित्र एक नाटक है। उस नाटक को ज्ञानी स्वामी होकर नहीं देखता है। ज्ञाता दृष्टा दर्शक हो कर देखता है। नाटक के भीतर हानि व लाभ देखकर ज्ञानी समभाव रखता है। जो समभाव से अपने परिणमन को व दूसरों के परिणमन को देखता है, उसके पूर्व कर्म फल देकर गिर जाते हैं, नवीन पाप कर्मों का बंध नहीं होता है व अति अल्प होता है। वही सामायिक चारित्र को पालता है। ऐसा समभावधारी ज्ञानी गृहस्थ सामायिक शिक्षाव्रत का व मुनि सामायिक चारित्र का पालक है।

समयसारकलश में कहा है—

इति वस्तु स्वभावं स्वं ज्ञानी जानाति तेन सः।
रागादीन्नात्मनः कुर्यान्नातो भवति कारकः ॥१४–८॥

भावार्थ—ज्ञानी इस तरह सर्व वस्तुओं के स्वभाव को व अपने आपको ठीक-ठीक जानता है, इसलिये रागद्वेष भावों को अपने भीतर नहीं करता है, समभाव से रहता है, इसलिये वह रागद्वेष का कर्ता नहीं होता है। चारित्र मोहनीय के उदय से होने वाले विचार को कर्मों का उदयरूप रोग जानता है, उसके मेटने का उद्यम करता है।

——:०:——

छेदोपस्थापना चारित्र

हिंसादिउ-परिहारु करि जो अप्पा हु ठवेइ ।
सो वियऊ चारित्तु मुणि जो पंचम-गइ णेइ ॥१०१॥

हिंसादिक तज निज रमे, चारित्र दूजो सोइ ।
छेदोपस्थापन कहो शिव पथ कारण लोइ ॥१०१॥

अन्वयार्थ—(**जो हिंसादिउ-परिहारु करि अप्पा हु ठवेइ**) जो कोई हिंसा आदि पापों को त्याग करके आत्मा को स्थिर करता है (**सो वियऊ चारित्तु मुणि**) सो दूसरे चारित्र का धारी है, ऐसा जानो (**जो पंचम-गइ णेइ**) यह चारित्र पंचम गति को ले जाता है ।

भावार्थ—यहाँ साधकों के द्वारा साधने योग्य पाँच चारित्र में से दूसरे चारित्र छेदोपस्थापना का स्वरूप बताया है। सामायिक चारित्र पहला है उसको धारण करते हुए साधु निर्विकल्प समाधि में व समभाव मे लीन रहता है, वहाँ ग्रहण त्याग का विचार नही हो सकता है ।

स्वानुभव होना या आत्मस्थ रहना ही सामायिक है। परन्तु यह दशा एक अन्तर्मुहूर्त से अधिक आत्मज्ञानी छद्मस्थ के होना असम्भव है। उपयोग चंचल हो जाता है तब अशुभ भावों से बचने के लिये व्यवहार चारित्र का विकल्प किया जाता है। व्यवहार चारित्र के आलम्बन से साधु फिर अन्तर्मुहूर्त पीछे आत्मलीन हो जाता है। प्रमत्त भाव में भी अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं रहता है ।

सामयिक छेद हो जाने पर फिर सामायिक में स्थिर होना ही छेदोपस्थापना चारित्र है। निश्चय चारित्र सामायिक है, उससे उपयोग हटने पर फिर जिस व्यवहार चारित्र के द्वारा पुनः निश्चय चारित्र में आया जावे यह छेदोपस्थापना चारित्र है, यह सविकल्प है। निश्चय चारित्र निर्विकल्प है। इस भेदरूप चारित्र में साधु अट्ठाईस मूल गुणों की सम्हाल रखता है ।

पांच अहिंसादि व्रत—संकल्पी व आरम्भी हिंसा को मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना से पूर्णपने त्याग व भावों में रागद्वेष रहित रहने का व बाहर में प्राणी मात्र की रक्षा का उद्यम करना **अहिंसा महाव्रत** है।

जिनवाणी से विरोधरूप न हो ऐसा वचन यथार्थ कहना। सत्य धर्म की रक्षा करते हुए कहना **सत्य महाव्रत** है।

पर पीडाकारी, आरम्भकारी सर्व वचनों से विरक्त रहना, अहिंसा पोषक व वीतरागतावर्द्धक वचन कहना **सत्य महाव्रत** है।

बिना पर के द्वारा दी हुई किसी भी वस्तु को बुद्धिपूर्वक प्रमाद भाव से ग्रहण नहीं करना, चोरी के सर्व प्रकार के दोषों से बचना सो **आचौर्य महाव्रत** है।

स्त्री, देवी, पशुनी, चित्राम, इन चार प्रकार की स्त्रियों के सम्बन्ध में मन वचन काय, कृत कारित अनुमोदना से कुशील का त्यागना, सरल निर्विकार शील स्वभाव से रहना, काम विकार के आक्रमण से बचना सो **ब्रह्मचर्य महाव्रत** है।

चेतन अचेतन सर्व प्रकार के परिग्रह का त्याग करके आकिंचन्य भाव से रह कर सर्व प्रकार की मूर्छा का त्याग करना **परिग्रह त्याग महाव्रत** है।

इन पांच महाव्रतों के रक्षार्थ शेष तेईस गुणों को साधु पालते हैं। **पांच समिति :—**

चार हाथ भूमि आगे देख कर दिन में प्रासुक या रौंदी हुई भूमि पर चलना **ईर्या समिति** है।

मिष्ट हितकारी सभ्य वचन बोलना, कर्कश मर्मछेदक वचन नहीं कहना **भाषा समिति** है।

शुद्ध भोजन भिक्षावृत्ति से श्रावक दातार द्वारा भक्तिपूर्वक दिये जाने पर सन्तोष से ग्रहण करना **एषणा समिति** है।

शरीर, पीछी, कमण्डल, शास्त्रादि देखकर रखना, उठाना **आदाननिक्षेपण समिति** है।

मल मूत्रादि जंतु रहित भूमि पर डालना **उत्सर्ग समिति** है।

पांच इन्द्रिय निरोध :—

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु व कान इन पांच इन्द्रियों के विषयों की इच्छा को रोकना, इन्द्रिय भोगों से विरक्त रहना, समभाव से इन्द्रियों के द्वारा काम लेना। निर्विकार भाव से इन्द्रियों से ज्ञान प्राप्त करना इन्द्रिय दमन है।

छः नित्य आवश्यक :—

प्रतिदिन समय पर तीन काल **सामायिक** करना मन वचन काय से घटित दोषो का प्रातः व सन्ध्या को **प्रतिक्रमण** करना, पश्चात्ताप करना। आगामी दोष न होने की भावना करना या स्वाध्याय करना है। तीर्थंकरों के गुणों की स्तुति करना **स्तवन** है। तीर्थंकर की मुख्यता से गुणानुवाद करना **वंदना** है। काय से ममता त्यागकर ध्यान करना **कायोत्सर्ग** है।

सात अन्य गुण—(१) शरीर पर वस्त्रादि न रखकर बालक के समान नग्न रहना। (२) **अपने केशों का लोंच करना**—घास के समान ममता रहित होकर उपाड लेना (३) **स्नान नहीं करना**। (४) **दंतवन नहीं करना**—दाँतों का शृंगार नही रखना। (५) **भूमि शयन**—जमीन पर तृण का या काष्ठ का संथारा करना, या खाली जमीन पर सोना। (६) **स्थिति भोजन**—खडे होकर भोजन करना। (७) **एक बार भोजन**—दिन में एक ही बार भोजन पान करना। इन २८ मूल गुणों को निर्दोष पालना छेदोपस्थाना चारित्र है निश्चय से आत्मस्थ हो जाना ही चारित्र है।

तत्वार्थसार में कहा है—

यत्र हिंसादिभेदेन त्यागः सावद्यकर्मणः।
व्रतलोपे विशुद्धिर्वा छेदोपस्थापनं हि तत् ४६-६॥

भावार्थ—जहाँ हिंसादि के भेद से पाप कर्मों का त्याग करना या व्रत भंग होने पर प्रायश्चित्त लेकर फिर व्रती होना सो छेदोपस्थाना चारित्र है।

परिहारविशुद्ध चारित्र

मिच्छादिउ जो परिहरणु सम्मद्दंसण-सुद्धि ।
सो परिहारविसुद्धि मुणि लहु पावहिं सिवसिद्ध ॥१०२॥

तज मिथ्यात्व मल जो धरे, सम्यक्‌दर्शन शुद्ध ।
सो परिहार विशुद्ध है धरे लहे शिव बुद्ध ॥१०२॥

अन्वयार्थ—(**जो मिच्छादिउ परिहरणु**) जो मिथ्यात्वादि का त्याग करके (**सम्मद्दंसणसुद्धि**) सम्यग्दर्शन की शुद्धि प्राप्त करना (**सो परिहारविसुद्धि मुणि**) वह परिहार विशुद्धि संयम जानो (**लहु सिव-सिद्धि पावहिं**) जिससे शीघ्र मोक्ष की सिद्धि मिलती है ।

भावार्थ—परिहारविशुद्धि संयम का व्यवहार में प्रचलित स्वरूप यह है कि वह विशेष संयम उस साधु को प्राप्त होता है जो तीस वर्ष तक सुख से घर में रहा हो फिर दीक्षा लेकर आठ वर्ष तक तीर्थंकर की संगति में रहे व प्रत्याख्यान पूर्व का अभ्यास करे। ऐसा साधु विशेष हिंसा का त्यागी होता है, छठे व सातवें गुणस्थान में ही होता है। यहाँ अध्यात्म दृष्टि से शब्दार्थ लेकर कहा है कि मिथ्यात्वादि विषयों का त्याग करके सम्यग्दर्शन की विशेष शुद्धि प्राप्त करना परिहारविशुद्धि है।

शुद्ध आत्मा का निर्मल अनुभव ही मोक्षमार्ग है। उसके बाधक मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र हैं। अनन्तानुबन्धी कषाय और मिथ्यादर्शन कर्म के उपशमया क्षय से एक ही साथ सम्यग्दर्शन, सम्य-ग्ज्ञान, सम्यक्‌चारित्र प्रगट हो जाते हैं, तीनों ही आत्मा के गुण हैं। ज्ञान और चारित्र एकदेश झलकते हैं। इसके पूर्ण प्रकाश के लिये अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान व संज्वलन कषाय का उपशम या क्षय करना होता है। जैसे जैसे स्वानुभव का अधिक अभ्यास होता है वैसे वैसे कषाय की मलीनता कम होती जाती है।

तब ज्ञान निर्मल व चारित्र ऊँचा होता जाता है। श्रावक पद में देशचारित्र होता है, साधुपद में सकल चारित्र होता है। जिस साधु

की स्वानुभव की तीव्रता से वीतरागता ऐसी प्रगट हो जाती है कि बुद्धिपूर्वक कषायमल का स्वाद नहीं आता है, निर्मल शुद्ध स्वानुभव झलकता है, उसका सम्यग्दर्शन गाढ़ व ज्ञान निर्मल व चारित्र शुद्ध होता है।

रत्नत्रय की शुद्धता प्राप्त करना ही मोक्ष के निकट पहुंचना है। अतएव साधु को निर्ग्रन्थ पद में रहकर विशेष आत्मध्यान का अभ्यास करना योग्य है मोह के साथ साधु को युद्ध करना है। इसलिये ज्ञान वैराग्य की खड्ग को तेज रखने की जरूरत है। सम्यग्दर्शन के प्रताप से ज्ञानी को जगत के पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होता है कि छः द्रव्यों से यह जगत भरा है। सर्व ही द्रव्य निश्चय से अपने अपने स्वभाव में कल्लोल करते हैं। यद्यपि संसारी जीव पुद्गल के संयोग से अशुद्ध है व नर नारक तिर्यंच देव के शरीर में नाना प्रकार दीखते हैं तौ भी ज्ञानी उन सब जीवों को द्रव्य के स्वभाव की अपेक्षा शुद्ध एकरूप ज्ञानानन्दी परम निर्विकारी देखता है।

इस ज्ञान के कारण उसे कोई आश्चर्य नही भासता है। वह छहों द्रव्यों के मूल गुण व पर्यायों के स्वरूप को केवलज्ञानी के समान यथार्थ व शका रहित जानता है। अपने आत्मा की सत्ता को अन्य आत्माओं की सत्ता से भिन्न जानता है। तौ भी स्वभाव से सर्व को व अपने आत्मा को समान शुद्ध देखता है। इसी ज्ञान के प्रताप से उसके भीतर सहज वैराग्य भी रहता है कि एक अपना शुद्ध आत्मीक पद ही सार है, उत्तम है, ग्रहण करने योग्य है।

सिद्ध पद की ही प्राप्ति करनी चाहिये। चारों गति के क्षणिक-पद सब त्यागने योग्य हैं। यह इन्द्रियों के सुख को आकुलतारूप व पराधीन व नाशवंत व पापबंधकारी व अतृप्तकारी व हेय समझ चुका है। इसलिये वह भोगविलास के हेतु से चक्रवर्तीपद, नारायणपद, बल-भद्रपद, प्रतिनारायणपद, राजपद, श्रेष्ठपद, इन्द्रपद आदि नहीं चाहता है। उसके भीतर पूर्ण वैराग्य है कि सर्व ही आठ कर्मों का संयोग मिटाने योग्य है, सब ही रागादि विभाव त्यागने योग्य है, सर्व ही शरीर व भोग सामग्री का संयोग दूर करने योग्य है; ऐसा दृढ़ ज्ञान

वैराग्यधारी सम्यग्दृष्टी पूर्व कर्मों के उदय से यद्यपि गृहस्थ पद में अनेक गृहस्थ के काम करता हुआ दिखाई पड़ता है तो भी वह उन कामों को आसक्ति भाव से नहीं करता है। कषाय के उदय को रोग जानता है। रोग को मिटाने की भावना भाता है। जितना जितना कषाय का उदय मिटता है इसका व्यवहार भी निर्मल होता जाता है। मोक्ष का उपाय मूल में एक सम्यग्दर्शन की शुद्धता है। वीतराग यथाख्यात चारित्र व केवलज्ञान के लाभ का यही उपाय है।

तत्वार्थसार में कहा है—

विशिष्टपरिहारेण प्राणिघातस्य यत्र हि।
शुद्धिर्भवति चारित्रं परिहारविशुद्धि तत् ॥४७-६॥

भावार्थ—जहाँ प्राणियों के घात का विशेषपने त्याग हो व चारित्र की शुद्धि हो वह परिहारविशुद्ध चारित्र है।

—: ० :—

यथाख्यात संयम

सुहुमहँ लोहहँ जो विलउ सो सुहुमु वि परिणामु।
सो सुहुमु वि चारित्त मुणि सो सासय-सुह धामु ॥१०३॥

सूक्ष्म लोभ के नाश से, शुद्ध होय परिणाम।
सो सूक्ष्म चारित्र है, सास्वत सुखधाम ॥१०३॥

अन्वयार्थ—(**सुहुमहँ लोहहँ जो विलउ**) सूक्ष्म लोभ का जो भी क्षय होकर (**जो सुहुमु वि परिणामु**) जो कोई सूक्ष्म वीतराग भाव होता है (**सो सुहुमु वि चारित्त मुणि**) उसे सूक्ष्म या यथाख्यात चारित्र जानो (**सो सासय सुह धामु**) वही अविनाशी सुख का स्थान है।

भावार्थ—सुख आत्मा का गुण है। उसको यथार्थ चारों घातीय कर्मों ने रोक रक्खा है परन्तु मुख्यता से उसको रोकने वाला मोह कर्म है। जितना-जितना मोह का क्षय होता है उतना-उतना सुख का प्रकाश होता जाता है। यह सुख वीतराग भाव सहित निर्मल है।

क्षायिक सम्यग्दृष्टी जीव चार अनन्तानुबन्धी कषाय और दर्शनमोह की तीन प्रकृतियों का जब क्षय कर देता है तब क्षायिक सम्यक्त्व व स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट हो जाते हैं। इन शक्तियों के प्रगट होने पर जब कभी ज्ञानी अपने उपयोग को अपने आत्मा में स्थिर करता है तब ही स्वरूप का अनुभव आता है व अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद आता है। अविरत सम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थान में भी इस सुख का प्रकाश हो जाता है। फिर यह क्षायिक सम्यक्ती महात्मा जितना-जितना स्वानुभव का अभ्यास करता है उतना-उतना कषाय का रस कम उदय में आता है। तब उतना-उतना निर्मल सुख अनुभव में आता है। पाँचवें देशसंयम गुणस्थान में अप्रत्याख्यान् कषाय का उदय नहीं होता है तब चौथे गुणस्थान की अपेक्षा निर्मल सुख स्वाद में आता है। छठे प्रमत्त गुणस्थान मे प्रत्याख्यान कषाय का भी उदय नहीं रहता है, तब और अधिक निर्मल सुख वेदने में आता है। सातवें अप्रमत्त गुणस्थान में संज्वलन कषाय का मन्द उदय रहता है तब और भी निर्मल सुख अनुभव में आता है। आठवे अपूर्वकरण गुण-स्थान में संज्वलन कषाय का अति मन्द उदय होता है तव और भी निर्मल सुख स्वाद मे आता है। अनिवृत्तिकरण नौवे गुणस्थान में अति-शय मन्द कषाय का उदय रहता है तथा वीतराग भाव की आग बढ़ती जाती है। उस कारण से योगी अनिवृत्तिकरण के दूसरे भाग में अप्रत्याख्यान ४ व प्रत्याख्यान ४ इन आठ कषाय कर्मों की सत्ता का क्षय कर देता है। तीसरे भाग में नपुसक वेद का, चौथे भाग में स्त्री वेद का, पाँचवे भाग मे हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा इन छः नोकषायों का, छठे भाग में पुरुष वेद का, सातवे भाग में संज्वलन क्रोध का, आठवें भाग में सज्वलन मान का, नौवें भाग में संज्वलन माया का क्षय का कर देता है तब बारहवें गुणस्थान में जाकर यथा-ख्यात चारित्र को प्रकट करके शुद्ध सुख का अनुभव करता है। अट्ठाईस प्रकार मोह कर्म के क्षय होने से न मिटने वाला सुख प्रकट हो जाता है।

जब योगी द्वितीय शुक्लध्यान के बल से ज्ञानावरण, दर्शना-

वरण, अन्तराय तीनों कर्मों का सर्वथा क्षय कर देता है तब तेरहवें गुणस्थान में आकर केवलज्ञानी अर्हंत परमात्मा हो जाता है। उस समय निज आत्मा का प्रत्यक्ष दर्शन व अनुभव हो जाता है। अब तक श्रुतज्ञान के द्वारा परोक्ष ज्ञान था, अब केवलज्ञानी के प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष अमूर्तीक आत्मा का ज्ञान व अनुभव हो जाता है। अन्तराय कर्म के नाश से अनन्तवीर्य प्रगट होने से सुख परम शुद्ध व यथार्थ अनन्त काल तक स्वाद में आने वाला झलक जाता है, इसलिए इस गुणस्थान में यह अनन्त सुख कहलाता है। फिर यह सुख कभी कम नहीं होता है, निरन्तर सिद्धों के स्वाद में आता है।

तत्त्वार्थसार में कहा है—

संसारविषयातीतं सिद्धानामव्ययं सुखम्।
अव्याबाधमिति प्रोक्तं परमं परमार्षिभिः ॥४५॥
लोके तत्सदृशो ह्यर्थः कृत्स्नेऽप्यन्यो न विद्यते।
उपमीयेत तद्येन तस्मान्निरुपमं स्मृतम् ॥५२-८॥

भावार्थ—सिद्धों के संसार के विषयों की पराधीनता से रहित अविनाशी सुख प्रगट होता है। उस सुख को परम व बाधा रहित सुख परम ऋषियों ने कहा है। समस्त जगत में कोई भी उस सुख के समान पदार्थ नहीं है जिसको उस सुख गुण की उपमा दी जा सके, इसलिए उस सुख को उपमा रहित अनुपम कहा गया है।
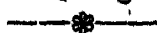
आत्मा ही पंचपरमेष्ठी है

अरहंतु वि सो सिद्ध फुडु सो आयरिउ वियाणि।
सो उवझायउ सो वि मुणि णिच्छइँ अप्पा जाणि ॥१०४॥

अरहन्त सिद्धाचार्य अरु, उपाध्याय सर्व साधु।
यह पद है व्यवहार में, नियत आत्मा साधु ॥१०४॥

अन्वयार्थ—(**णिच्छइँ**) निश्चय से (**अरहंतु वि अप्पा जाणि**) आत्मा ही अरहन्त है ऐसा जानो (**सो फुडु सिद्ध**) वही आत्मा प्रगट-

पने सिद्ध है (सो आयरिउ वियाणि) उसी को आचार्य जानो (सो उवज्झायहु) वही उपाध्याय है (सो जि मुणि) वही आत्मा ही साधु है।

भावार्थ—निश्चयनय से जिसने आत्मा का अनुभव प्राप्त कर लिया उसने पाँचों परमेष्ठियों का अनुभव प्राप्त कर लिया। ये पाँचों पद आत्मा को ही दिये गये हैं। व्यवहारनय से या पर्याय की दृष्टि से आत्मा के पाँच भेद हो जाते हैं, निश्चय से आत्मा एक ही रूप है।

जिस आत्मा में चार घातीय कर्मों के क्षय से अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, क्षायिक सम्यक्त, क्षायिक चारित्रवान, अनन्त वीर्य, अनन्त सुख, गुण प्रगट है, परन्तु चार अघातीय कर्मो का उदय है व उनकी सत्ता आत्मा के प्रदेशों मे है, जो जीवन्मुक्त परमात्मा हैं वे अरहंत हैं। अरहंत का ध्यान करते हुए उनके पुद्गलमय शरीर पर व सिंहासन छत्रादि आठ प्रतिहार्य पर लक्ष्य न देकर उनकी आत्मा की शुद्धि पर लक्ष्य देना चाहिये व अपने आत्मा को भी उसी समान होने की भावना करनी चाहिए।

आत्मीक भावो से अरहत की आत्मा को ध्याना चाहिए। ध्यान में एकाग्र हो जाना चाहिये, यह अरहन्त का ध्यान है। सिद्ध भगवान आठों ही कर्मों से रहित प्रगटपने शुद्धात्मा हैं वहा शरीरादि किसी भी पुद्गल का संयोग नही है। पुरुषकार अमूर्तीक ध्यानमय आत्मा को सिद्ध कहते हैं। वे निरंजन निर्विकार है। सम्यक्त, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, अगुरुलघु, अव्याबाध, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व इन आठ प्रसिद्ध गुणो से विभूषित है। परम कृतकृत्य, निश्चल परमानन्दी हैं। उनके स्वरूप को अपने आत्मा मे विराजमान करके एकतान हो जाना सिद्ध का ध्यान है।

आचार्य की आत्मा शुद्ध सम्यग्दर्शन, शुद्ध ज्ञान, शुद्ध चारित्र, शुद्ध तप व परम वीर्य से विभूषित है व निश्चय रत्नत्रयमई शुद्धात्मानुभव से अलंकृत है।

यद्यपि शिष्यों के कल्याण निमित्त परोपकार भाव से भी रंजित है यह उनकी प्रमाद अवस्था है, उसको लक्ष्य में न लेकर केवल

शुद्धात्मानुभव दशा को ध्यान में लेकर उनके स्वरूप को अपने आत्मा में बिठाकर एकतान हो जाना आचार्य का ध्यान है। उपाध्याय महाराज व्यवहार में अनेक शास्त्रों के ज्ञाता होकर पठन-पाठन में उपयुक्त रहते हैं, यह उनकी प्रमाद दशा है। अप्रमत्त दशा में ये भी स्वात्मानुभव में एकाग्र होकर आत्मीक आनन्द का पान करते हैं। इस निश्चय आत्मीक भाव को ध्यान में लेकर आत्मा को उनके भाव में एकतान करना उपाध्याय का ध्यान है।

साधु परमेष्ठी व्यवहार में २८ मूल गुणों का पालन करते हैं, निश्चय से शुद्ध आत्मीक भाव में रमण कर आत्मगुप्त हो, निर्विकल्प समाधि का साधन करते हैं, आप में ही आपको, आप में ही अपने ही द्वारा आपके लिए आप ही ध्याते हैं, परम एकाग्र भाव आत्मा में मगन हैं, उनके इस आत्मीक स्वरूप को अपने आत्मा के भीतर धारण करके एकाग्र हो जाना साधु का ध्यान है।

आत्मा के ध्यान में ही पाँचों परमेष्ठी का ध्यान गर्भित है। शरीरादि की क्रिया को ध्यान में लेकर केवल उनके आत्मा का आराधन निश्चय आराधन है। **समयसार कलश** में कहा है—

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा तत्वमात्मनः।
एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा ॥४६-१०॥

भावार्थ—आत्मा का स्वरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-चारित्रमई एक रूप ही है, यही एक मोक्ष का मार्ग है। मोक्ष के अर्थी को उचित है कि इसी एक स्वानुभव रूप मोक्षमार्ग का सेवन करे।

——:o:——

आत्मा ही ब्रह्मा विष्णु महेश है

सो सिउ संकरु विण्हु सो सो रुद्द वि सो बुद्धु ।
सो जिणु ईसरु बंभु सो सो अणंतु सो सिद्धु ॥१०५॥

सो शिव शंकर विष्णु, सो रुद्र बुद्ध जिनदेव ।
ईश्वर ब्रह्मा सिद्ध सो, अनेक नाम गुणभेव ॥१०५॥

अन्वयार्थ—(**सो सिउ संकरु विण्हु सो**) वही शिव हैं, शंकर हैं, वही विष्णु हैं (**सो रुद्द वि सो बुद्धु**) वही रुद्र हैं, वही बुद्ध हैं (**सो जिणु ईसरु बंभु सो**) वही जिन हैं, ईश्वर हैं, वही ब्रह्मा हैं (**सो अणंतु सो सिद्धु**) वही अनन्त हैं, वही सिद्ध हैं।

भावार्थ—जिस परमात्मा का ध्यान करना है, उसके अनेक नाम गुणवाचक हो सकते हैं, वही शिव कहलाता है, क्योंकि वह कल्याण का कर्ता है, उसके ध्यान करने से हमारा हित होता है। वही शंकर कहलाता है, क्योंकि उसके ध्यान करने से आनन्द का लाभ होता है, दूसरा कोई लौकिकजनों से मान्य व पूज्य शिव शङ्कर नही है। वही विष्णु कहलाता है, क्योंकि वह केवलज्ञान की अपेक्षा सर्व लोकालोक का ज्ञाता होने से सर्वव्यापक है, दूसरा कोई लौकिक जनों से मान्य यथार्थ विष्णु नहीं है। वही रुद्र या महादेव है, क्योंकि उस परमात्मा ने सर्व कर्मों को भस्म कर डाला है, दूसरा कोई लोकसंहारक रुद्र नहीं है, न दूसरा कोई लोक पालक विष्णु है। वही सच्चा बुद्ध है, क्योंकि वही सर्व तत्वों का यथार्थ ज्ञाता है और कोई बौद्धों से मान्य बुद्धदेव यथार्थ सर्वज्ञ परमात्मा नही।

वही यथार्थ जिन हैं, क्योंकि उसने रागादि शत्रुओं को व ज्ञानावरणादि कर्म-रिपुओं को जीत लिया है, और कोई यथार्थ जिन या विजयी नही है। वही ईश्वर है, क्योंकि अविनाशी परमैश्वर्य का धारी वही परमात्मा है जो परम कृतकृत्य व सन्तोषी है, सर्व प्रकार की इच्छा से रहित है। वही परमात्मा सच्चा ब्रह्मा है, क्योंकि यह ब्रह्मस्वरूप में लीन है अथवा वह अपने स्वरूप से यथार्थ मोक्ष का

उपाय बताता है। वही धर्म का कर्ता है। उसके ही स्वरूप के ध्यान से संसारी आत्मा परमात्मा हो जाता है, और कोई जगतकर्ता ब्रह्मा नहीं है। वही परमात्मा अनन्त है, क्योंकि वह अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य, अनन्त शान्ति, अनन्त सम्यक्त्व आदि अनन्त गुणों का धारी है। उसी को सिद्ध कहते हैं, क्योंकि उसने साध्य को सिद्ध कर लिया है। संसारी को शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति सिद्ध करनी है। उसको वह प्राप्त कर चुका है।

परमात्मा के यथार्थ स्वरूप के प्रतिपादक हजारों नाम लेकर भावना करने वाला भावना कर सकता है। नाम लेना निमित्त है। उन नामों के निमित्त से परमात्मा का स्वरूप ध्यान में यथार्थ ही आना चाहिए। परमात्मा वास्तव में जैन सिद्धान्तों में सिद्ध भगवान को कहते हैं, जो परम शुद्ध है, उनकी आत्मा में किसी परद्रव्य का संयोग नहीं, न वहाँ ज्ञानवरणादि आठ कर्म हैं, न रागादि भाव कर्म हैं, न शरीरादि नोकर्म है, शुद्ध स्फटिक के समान निर्मल है। ज्ञातादृष्टा स्वभाव से हैं तथापि प्रशंसा किये जाने पर प्रसन्न नहीं होता है। निन्दा किये जाने पर क्रोधित नहीं होता है। वह सदा निर्विकार रहते हैं। उनमें हर्ष विषाद नहीं होता है। यद्यपि वे परमात्मा स्तुति करने वाले पर प्रसन्न या रागी नहीं होते है, तथापि भक्तों का परिणाम उनकी स्तुति के निमित्त से निर्मल या शुभ हो जाता है तब जितने अंश भावों में वीतरागता होती है उतने अंश कर्म का क्षय होता है। जितने अंश शुभ राग होता है उतने अंश पुण्य का बंध होता है। निन्दा करने वालों के भाव बिगड़ते हैं, उससे वे निन्दक पाप का बंध करते हैं।

परमात्मा परम वीतराग रहते हैं। वे कोई भी अशुद्ध भावों के कर्ता नहीं हैं। उनमें शुद्ध परिणमन है। वे शुद्ध आत्मीक भावों के ही कर्ता हैं। जैसे निर्मल क्षीर समुद्र में निर्मल ही तरंगें उठती हैं, वैसे ही शुद्धात्मा में सर्व परिणमन या वर्तन शुद्ध ही होता है। वे परमात्मा सांसारिक सुख या दुःख भोगने वाले नहीं हैं। वे केवल अपने ही अतीन्द्रिय परमानन्द के निरन्तर भोगने वाले हैं। परमात्मा सुख, सत्ता,

चैतन्य, बोध इन चार मुख्य प्राणों से सदा जीते रहते हैं। परमात्मा में केवलदर्शन व केवलज्ञान उपयोग एक ही साथ अपने आपको ही देख रहा है। अपने आपको ही जान रहा है।

परमात्मा वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श से रहित अमूर्तीक है तो भी ज्ञानमई पुरुषाकार पद्मासन या कायोत्सर्ग आदि आसन से रहते हुए असंख्यात प्रदेशी हैं। परमात्मा परम आदर्श हैं। वे हरएक आत्मा भी निश्चय से परमात्मा है ऐसा जानकर वीतरागमय या समभाव में होकर स्वानुभव का अभ्यास करना योग्य है। यही उपाय परमात्मा के पद के लाभ का है।

समाधिशतक में कहा है—

निर्मलः केवलः सिद्धो विविक्तः प्रभुरक्षयः।
परमेष्टी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः ॥६॥

भावार्थ—परमात्मा कर्ममल रहित निर्मल हैं, एक अकेले हैं इससे केवल हैं, वही सिद्ध हैं, वही सर्व अन्य द्रव्यों की व अन्य आत्माओं की सत्ता से निराले विविक्त हैं। वही अनन्त वीर्यवान होने से प्रभु हैं, वही सदा अविनाशी हैं, वही परमपद में रहने से परमेष्ठी हैं। वही उत्कृष्ट होने से परमात्मा हैं, वही परमात्मा हैं, वही सर्व इन्द्रादि से पूज्य ईश्वर हैं। वही रागादि विजयी जिन भगवान हैं।

परमात्मादेव अपने देह में भी है

एक हि लक्खण-लक्खियउ जो परु णिक्कलु देउ।
देहहँ मज्झहिं सो वसइ तासु ण विज्जइ भेउ ॥१०६॥

इन लक्खण युक्तात्मा, निकल करे तनवास।
वही शुद्ध परमात्मा, दूजा भेद न तास ॥१०६॥

अन्वयार्थ—(**एक हि लक्खण-लक्खियउ जो परु णिक्कलु देउ**) इस प्रकार ऊपर कहे हुए लक्षणों से लक्षित जो परमात्मा निरंजन देव हैं (**देहहँ मज्झहिं सो वसइ**) तथा जो अपने शरीर के भीतर बसने वाला

आत्मा । है (तह्नु भेउ म वियाणि) उन दोनों में कोई भेद नहीं है।

भावार्थ—अपने शरीर में व प्राणीमात्र के शरीर में आत्म द्रव्य शरीर भर में व्यापकर तिष्ठा हुआ उस आत्मद्रव्य का लक्षण सिद्ध परमात्मा के समान है। व्यवहार दृष्टि से या कर्मबन्ध की दृष्टि से सिद्धात्मा से और संसारी आत्मा से स्वपरूप की प्रगटता व अप्रगटता के कारणभेद भी हैं। संसारी आत्माएँ कार्मण व तैजस शरीर को प्रवाह की अपेक्षा अनादि से साथ में रख रही हैं। आठों कर्म के विचित्र भेदों के उदय से विपाक रस से आत्माओं के विकास में बहुत भेद दिख रहे हैं, उन भेदों को संग्रह करके विचारें तो १६ उन्नीस जीव समास नीचे प्रकार होंगे —

(१) पृथ्वीकायिक सूक्ष्म, (२) पृथ्वीकायिक बादर, (३) जलकायिक सूक्ष्म, (४) जलकायिक बादर, (५) अग्निकायिक सूक्ष्म, (६) अग्निकायिक बादर, (७) वायुकायिक सूक्ष्म, (८) वायुकायिक बादर, (६) नित्य निगोद साधारण वनस्पतिकायिक सूक्ष्म, (१०) नित्य निगोद साधारण वनस्पतिकायिक बादर (११) इतर या चतुर्गति निगोद साधारण वनस्पतिकायिक सूक्ष्म, (१२) इतर निगोद साधारण वनस्पतिकायिक बादर, (१३) प्रत्येक वनस्पतिकायिक सप्रतिष्ठित (निगोद सहित), (१४) प्रत्येक वनस्पति कायिक अप्रतिष्ठित (निगोद रहित), (१५) द्वेन्द्रिय, (१६) तेन्द्रिय, (१७) चतुरिंद्रिय, (१८) पंचेन्द्रिय असैनी, (१६) पंचेन्द्रिय सैनी,। हरएक में पर्याप्त तथा अपर्याप्त भेद हैं, इस कारण ३८ अड़तीस भेद हो जायेंगे। लब्ध्यपर्याप्त व निर्वृ त्यपर्याप्त के भेद से ५७ सत्तावन जीव समास हो जायँगे।

सैनी पंचेन्द्रिय में नारकी, देव, मनुष्यों के अनेक भेद हैं व पशुओं में जलचर, थलचर व नभचर हैं। कर्मों के उदय के कारण संसारी जीवों के भीतर ज्ञान दर्शन व वीर्य गुण की प्रगटता कम व अधिक है व क्रोध, मान, माया, लोभ कषायों से अनुरंजित योगों की प्रवृत्ति या लेश्या मूल में छः भेदरूप है तो भी हरएक के भीतर मन्द, मन्दतर, तीव्र, तीव्रतर शक्ति की अपेक्षा अनेक भेद हैं। कृष्ण, नील, कापोत लेश्या के परिणाम अशुभ कहाते है, क्योंकि इन भावों के होते हुए जीव

पाप कर्मों को ही बाँधते हैं। पीत, पद्म, शुक्ल लेश्या के परिणाम शुभ कहाते हैं, क्योंकि इन भावों से घातीय कर्मों का मन्द बंध पड़ता है व अघातीय कर्मों में केवल पुण्य का ही बन्ध पड़ता है। इस तरह अन्तरंग भावों में व बाहरी शरीर की चेष्टा में विशेष-विशेष भेद कर्मों के उदय से ही हो रहे हैं।

इस कारण संसारी जीव बिचित्र दीखते हैं। रागी जीव इन जीवों को देखकर जिनसे कुछ इन्द्रिय विषय के साधन में मदद मिलती है उनसे प्रीति ब जिनसे बाधा पहुचती दिखती है उनसे द्वेष कर लेते हैं। उसी से कर्मबन्ध करते हैं व उन कर्मों का फल भोगते है। इस दृष्टि से देखते हुए वीतरागी को बन्ध नहीं होता है।

समभाव ही मोक्ष का उपाय है, इस भाव के लाने के लिये साधक को व्यवहार दृष्टि से भेद है, ऐसा जानते हुए भी, ऐसा धारणा में रखते हुए भी इस दृष्टि का विचार बन्द करके निश्चय दृष्टि से अपने आत्मा को व सर्व संसारी आत्माओं को देखना चाहिये। तब अपना आत्मा व सर्व संसारी आत्माएँ एक समान शुद्ध, निरञ्जन, निर्विकार, पूर्ण दर्शन, वीर्य व आनन्दमय, अमूर्तीक, असंख्यात प्रदेशी, ज्ञानाकार देख पड़ेगे। तब सिद्धों में व संसारी आत्माओं में कोई भेद नहीं दीख पड़ेगा।

समभाव को लाने के लिये ध्याता को निश्चयनय से देखकर रागद्वेष को दूर कर देना चाहिये। फिर केवल अपने ही आत्मा को शुद्ध देखना चाहिये। उसे ही परम देव मानना चाहिये। आप ही निरञ्जन है, परमात्मा देव है ऐसा भाव लाकर उसी भाव में उपयोग को स्थिर करना चाहिये। तब भावना के प्रताप से यकायक स्वानुभव हो जायगा, मोक्षमार्ग प्रगट हो जायगा। वीतराग भाव ही परमानन्द प्रद है व निर्जरा का कारण है समाधिशतक में कहा है—

परत्राहम्मति स्वस्माच्च्युत्तो बध्नात्यसंशयम्।
स्वस्मिन्नहम्मतिश्च्युत्वा परस्मान्मुच्यते बुधः ॥४२॥
दृश्यमानमिदं मूढस्त्रिलिङ्गमवबुध्यते।
इदमित्यवबुद्धस्तु निष्पन्नं शब्दवर्जितम् ॥४४॥

भावार्थ—जो कोई अपने शुद्ध स्वरूप के अनुभव से छूट कर परभावों में आत्मापने की बुद्धि करता है, अपने में कषाय जमा लेता है, वह अवश्य कर्म बंध करता है। परन्तु जो पर रागादि भावों से छूटकर अपने ही शुद्ध स्वरूप में आत्मापने की भावना करता है, वह ज्ञानी कर्मों से मुक्त होता है। मूर्ख बहिरात्मा इस दीखने वाले जगत के प्राणियों को तीन लिंगरूप स्त्री, पुरुष, नपुंसक देखता है। परन्तु ज्ञानी इस जगत का निश्चय से एक समान शब्द रहित व निश्चल जानता है। उसे सर्व जीव एक समान शुद्ध दीखते हैं।

आत्मा का दर्शन ही सिद्ध होने का उपाय है

जे सिद्धा जे सिज्झिहिंहि जे सिज्झहि जिण-उत्तु।
अप्पा-दंसणि ते वि फुडु एहउ जाणि णिभंतु ॥१०७॥

जो सीजे जो सीजते, जो सीजेंगे और।
सो सब सम्यक्दृष्टि हो, भ्रांत रहित कर गौर ॥१०७॥

अन्वयार्थ—(जिण उत्तु) श्री जिनेन्द्र ने कहा है (**जे सिद्धा**) जो जो सिद्ध हो चुके हैं (**जे सिज्झिहिंहि**) जो सिद्ध होंगे (**जे सिज्झहि**) जो सिद्ध हो रहे हैं (**ते वि फुडु अप्पा दंसणि**) वे सब प्रगटपने आत्मा के दर्शन से हैं (**एहउ णिभंतु जाणि**) इस बात को सन्देह रहित जानो।

भावार्थ—ग्रन्थकार ने ऊपर कथित गाथाओं में सिद्ध कर दिया है कि मोक्ष का उपाय केवल मात्र अपने ही आत्मा का अनुभव है। मोक्ष आत्मा का पूर्ण स्वभाव है। मोक्ष मार्ग उसी स्वभाव का श्रद्धा व ज्ञान द्वारा अनुभव है। अपना ही आत्मा साध्य है, अपना ही आत्मा साधक है। उपादान कारण ही कार्य रूप हो जाता है। पूर्व पर्याय कारण है, उत्तर पर्याय कार्य है।

सुवर्ण आप ही धीरे-धीरे शुद्ध होता है। जैसा-जैसा अग्नि का ताप लगता है व मैल कटता है वैसे-वैसे सोना चमकता जाता है।

उसकी चमक धीरे-धीरे बढ़ती ही जाती है। सोना आप से ही कुन्दन बन जाता है। इसी तरह यह आत्मा मन, बचन, काय की क्रिया को बुद्धि पूर्वक निरोध करता है और उपयोग को पाँचों इन्द्रियों के विषयों से तथा मन के विकल्पों से हटा कर अपने ही आत्मा में तन्मय करता है और आत्मस्थ हो जाता है।

इस दशा को आत्मा का दर्शन या आत्मा का साक्षात्कार कहते हैं यही ध्यान की अग्नि है, इसी के जलने पर जितनी-जितनी वीतरागता बढ़ती है, कर्मों का मैल कटता है, आत्मा के गुणों का विकास होता है। धीरे-धीरे आत्मा का भाव शुद्ध होते-होते परम वीतराग हो जाता है तब केवल ज्ञानी अरहंत या सिद्ध कहलाता है।

आत्मा का दर्शन या आत्मानुभव ही एक सीधी सड़क है जो मोक्ष के सिद्ध प्रासाद तक गई है। दूसरी कोई गली नहीं है जिस पर चलकर पहुंच सके। सिद्धपद न तो किसी भक्ति से मिल सकता है, न बाहरी तप व जप व चारित्र से मिल सकता है। वह तो केवल अपने ही आत्मा के यथार्थ अनुभव से ही प्राप्त हो सकता है।

साधक को श्रीगुरु से तथा जिनवाणी से आत्मा का स्वरूप ठीक-ठीक जानना चाहिये कि यह स्वतन्त्र द्रव्य है, सत् है, द्रव्यापेक्षा नित्य है, समय-समय परिणमनशील होने से अनित्य है, इसलिये हर समय उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप है या गुण पर्यायमय है। गुण सदा द्रव्य के साथ रहते हैं। द्रव्य गुणों का समुदाय ही है। गुणों में जो परिणमन होता है उसे ही पर्याय कहते है।

आत्मा पूर्ण ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त चारित्रादि शुद्ध गुणों का सागर है, परम निराकुल है, परम वीतराग है, आठों कर्म, रागादि भाव कर्म, शरीरादि नोकर्म से भिन्न है, शुद्ध चैतन्य ज्योतिर्मय है। पर भावों का न तो कर्ता है न पर भावों का भोक्ता है। यह सदा स्वभाव के रमण में रहने वाला स्वानुभूति मात्र है। इस तरह अपने आत्मा के शुद्ध स्वभाव की प्रतीति करके साधक इसी ज्ञान का मनन करता है।

भेद विज्ञान के द्वारा, यद्यपि आप अशुद्ध है तो भी अपने को कर्दम रहित जल के समान शुद्ध मानकर बार-बार विचार करता है। इस आत्म-मनन के प्रताप से कभी यह जीव समय-समय अनन्त गुणी बढ़ती हुई विशुद्धता को एक अन्तर्मुहूर्त के लिये पाता है।

ऐसे परिणामों की प्राप्ति को करणलब्धि कहते हैं। तब यकायक अनन्तानुबन्धी कषाय और दर्शन मोह का विकार दूर होता है और यह जीव अविरत सम्यक्ती या साथ में अप्रत्याख्यान कषाय का विकार भी हटने से एकदम देशविरती श्रावक या प्रत्याख्यान कषाय का भी विकार हटने से एकदम अप्रमत्त विरत साधु हो जाता है।

चौथे अविरत सम्यक्त गुणस्थान में आत्मा का अनुभव प्रारम्भ हो जाता है, वह दौज के चन्द्रमा के समान होता है। उसी आत्मानुभव के सतत् अभ्यास से पात्र के गुणस्थान के योग्य आत्मानुभव निर्मल हो जाता है। इस तरह गुणस्थान २ प्रति जैसे २ चढ़ता है आत्मानुभव की शुद्धता व स्थिरता अधिक-अधिक पाता जाता है।

आत्मानुभव को ही धर्म ध्यान कहते हैं। उसी को ही कषाय मल के अधिक दूर होने से शुक्लध्यान कहते हैं। इसीसे चार घातीय कर्म क्षय होते हैं तब आत्मा अरहन्त परमात्मा हो जाता है। शेष चार अघातीय कर्मों के दूर होने पर यही सिद्ध हो जाता है। भूत भावी वर्तमान तीनों ही कालों में सिद्ध होने का एक ही मार्ग है।

अपने आत्मा का जो कोई यथार्थ अनुभव करेगा वही सम्यक्-दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र की एकतारूप मोक्षमार्ग का साधन करेगा। यह मोक्षमार्ग वर्तमान मे भी साधक को आनन्ददाता है व भविष्य में अनन्त सुख का कारण है। मुमुक्षु को उचित है कि वह व्यवहार धर्म के बाहरी आलम्बन से निश्चय धर्म का या आत्मानुभव का अभ्यास करे। यही कर्तव्य है, यही इस ग्रन्थ का सार है।

समयसारकलश में कहा है—

त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि तत्किल परद्रव्यं समग्रं स्वयं
स्वद्रव्ये रतिमेति यः स नियतं सर्वापराधच्युतः।

बन्धध्वंसमुपेत्य नित्यमुदितः स्वज्योतिरच्छोच्छल—
च्चैतन्यामृतपूरपूर्णमहिमा शुद्धो भवन्मुच्यते ॥१२-६॥

भावार्थ—जो कोई अशुद्धता के करने वाले सर्व ही पर द्रव्य का राग स्वयं त्याग कर व सर्व परभाव में रतिरूप अपराध से मुक्त होकर अपने ही आत्मीक द्रव्य में रति, प्रीति, आसक्ति व एकाग्रता करता है वह अपने उछलते हुये आत्मा के प्रकाश में रह कर कर्म-बन्धन का क्षय करके चैतन्यरूपी अमृत से पूर्ण व शुद्ध होकर मोक्षरूप या सिद्ध हो जाता है ।

——:o:——

ग्रन्थकर्ता की अन्तिम भावना

संसारह भय-भीयएण जोगिचन्द-मुणिएण ।
अप्पा-संबोहण कया दोहा इक्क-मणेण ॥१०८॥

भव भटकन से भीत हो, योगीन्द्र सु मुनिराज ।
प्राकृत दोहों में रचो, निज सम्बोधन काज ॥१०८॥

अन्वयार्थ—(**संसारह भय-भीयएण**) संसार के भ्रमण से भय-भीत (**जोगिचन्द-मुणिएण**) योगिचन्द्राचार्य मुनि ने (**अप्पासंबोहण**) आत्मा को समझाने के लिए (**इक्क-मणेण**) एकाग्रचित्त से (**दोहा कया**) इन दोहों की रचना की है ।

भावार्थ—ग्रन्थकर्ता योगिचन्द्राचार्य ने प्रगट किया है कि उन्होंने अपने ही कल्याण के निमित्त इन गाथा दोहों की रचना की है। वे कहते हैं कि मुझे संसार भ्रमण का भय है । संसार में आत्मा को अनेक प्राणो को धार कर बहुत कष्ट उठाने पड़ते है, परम निराकुल सुख का लाभ नहीं होता है ।

जहां तक आठ कर्मों का संयोग है वहाँ तक ही संसार है। कर्मों के उदय के आधीन होने से अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन प्रगट नहीं होता । न अनन्तवीर्य ही झलकता है । मिथ्यात्व का गहलपना रहता

है, जिससे प्राणी अपने आत्मीक अतीन्द्रिय सुख को नहीं पहचानता है, इन्द्रिय सुख का ही लोभी बना रहता है। इष्ट सामग्री मिलने की तृष्णा में फँसा रहता है। महान लोभी हो जाता है। इष्ट वस्तु के मिलने पर मान करता है। इष्ट वस्तु के लिए मायाचार करता है। कोई उसके लाभ में जो बाधा करे उस पर क्रोध करता है।

मोहनीय कर्म के उदय से नाना प्रकार के औपाधिक भावों में निरन्तर रँगा रहता है, इसी कारण नए कर्मों का बन्ध करता है। चार घातीय कर्मों का जब तक क्षय न हो आत्मा परमात्मा नहीं हो सकता है। आयु कर्म के उदयवश स्थूल शरीर में रुकना पड़ता है। नाम कर्म के उदय से शरीर की रचना शुभ अशुभ होती है। गोत्रकर्म के उदय से निन्दनीय या आदरणीय कुल में जन्मता है। वेदनीय कर्म के उदय से साताकारी या असाताकारी सामग्री का निमित्त मिलता है। चार अघातीय कर्म के कारण बाहरी पिंजरे में कैद रहता है।

चारों ही गतियों में जीव सांसारिक आकुलता भोगता है। जिस इन्द्रिय सुख को संसार के अज्ञानी प्राणी सुख कहते हैं उसी को ज्ञानी जीव दुःख मानते हैं, क्योंकि जब तक विषयभोग करने की आकुलता नहीं होती है तब तक कोई विषयभोग में नहीं पड़ता है। चाह की दाह का उठना एक तरह का रोग है। विषयभोग करना इस रोग के शमन का उपाय नहीं होकर तृष्णा के रोग की वृद्धि का ही उपाय है। बड़े बड़े चक्रवर्ती राजा भी विषयभोगों के भोग से तृप्त नहीं हुये। इन्द्रियों के भोग पराधीन हैं, बाधा सहित हैं, नाशवन्त हैं व कर्मबन्ध के कारण हैं व समभाव के नाशक हैं।

संसार में दुःख घना है, इन्द्रिय सुख का लाभ थोड़ा है। तौ भी इस सुख से संतोष नहीं होता है। आत्मा स्वभाव से परमात्मा रूप है, ज्ञानानन्द का सागर है, परम निराकुल है, परम वीतराग है, ऐसा होकर भी आठ कर्मों की संगति से इसको महान् दीन दुखी व तुच्छ होना पड़ता है। जिसकी संगति से अपना स्वभाव बिगड़े, दुर्गति प्राप्त हो, जन्म मरण के कष्ट हों उनकी संगति त्यागने योग्य है। इन कर्मों

के बंध का कारण रागद्वेष मोह है। इसलिये रागद्वेष मोह ही संसार के भ्रमण का बीज है।

इसीलिए आचार्य प्रगट करते हैं कि मुझे संसार से भय है अर्थात् मैं रागद्वेष मोह के विकार से भयभीत हूँ, मैं इनमें पडना नहीं चाहता हूँ, तथा नये कर्मों का संवर होने के लिए व पुरातन कर्म की निर्जरा होने के लिये आचार्य ने अपने आत्मा को ही वीतराग भाव में लाने के लिये आत्मा के सार तत्व की भावना की है—प्रगट किया है कि यह आत्मा निश्चय से संसारी नही है, यह तो स्वयं परम शुद्ध परमात्मा देव है। इसी का ही बार-बार अनुभव करना चाहिये। इसी में रमण करना चाहिये।

आत्मीक आनन्द का ही स्वाद लेना चाहिए। निराकुल अतीन्द्रिय सुख को भोगना चाहिये। आत्मा का दर्शन करना चाहिये। इस ग्रन्थ के भीतर आचार्य ने इसी शुद्ध आत्मा की भावना करके अपने आत्मा का हित किया है। अध्यात्म तत्व का विवेचन परम हितकारी है, आत्मीक भावना का हेतु है।

यद्यपि ग्रन्थकर्ता ने अपने ही उपकार के लिये ग्रन्थ की रचना की है तथापि शब्दों में भावो की स्थापना करने से व उनको लिपिबद्ध करने से पाठकों का भी परम उपकार किया है। इस ग्रन्थ को इसी भाव से पढ़ना व मनन करना चाहिये कि हमारा संसार नाश हो अर्थात् संसार का कारण कर्म व कर्मबन्ध का कारण राग, द्वेष, मोह भावो का नाश हो व मोक्ष के कारण स्वानुभव का लाभ हो। परमात्मतत्व की ही भावना रहे। आत्मा का ही आराधन रहे। समभाव मे ही प्रवृत्ति रहे। शांतरस की ही धारा बहे। उसी धारा के भीतर मगनता रहे। आनन्दामृत का ही पान रहे। सिद्ध सुख का ही उद्देश्य रहे, शिवालय के भीतर प्रवेश करने की भावना रहे।

यही भावना अमृतचन्द्राचार्य ने **समयसार कलश** में की है—

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा—
दविरतमनुभाव्य व्याप्तिकल्माषितायाः।

मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्ते—
र्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः ॥३॥

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि निश्चय से मैं शुद्ध चैतन्य मात्र मूर्तिका धारी हूँ, परन्तु अनादिकाल से मेरी अनुभूति विभाव परिणामों की उत्पत्ति के कारण मोहकर्म के उदय के प्रभाव से रागद्वेष से निरन्तर मैली हो रही है। मैं इस समयसार ग्रंथ का व्याख्यान करके यही यांचना करता हूँ कि यही मेरी अनुभूति परम शुद्ध हो जावे, वीतरागी हो जावे, परम शांतरस से व्याप्त हो जावे, समभाव में तन्मयता हो जावे, संसारमार्ग से मोक्षमार्गी हो जावे।

मंगलमय अरहन्त को, मंगल सिद्ध महान।
आचारज पाठक यती, नमहुं नमहुं सुख दान॥
परम भाव परकाश का, कारण आतमविचार।
जिस निमित्त से होय सो, वंदनीक हरबार॥

—: ० :—

टीकाकार की प्रशस्ति

युक्त प्रान्त में शुभ नगर, नाम लखनऊ जान ।
अग्रवाल वंशज बसें, मंगलसेन महान ॥१॥
जिनवाणी ज्ञाता सुधी, समयसार रस पान ।
करत करावत अन्य को, करत भव्य कल्याण ॥२॥
तिन सुत मक्खनलालजी, गृही कार्य लवलीन ।
तिन सुत वर हैं वृद्ध अब, सन्तलाल दुख हीन ॥३॥
तृतिय पुत्र हूं नाम है, 'सीतल' धर्म प्रसाद ।
विक्रम उन्निस पैंतिसे, जन्म भयो दुख बाद ॥४॥
बत्तिस वय अनुमान में, गृह त्यागा वृष काज ।
श्रावक चर्या पालते, भ्रमण करत पर काज ॥५॥
वायु कम्प के रोग से, पीड़ित चित्त उदास ।
तदपि आत्मरस पान का, मन में हो उल्लास ॥६॥
योगसार इस ग्रन्थ का, भाव लिखन के काज ।
प्रतिदिन दोहा एक को, नियम किया हित साज ॥७॥
शतक एक अर आठ दिन, पूर्ण भये सुखदाय ।
मुम्बई क्षेत्र अगास में, नगर बड़ौदा पाय ॥८॥
तीन जगह के वास में, करो सफल यह काम ।
मुम्बई नगर विशाल में, पूर्ण कियो अभिराम ॥९॥
अषाढ़ कृष्णा बारसी, मंगल दिवस महान ।
सम्वत् उन्निस छयानवे, कीयो पूर्ण लिखान ॥१०॥
उन्निस उन्चालिस मे, जून त्रयोदश जान ।
भजन करत परमात्मका, मंगल पढ़ा महान ॥११॥
मंगल श्री जिनराज हैं, मंगल सिद्ध महान ।
साधु सदा मंगल मई, करहु पाप की हान ॥१२॥

॥ इति ॥

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	११	का	को
६	३	लोह	मोह
६	२२	हैं	मैं
६	२२	क	को
७	५	ध्यान	ध्याय
७	६	परमित	परिमित
७	११	बाधते हुए	बांधकर
७	२३	आर्जिका	आर्यिका
१०	२०	चानकर	जानकर
१२	१३	इमलिए	इसलिये
१३	२४	उसवा	उनका
१४	२४	देती	देती है
१६	१०	मात्र	भाव
२०	५	वैतन्य	चैतन्य
२०	२७	अपना ही	अपना मानना ही
२१	१०	विभागो	विभावो
२१	१५	मिलना	होना
२२	४	चितव	चितन
२२	१४	आत्मा के	उपर
२२	१६	नित्न	भिन्न
२३	३	जो-फल	जो जो फल व
२३	४	सबकी	सबही
२३	१६	आत्मा का	आत्मा
२४	११	विचार	विकार
२४	१८	विच्छदे	विच्छदे
२५	५	ममूह	समूह

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२६	५	आत्मा का	आत्मा
२६	१५	ति-यरो	तिपयरो
२६	१६	बर्गरू	बाहिरू
२८	१६	पर्यायों में	पर्यायों के
२८	२४	जो	तो
३३	६	फल है	फल देता है
३५	१२	उममें	उसमें
३६	७	सन्ताप	सन्तान
३६	२५	नही हूँ	हूँ
३६	२६	हूँ	नहीं हूँ
३६	२८	कार्यों में	कार्यों से
३७	६	समझे	समझे उसे शुद्ध नय जानो
३७	८	है	है जैसे कमल जल से निर्लेप है।
३७	६	जैसे...है	(पंक्ति ८ का अंश)
३८	६-१०	अतर्मुहूर्त के जिए	(यह नहीं होगा)
३८	२५	भाव का	भाव मैं
४०	६	डरममप्पा	परममप्पा
४१	८	किया	किया जा
४१	२०	मांसादि	मांसादि में बन जाना या विष
४३	१८	सप्थहि	सत्थहिं
४३	२२	निप्वं	नित्यं
४३	२३	या	व
४४	२०	मुणेह	मुणेइ
४४	२१	ममेह	भमेइ
४५	११	मे	से
४६	४	मद को	मंद उदय को
४६	१६	अकुशलता	अकुशलताकारी
४७	११	पूर्ण नहीं	पूर्ण ज्ञान नही
४७	२५	स्वकर्मभावैः	स्वकैर्भावै

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४८	१	या व्यवहार	(नहीं होगा)
४८	४	आत्मानन्दमयी	अज्ञानमयी
४८	५	स्वयं होकर	स्वयं कर्मरूप होकर
४८	६	परिण रता	परिणमन करता
४८	२५	हैजीव	हे जीव
४६	२२	ही	भी
५४	१२	करना	करता
५४	१६	उसको	उसका
५५	१	सम्यक्त	सम्यक्ती
५५	१५	में	से
५५	२३	उसका	को जो
५५	२४	उसे	(नहीं होगा)
६१	१७	निमित्त	निमित्त न
६३	१२	प्रवृति	निवृत्ति
६३	१४	की	को
६३	२६	मे	से
६५	४	भात्र	भाव
६६	१३	रहित से	रहित तप से
६६	१६	शुद्धोपवोग	शुद्धोपयोग
६७	३	साधन	कारण
६७	१७	करना	करना चाहिए
६७	१७	केवलपुण्यबंध	यह नहीं होना चाहिए
६८	२४	स्वरूप	स्वाद
६६	१२	को ही	को नहीं
६६	१४	तप कर	तप क्या कर
६६	१५	सकता	सकते
६६	१५	क्लेश	कायक्लेश
७०	१८	निमित्त	वह निमित्त
७१	१६	सर्वार्थसिद्धि	इसके लिए सर्वार्थसिद्धि

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७२	११	सकना	सकता
७२	१७	श्रवक	श्रावक
७४	३	णिदच्छइणइ	णिच्छइणइ
७४	१४	परमात्मा…है	परमात्म बनने की शक्ति वाला है
७४	१६	लहहिं	लहदि
७४	२३	शुद्ध आत्मा	आत्माशुद्ध
७७	४	तक	एक
७८	२७	मनपर्यय	मनपर्यय एकदेश प्रत्यक्ष
७८	२७	केवलज्ञान	केवल प्रत्यक्ष है
७९	८	सात भेद	सात संयम मार्गणा के
८२	१६	होता है पर…	होता है व छह के उदय न होने से केवल सम्यक्त प्रकृति के उदय से वेदक सम्यक्त होता है।
८५	७	प्रत्याख्यान	अप्रत्याख्यान
८५	१६	मिथ्यात्व	सम्यक्त्व
९०	३	आयिका	आर्यिका
९१	१	मात्र	प्रमाण
९२	४	अन्य	अन्य कार्य
९२	२२	चित	चिंत
९४	१	का	का काम
९९	२५	चन्द्रमा में	चन्द्रमा के
१०४	२०	वही	नही
१०५	२७	समता	ममता
११०	७	असंख्यात	असंख्यात से
११०	२५	रागादि	रोगादि
१११	१	न करते	करते
१११	१७	संयम	संशय
११२	१७	चउरानी	चौरासी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२०	१३	सो	सौ
१२१	१६	दिक्कुकुमार	दिक्कुमार
१२१	१८	कल्पना करके	कल्पना न करके
१२३	७	अध्याय	अभ्यास
१२७	७	३१	३२ नं० का दोहा हिन्दी का
१२६	५	३२	३३ नं० का दोहा ,,
१३१	१६	३३	३४ नं० का दोहा ,,
१३१	२२	मोक्ष	मोक्ष का
१३४	२	का सर्व	का
१३४	१४	निर्विकल्प	उसका निर्विकल्प
१३४	२७	स्मरण	रमण
१३५	१३	मीतर	भीतर
१३५	१५	दो हूँ,	दो हूं, न बहुत हूँ
१३८	२४	ज्ञाना-वरणादि	ज्ञानावरणादि
१३६	२२	३६	३७ नं० का दोहा हिन्दी का
१४०	७	मिलकर	मिलाकर
१४१	२५	सम्यय्	सम्यक्
१४२	५	३७	३८ नं० का दोहा हिन्दी का
१४२	१२	आस्रव	आश्रम
१४२	१३	पदार्थ का	पदार्थ
१४२	१७	लगने	लगाने
१४३	२	परियह	परिग्रह
१४३	१३	धर्म ही	ही धर्म
१४४	२५	जीव विमाव	जीव में विभाव
१४७	५	३६	४० नं० का दोहा हिन्दी का
१५१	८	आक्षात्	साक्षात्
१५२	१५	४१	४२ नं० का दोहा हिन्दी का

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५४	२२	४२	४३ नं० का दोहा हिन्दी का
१५७	२२	४३	४२ नं० का दोहा हिन्दी का
१५८	१५	आत्मा के द्वार	आत्मा
१६०	१०	४४	४३ नं० का दोहा है
१६४	१	यही करता है	नही करता है
१७०	५	शुभ	व शुभ
१७०	७	धर्प	धर्म
१७०	१०	या अशुभ	अशुभ
१८६	१६	कम हो की	कम होने की
१९१	१७	संयोय	सयोग
१९२	४	जाता है	जाता है वही आत्मा का दर्शन करता हुआ निर्माण का स्वामी हो जाता है।
१९३	११	समभाव	समभाव रहना
१९३	१३	से हानि करना	करना
१९४	८	निश्चय	निश्चल
१९८	११	सुवर्ण	असग
१९८	१२	तब	जब
२०१	६	रखते	करते
२०४	६	की	को
२०४	१२	प्राणियों में	प्राणियों से
२०५	२१	सम	शम
२०६	२	असीरु	असरीरु
२०८	१४	जड़	चेतन
२०८	१४	को	के
२०८	२०	मुणंतहँ	मुणंतयहँ
२१०	१२	में	से

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२१०	२८	हो जाता	को पाता
२१५	१६	विदा देता	ध्याता
२१६	१	जिनको	जिनके
२१७	१	सड़क महल	सड़क मोक्ष महल
२१७	६	बतलाते	पालते
२१७	११	हर एक	श्रावक
२१६	१	तो	तब
२१६	१७	का	को
२२०	१४	अपना	अपना ही आप
२२०	२४	धारण करते हैं (के बाद)	विचार करते है जिनके
२२१	५-६	भेद···जाने	(पाठ नहीं है)
२२१	६	बराबर	बार-बार
२२२	१५-१६	बाल्यावस्था ···है	(पाठ नहीं है)
२२३	१७	को	में
२२५	३	पड़ता है···	पड़ता है । इन्द्र व देव को भी देव-गति के भोग त्यागकर मध्य लोक में जन्म लेना पड़ता है ।
२३३	८	करूँ ।	करूँ—सिद्धों से प्रेम करूँ ।
२३३	१७	छुड़ाना	छोड़ना
२३४	१२	विघठन	विघटन
२३४	१६	या	का
२३७	८	शास्त्रज्ञान	शास्त्र-ज्ञान
२४१	२२	कर्म	कार्य
२४३	१	कर्प	कर्म
२४७	२२	ही	(निकाल दें)
२५१	८	का निमित्त	के निमित्त से

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२५१	२१	पर	पर को
२५२	१५	स्वानुभू	स्वानुभूति
२५२	१८	समंतत्	समंतात्
२५२	१९	समदमयशेषै	शमदमयशेषै
२५३	४	णिवुत्तु	णिरुवुत्तु
२५६	११	को	से
२५६	२५	करते हैं	करते हैं सो रसपदित्याग है
२५६	२६	शरीर की	साधु शरीर की
२५७	२६	स्वानुभाव	स्वानुभव
२५६	२७	सो…है	(पाठ न पढ़ें)
२५९	८	त्यागी	(नही है)
२५९	२५	बढ़ता	घटता
२६०	१	गमन	वहिर्गमन
२६०	४	तब	अब
२६०	८	तात्पर्य	तात्पर्य यह है
२६०	१६	हो	ही
२६१	५	८३	८४ नं० का हिन्दी का
२६१	२५	उनसे	उसमें
२६१	२७	का	(नही है)
२६२	११	से	में
२६२	१७	निमित्त	(नहीं है)
२६३	१९	८४	८३ नं० का हिन्दी का
२६७	१०	कर्मों ··वे	(नहीं है)
२६७	१७	आत्मा से	आत्मा ने
२७१	२	सह	सहज
२७२	५	में	में यह
२७७	१२	आत्मनुभव	आत्मानुभव
२७७	१९	प्रजिमा	प्रतिमा

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२७७	२२	रमण	रमणता
२७८	१५	६०	६१ नं० का हिन्दी का
२८१	६	६१	६० ,, ,,
२८२	६	नहीं है	है
२८२	१७	अनंतानुबर्न	अनंतानुबंधी
२८३	११	का	को
२८६	७	सब	सम
२८८	१४	नाश	नाच
२९०	१७	मन जल	मन में जल
२९०	२६	तथा	कि
२९३	२	हेतु का	का हेतु
२९४	१२	रक्षा का	रक्षा के
२९४	१३	जब असाता	जब साता, असाता
२९७	१	पर	से
२९९	१२	कमल के ऊपर	कमल के बीच में हँ अक्षर लिखा है, दूसरा कमल हृदय स्थान में नीचे के कमल के ऊपर
२९९	१२	बिचारे	बिचारे, जिन पर आठ कर्मों के नाम लिखे हैं।
२९९	१४	लगा	लगी
३०२	१२	वृक्षलत	वृक्षतल
३०३	२४	मिथ्या दृष्टी शरीर	मिथ्यादृष्टी अज्ञानी शरीर
३०४	१६	जान र	जानकर
३०४	१७	किसी कार्य	सभी कार्यों
३०५	३	में	से
३०७	१	हिंसा	सभी प्रकार की हिंसा

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३०८	१०	स्वाध्याय करना	स्वाध्याय करना—प्रत्याख्यान
३११	२०	सूक्ष्म या	सूक्ष्म सांपसय
३१४	८	चारित्रवान	चारित्र
३१४	१०	जो	ऐसे जो
३१५	१८	मुयुक्षुणा	मुमुक्षुणा
३१७	१४	ज्ञातादृष्टा स्वभाव से	स्वभाव से ज्ञाता दृष्टा
३१८	६	परमात्म	वे परमात्मा
३१८	६	वे हर एक	हर एक
३१९	१	आत्मा । है	आत्मा है
३१९	३	हुआ	हुआ है
३१९	५	स्वपरूप	स्वरूप